सम्पादक और प्रकाशक
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, बम्बई।







मुद्रक—
जी. एन. कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
नं० ४३४ ठाकुरद्वार, बम्बई।

नाटकके पात्र ।



पुरुष ।

भोलानाथ	...	...	..	जमींदार ।
भगवानदास	...	...	...	सरस्वतीका पति ।
दीनानाथ	..	...	...	लक्ष्मीका बूढा परोसी और भोलानाथका बाल्य-बन्धु ।
प्रेमशकर	...	...	...	सरस्वतीका मामा ।
कालीचरण	...	...	...	एक मौजी बेकार आदमी ।
गौरीनाथ	...	...	...	महाजन ।
शिवदयाल, कामताप्रसाद		...	...	गौरीनाथके मित्र ।

स्त्री ।

लक्ष्मी	...	...	...	भगवानदासकी मा ।
सरस्वती	...	...	...	भोलानाथकी पोती ।
हीरा	...	...	...	एक कुलत्यागिनी स्त्री ।
मुन्नी	...	...	...	वेश्या ।

वक्तव्य ।



प्रिय पाठकगण, कविवर और सुलेखक स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल रायका नाम इस समय हिन्दीसाहित्यससारमें सुपरिचित हो गया है । उनकी प्रभावशालिनी लेखनीसे निकले हुए कई उत्तमोत्तम नाटकोंका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है और वे नाटक हिन्दीसाहित्यके पाठकोंके चित्त पर अपना गहरा प्रभाव डाल चुके हैं। 'परपारे' नामका नाटक भी उक्त प्रतिभाशाली महाशयका लिखा हुआ है। उसके इस हिन्दी अनुवादके सम्वन्धमें मुझे इतना निवेदन करना है कि मूलग्रन्थमें पात्रोंके जो वगाली नाम थे वे वदल दिये गये हैं । एक और परिवर्त्तन किया गया है। मूलग्रन्थमें वगालियोंकी वहाँकी प्रथाके अनुसार दादा और पोतीकी वडी गहरी दिल्लगी दिखाई गई है । हमारे हिंदी रग-मचपर उस दिल्लगीका होना भद्दा जान पडता। जैसे दादाका पोतीसे कहना कि "क्या तू मुझे पसद करती है? मुझे क्यों पसद करेगी? नई मूछोंके आगे वूढा कहाँ पसद आसकता है। " या "तू मुझे प्राणेश्वर कहकर पुकार।" या पोती और ननदमादकी एकान्तकी वातचीत सुनकर कहना कि "तोता खूव पढता है। पढो गगाराम। " इस तरहकी वातें निकाल डाली गई हैं। इस हृदयद्रावक सामाजिक नाटककी जो आलोचना एक वगभाषाके मासिक पत्रमें निकली है उसीके कुछ अशका भाव आगेके पृष्ठोंमें प्रकाशित किया जा रहा है । आशा है, उसे पढकर पाठकोंको इस नाटककी खूवियाँ समझनेमें सुगमता होगी। आलोचनाके अनुवादमें भी पात्रोंके वगाली नाम वदल दिये गये हैं। अन्यथा पाठकोंको असुविधा होनेकी सभावना थी।

—रूपनारायण पाण्डेय ।

समालोचना।

'परपारे' कविवर द्विजेन्द्रलाल रायका लिखा हुआ नया सामाजिक नाटक है। सुप्रसिद्ध 'स्टार थियेटरमें' यह खेला भी जा चुका है। सामाजिक नाटक कहनेसे लोगोंके मनमें 'सरला,' 'प्रफुल्ल' और 'बलिदान' का खयाल आप-ही आप आ जाता है (ये तीनों बंगलाके अच्छे सामाजिक नाटक हैं)। सर्व साधारणका विश्वास है कि जहाँ यौवन-विवाह अप्रचलित है, स्त्रियोंकी स्वाधीनताका अभाव है, उस समाज और देशमें मातृ-विरोध, कन्या-विवाहकी कठिनाइयाँ और वेश्यासक्ति आदि घटनाओंके सिवा सामाजिक नाटककी सामग्री और क्या हो सकती है? किन्तु 'परपारे' उस श्रेणीका नाटक नहीं है यह कविकी प्रतिभाकी बिलकुल ही नई सृष्टि है। शिल्पचातुर्य, सूक्ष्म चरित्रविश्लेषण और परस्परविरुद्ध प्रवृत्तियोंके घात-प्रतिघातसे इस उत्कृष्ट नाट्य-काव्यकी रचना हुई है। जो नाटककार मनुष्यप्रवृत्तिके प्रबल घात-प्रतिघातोंको परिस्फुट रूपसे दिखा सकता है वही कृती कहा जा सकता है। इस नाटकमें एक ओर जैसे स्नेह, कृतज्ञता, क्षमा और त्यागके भाव हैं, वैसे ही दूसरी ओर कृतघ्नता, अत्याचार, कपट, निठुराई और हत्या आदिके भाव हैं। मालूम नहीं, इससे पहले बंगदेशके रंगमंच पर स्वर्गके साथ नरकका ऐसा घोर संग्राम कभी दिखाया गया है या नहीं। यह दृश्य शब्दोंके द्वारा समझानेका नहीं है यह देखनेकी, समझनेकी, आँखें मूँदकर हृदयकी हरएक तहसे अनुभव करनेकी चीज़ है।

संक्षेपमें नाटकका कथाभाग यह है। भोलानाथ एक उच्च शिक्षित, परोपकारपरायण, स्नेहशील, उदार, धनी, जमींदार है। वह दीन-दरिद्रोंके मुखपर क्षीण हँसीकी रेखा देखनेके लिए सर्वदा उत्सुक रहता है, दूसरोंका दुःख और दीनता दूर करनेमें अपना सर्वस्व भी लगा देनेके लिए तैयार रहता है। उसके संसारमें पोती सरस्वतीके सिवा और कोई नहीं है। इसीसे उस सफेद बालोंवाले बूढ़ेने अपने हृदयके अधार स्नेहकी पात्री सुन्दरी पोतीको किसी सत्पात्रके हाथमें देकर जीवनके सन्ध्याकालको सुखसे बितानेका विचार करके,

वहुत ढूँढ खोजके वाद भगवानदासके साथ उसका व्याह कर दिया। विवाहित जीवनकी प्रथम अवस्थामें युवक-युवतीके प्रणयचित्रको देखकर पोतीको ही अपना सर्वस्व और प्राण समझनेवाले भोलानाथके हृदयमें आनन्दका उच्छ्वास किस तरह नाचता है, लहराता है और हृदयमें नहीं समाता है, सो देखनेकी चीज है, वर्णनकी नहीं। प्रणयकी प्रथमावस्थाके उस मधुर उज्ज्वल चित्राकनके ऊपर कोई रग चढाकर उसे और भी उज्ज्वल वनानेकी अगर चेष्टा की जाती, तो शायद उस चित्रकी मनोहरता ऐसी न रह जाती। इसके उपरान्त एक ओर वसन्त ऋतुके गंगाजलके समान साध्वी हिन्दूललनाका पवित्र प्रेम दिखाया गया है, जिसमें प्रवलता है, पर गदलापन नहीं है; जिसके लिए हिन्दू रमणी हसते हॅसते ससारके सव तरहके अत्याचार, अविचार और उत्पीडनोंको सह लेती है लेकिन कर्त्तव्यको नहीं छोडती, वैसे ही दूसरी ओर भादोंकी भरी हुई नदीके जलकी तरह भगवानदासकी पकिल, कलुषित, उद्दाम, उच्छ्वासमय रूप-लालसा है, जो सयमके वन्धनको नहीं मानती, कर्त्तव्यके प्रभुत्वको स्वीकार नहीं करती। विशुद्धप्रेम मनुष्यको देवता वना देता है; लेकिन लालसा उसे पशुसे भी अधम वना देती है।

इसीसे मातृगतप्राण भगवानदास सुन्दरी सरस्वतीको व्याह कर लानेके वाद उसे घरके कामकाज करनेमें लगानेके कारण मातासे लडा झगडा, और इस प्रकार निर्मम तिरस्कार करनेके वाद माताको छोडकर चला गया। वहुत दिन वीत गये, उसकी वीमार मा जिस समय उसके आनेकी आशासे द्वार पर वैठी हुई आधी राततक प्रतीक्षा करती थी उस समय भी वह माताको देखने नहीं आया। सरस्वती जव उसकी माकी वीमारीका हाल सुनकर उसे माताके पास जानेके लिए वारंवार कहती है—तिरस्कार करती है—तव वह सुन्दरी रमणीके चरणोंके पास वैठकर कामसेवा करता है। पहले सरस्वतीसे माताकी वीमारीका हाल छिपाना, फिर इधर-उधर करना, फिर कर्तव्यपरायण सरस्वतीके उपदेशका प्रतिवाद करना—यह कर्त्तव्य-ज्ञान-हीन रूपजनित मोहकी चरम दुर्दशा है। इससे भगवानदासके भीषण भविष्यका आभास पाकर सरस्वती कॉप उठती है। एक साथ मनुष्य-चरित्रका ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण, पाप और पुण्यका घात-प्रतिघात और क्रमविकास, वंगभापाके साहित्यमें कमसे कम मैंने तो कहीं नहीं देखा।

कुआँ खोदनेवाला जैसे धीरे धीरे नीचे ही उतरता जाता है वैसे ही भगवानदास भी अपने किये हुए पापके भारी भारसे अवनतिके फिसलनेवाले सोपानके द्वारा बहुत शीघ्र नीचेकी तहमें पहुँच जाता है। वह उछाले गये पत्थरके टुकडेकी तरह—अपनी कक्षासे भ्रष्ट हुए ग्रहकी तरह—आकाशसे गिरते हुए नक्षत्रकी तरह कैसे बाधाहीन, विश्रामहीन ढगसे तेजीके साथ नीचे गिरता है—यह बात बडी ही खूबीके साथ दिखाई गई है। भगवानदासके कल्याणकी कामना करते करते उसकी माताकी अन्तिम श्वास—प्राणवायु—आकाशमें जाकर लीन हो गई। इतने पर भी भगवानदासको होश नहीं हुआ। उसके उपरान्त, ऐसी अवस्थामें जो होता है वही हुआ। सरस्वतीके रूपके कुम्हलानेके पहले ही भगवानदास मुन्नी नामकी वेश्याके रूप पर रीझ गया। मदिरा और वेश्याके संगमें उसके ददिया ससुरका दिया हुआ धन उडने लगा। उधर बिना चिकित्साके उसका शिशुपुत्र मर गया। उपेक्षिता और शोकमें व्याकुला माध्वी स्त्री पददलित और डालसे गिरे हुए कमलकुसुमकी तरह मिट्टीमें पडकर सूखने लगी। सफाई न होनेसे लक्ष्मीका बहुयत्नरक्षित घर भी कूडेसे भर गया, क्योंकि उसे देखनेवाला और सफा करनेवाला कोई नहीं रहा। अन्तको घरकी ऐसी अवस्था हुई कि उसे देखकर जान पडता था, मानों वहाँ मूर्तिमान अभाग्य उल्लासके साथ नृत्य करता हुआ फिर रहा है और एक विराट् हाहाकार मूर्च्छित होकर पडा हुआ है।

आधे पेट खाकर, मैले कपडे पहनकर, जमीन पर पडे पडे रोती हुई सरस्वती धीरे धीरे जीवनके दिन बिता रही थी। अंगोंमें आभूषण न थे—बालोंमें तेल न था, देहमें लावण्य न था, मुँहमें हँसी न थी। थी केवल दीप्तिहीन उदास नेत्रोंमें अविराम आँसुओंकी झडी। भोलानाथने पोतीके खर्चके लिए जो पाँचसौ रुपयेका महीना नियत कर दिया था वह यथासमय पहुँच जाता था। परन्तु वे रुपये [illegible] भगवानदासके हाथों वेश्याके श्रीचरणोंमें पहुँच जाते थे। सती हिन्दूललना सरस्वती कर्तव्यका खयाल करके, भाग्यका दोष मानकर चुपचाप मुख पर जरा भी मलिनता लाये बिना सब सह रही थी। यह यातना उसने कभी किसी तरह अपने वृद्ध दादा तक नहीं पहुँचने दी। इस भयसे कि कहीं दादा उसके दुःखका हाल जानकर दुःखित होकर उसे उसके पतिके [illegible] ले न जाय, भगवानदासका महीना बन्द न कर दें। लेकिन भोलानाथके

बाल्यबन्धु दीनानाथसे यह नहीं सहा गया। उन्होने एक दिन जाकर भोला-नाथसे सब हाल कह दिया। सरलहृदय भोलानाथ दीनानाथसे यह समाचार सुनकर सन्नाटेमें आगये। वे किसी तरह यह विश्वास नहीं कर सके कि सरस्वतीकी ऐसी दुर्दशा हो सकती है। वे कहते हैं-यह क्या! सरस्वतीको छोडकर एक वेश्या पर भगवानदास आसक्त हो गया है। वह तो सरस्वतीको बहुत प्यार करता था! सरस्वतीको प्यार किये विना क्या कोई रह सकता है!—इसके बाद एक असीम विषाद आकर उनके हृदय पर अधिकार कर लेता है। बीते हुए सुखकी याद आती है। एक साल विजयादशमीके दिन शरद ऋतुकी शान्त सन्ध्यामें उन्होंने आडमे रहकर बागके बीच नवदम्पतिकी प्रेमलीला देखी थी। उसके वर्णनमें उनके चित्तका स्नेहपूर्ण वह भाव कैसे मधुर मर्मस्पर्शी ढगसे प्रकट हुआ है! एक साथ विभिन्न मनोवृत्तियोंका कैसा विशुद्ध मनोहर चित्र खींचा गया है!

इसके बाद भोलानाथ अपनी पोतीके उद्धारका संकल्प करके अपने चिरसगी भवानीप्रसाद और बाल्यबन्धु दीनानाथको लेकर घरसे निकलते हैं और सहसा भगवानदासकी वेश्याका पता लगानेके लिए चलते है। उनकी इच्छा हुई कि एक वार अपनी आँखोंसे भगवानदासकी वेश्याको देखें और अगर वह सरस्वतीसे अधिक सुन्दरी होगी, तो वे उसे "ठाकुरद्वारेके आलेमें रख देगे।" यह कविका चरम कवित्व है। और भी कोई स्त्री उनकी पोतीसे वढकर सुन्दरी है, या सुन्दरी हो सकती है—यह बात उनकी धारणसे परे है। इसीसे शिक्षित, धार्मिक, कर्त्तव्यपरायण, सौन्दर्यके उपासक भोलानाथने यह भाव प्रकट किया कि वह यदि सरस्वतीसे वढकर सुन्दरी होगी तो हम सब सृष्टिसे वढकर सृष्टि-सौन्दर्यके सारसौन्दर्य उस रमणीके रूपको दूरसे भक्तिपूर्वक सिर झुकाकर विस्मयपूर्ण दृष्टिसे देखकर अपने मन और नयनोंको चरितार्थ करेंगे—पवित्र करेंगे। किन्तु वह रूपलालसाके स्पर्शसे मलिन न हो जाय, उसकी पवित्रता न जाती रहे, इसी लिए वे पवित्र ठाकुरद्वारेका अत्यन्त पवित्रस्थान उसके लिए निर्दिष्ट करते हैं। रमणीके रूपको इस तरह भक्तिकी दृष्टिसे देखना द्विजेन्द्र-लाल ऐसे प्रतिभाशाली श्रेष्ठ लेखकका ही काम है। शायद बहुतसे लोगोंको भोलानाथकी यह उक्ति पागलपन या शोकातुर विकृत-मस्तिष्क वृद्धका असम्बद्ध प्रलाप जान पडेगी, किन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। यह स्वधर्मनिष्ठ विमलचरित्र भोलानाथके मनोभावका केवल एक प्रतिविंब है।

भोलानाथने उस वेश्याको देखा, उसका स्वर सुना। देख कर उन्होंने जान लिया कि वह बेशक सुन्दरी है। मगर उनकी " सरस्वतीसे बढ़कर नहीं। " इस " सरस्वतीसे बढ़कर नहीं " में उनकी कितनी स्नेह-दुर्बलता है और कितना अन्ध-पक्षपात है—सो कौन कह सकता है।

अन्तको भोलानाथ सुखी वेश्याको पाँचसौ रुपयेका महीना देकर दूसरी जगह डाल देनेका प्रबन्ध करके चले गये। इधर भगवानदास भवानीप्रसादके मुखसे सुखीके भागने और छिनजानेकी बात सुनकर क्रोधसे काँपता हुआ अपने घर लौटकर गया। उस समय सरस्वती पृथ्वी पर पड़ी हुई, आकाशकी ओर ताकती हुई, मन-ही-मन बीती बातोंकी आलोचना कर रही थी। वह एक एक करके बचपनकी स्मृतिके मधुर चित्रोंको, अमावसकी रातके अन्धकारके पर्दे पर, बायस्कोपके चित्रोंकी तरह, अस्पष्टभावसे आते जाते देख रही थी। बारबार गहरी लम्बी साँस छोड़नेसे जान पड़ता था, जैसे उसका हृदय टुकड़े टुकड़े हुआ जा रहा है। समालोचनामें उस मधुर मर्मभेदी दृश्यके वर्णन करनेका प्रयास विडम्बनामात्र है। उस दृश्यको देखकर हृदय आप-ही आप आँसुओंकी धारसे गल जाता है। इसीसे सुखी जब सरस्वतीके घर आई, तब सरस्वतीकी दशा देखकर उसके सिर पर मानो गाज गिर पड़ी। वह चौंककर विस्मयसे कह उठी—" यही सती है!—मुख पर कैसी ज्योति है, मस्तक पर कैसी महिमा झलक रही है—जैसे पर्वतकी जड़में प्रभातमण्डित, शान्त, स्वच्छ, सुन्दर झील हो! यह भूमि-शय्या जैसे सुवर्णका सिंहासन है, सिरहानेका आँचल हीरेके मुकुटके समान झलक रहा है। यही सती है! शतानन्दा वसुधा! घुटने टेककर इस देवीके आगे हाथ जोड़। देवी, मेरी पूजा ग्रहण करो। " जैसे पारसपत्थर स्पर्श मात्रसे लोहेको सोना बना देता है, वैसे ही साध्वी सतीके सतीत्वके प्रभावसे दमभरमें वेश्या सुखीके भी हृदयका भाव बदल गया। सुखी जाने भी न पाई थी कि भगवानदास खूब शराब पिये लड़खड़ाता हुआ घरमें आया, और हरजाईके लिए सरस्वतीके ऊपर घोर अत्याचार करने लगा। सुखी झपटकर दौड़ आई और उसने भगवानदासको वैसा करनेसे रोका। भगवानदासके हाथमें रिवॉल्वर थी। भगवानदासकी गोली लगनेसे सुखी धड़ाम होकर गिर पड़ी। " यह क्या! मैंने खून कर डाला! " इस प्रकार सोचकर भगवानदास भाग गया।

अव पुत्रशोकसे पीड़ित, पतिके द्वारा त्यागी गई, सरस्वती हत्याके अपराधमे भागे हुए आसामीकी स्त्री है। किसीने स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि अन्तमे उसकी यह दशा होगी। वह फिर अपने दादाके घर आगई है। किन्तु इस समय मानो ये पाठकोंके पूर्वपरिचित सरस्वती और भोलानाथ नहीं हैं। मानो दो ऊपरसे वद और भीतर-ही-भीतर जलते हुए ज्वालामुखी पहाड है! वाहर हरी घासके समान हरी देख पडती है, लेकिन भीतर दिनरात दारुणज्वाला प्रज्वलित है। सदा खटका लगा हुआ है कि न जाने किस घडी किस छिद्रसे वह भीतरकी आग प्रवल वेगसे वाहर निकल पडे। इसीसे छिद्रके मुखको वद करनेकी चेष्टामे लगातार दोनोंके हृदय टुकड़े टुकडे हो रहे हैं। यह दृश्य कैसा करुण और मर्मस्पर्शी है! ऐसे गहरे दु खमें ऐसी समवेदनाकी हँसी केवल 'किंग लियर' में ही देखनेको मिलती है। उसके वाद भागा हुआ हत्याका अपराधी भगवान-दास दादाजीके यहाँ आश्रय माँगने आता है। वागमें सरस्वती अकेली थी। भगवानदासको देखकर वह पहले तो सन्नाटेमें आ जाती है, लेकिन कुछ देर सोचकर वह उत्तर देती है कि "ना—तुम चाहे जैसे हो, मेरे स्वामी हो! मैं अपने कर्त्तव्यका पालन करूँगी।" इस प्रकारके आदर्श स्त्री-चरित्र साहित्यमें वहुत ही कम हैं। भोलानाथने आते ही भगवानदासको देखकर शीघ्र ही वहाँसे चले जानेके लिए कहा। सरस्वतीने हाथ जोडकर घुटने टेक-कर दादासे स्वामीके लिए क्षमाकी प्रार्थना की। मगर भोलानाथ कोमलहृदय, सन्तानवत्सल और स्नेहशील होने पर भी कर्त्तव्य-परायण थे। उन्होंने स्नेह-के चरणोंमें कर्त्तव्यकी वलि देना अस्वीकार करके कहा—"सव समझता हूँ, लेकिन यहाँ चोरी-छिप्पा कुछ न होगा। जिन्दगी भर सीधी राहसे चला आया हूँ, इस समय स्नेहके लिए टेढी राह नहीं चलूँगा।" यहाँ स्नेहके साथ कर्त्तव्यका जैसा भीषण सग्राम हुआ है, वैसा सग्राम मेरी समझमें कभी दो लडनेवाली वीर जातियोंमें भी नहीं हुआ होगा। ठीक वैसा ही जैसे द्वापरके अन्तमे द्वैपायन ह्रदके किनारे भीमसेन और दुर्योधनका भीषण गदा-युद्ध हुआ था। घात-प्रतिघातसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही हैं। वार वार प्रचण्ड आघातसे चोट खाये हुए शोकजीर्ण दोनों हृदयोंमें गहरे दाग पडते जाते हैं; तव भी कोई अपने कर्त्तव्यके मार्गसे विचलित नहीं होता। प्रार्थना अनुनय-विनय सवको एक एक करके भोलानाथके कर्त्तव्यज्ञानकी प्रवल वहियाके आगे तृणके

समान वह जाते देखकर सरस्वतीने कहा--"तो फिर मुझे भी जानेकी आज्ञा दीजिए दादाजी!—वे चाहे जैसे हों, मेरे स्वामी हैं।" उस समय सरस्वतीने सोचा था कि अबकी उसके स्नेहदुर्बल दादाको अवश्य ही हार माननी पड़ेगी। किन्तु जो भोलानाथ जिन्दगी भर कर्त्तव्यके खयालसे ही अपने कर्त्तव्यका पालन करते आये हैं, उनके कर्त्तव्यपालनके मार्गमें वह अगाध असीम स्नेह भी बाधा न डाल सका। कर्त्तव्यकी आगमें स्नेह भाप बनकर उड़ गया। छाती फुलाकर, गर्दन ऊँची करके दृढ़ स्वरसे भोलानाथने कहा--"ओ--समझ गया, अच्छी बात है! तूने सोचा है बेटी कि तुझे मैं प्राणोंसे भी बढ़कर चाहता हूँ—इस लिए तेरे कारण अपने कर्त्तव्यकी राह छोड़ दूँगा। यह कभी न समझना। कर्त्तव्यके लिए मैंने बहुत कुछ छोड़ दिया है, तुझे तकको छोड़ दूँगा—उससे शायद हृदयके टुकड़े टुकड़े हो जायँगे—शायद पागल भी हो जाऊँगा,—लेकिन चाहे जो हो, मैं अपना कर्त्तव्य किये जाऊँगा। तो फिर जा बेटी, मैं तुझको भी बिदा करता हूँ—अगर तुझसे जाया जाय सरस्वती तो जा! जा,—अन्धा तो हो ही जाऊँगा--आँखो! अगर आँसू गिराओगी तो तुम्हें निकालकर फेंक दूँगा।"

उस समय सरस्वतीकी अवस्था 'न ययौ न तस्थौ' वाली थी। उस भावका वर्णन लेखनीके द्वारा किया ही नहीं जा सकता। कर्तव्य सरस्वतीके हृदयसे भगवानदासके साथ जानेके लिए कह रहा है, लेकिन दादाके प्रति प्यार उसके दोनो पैरोंको मानो जंजीरसे जकड़े हुए है। पैरोंमें हिलने-डुलने उठनेकी भी शक्ति नहीं है। उस दृश्यको देखकर आँसू नहीं रोके जा सकते। रोकनेसे आँसू फुहारोंकी तरह और भी प्रबल वेगसे सैकड़ों धाराओंसे आप ही बह चलते हैं।

और आगे कहनेके पहले सरस्वती और भोलानाथकी उस समयकी परि-[illegible] सम्बन्धमें कुछ कहना जरूरी जान पड़ता है। इसके आगे चौथे स्तबकमें [illegible] बहुत धैर्यके साथ दादाका जो [illegible] किया गया है, उसे पढ़नेसे [illegible] अपने-आप आ जाता है। लेकिन इस [illegible] वह कभी नया आती, [illegible] हृदयके [illegible]। हृदय मानो मस्तिष्क-सञ्चालनको बन्द करके [illegible] अविकारक प्रत्याशामें अवाक् होकर निर्निमेष दृष्टिसे ताकने लगता है। जान पड़ता है, कवि मानो अभिमानके और [illegible] मनुष्यके [illegible] पर्यालोचना कर रहा है। शायद

इसी धारणाके कारण इस चित्रके स्वाभाविक सूक्ष्म परिस्फुटनके भीतर जो असाधारण शिल्पनिपुणता प्रकट है-मानवचरित्रकी जो स्वभावज अस्वाभाविकता दिखाई गई है-वह सबको नहीं देख पड सकती। इसी कारण, उस समयकी रसिकताके मर्मार्थ और उद्देश्यको समझनेके लिए पार्थिव दृष्टिसे उसके भावार्थको ग्रहण करना होगा, अलोचना करनी होगी और हृदयमें अनुभव करना होगा। वे रसिकताकी बातें मानों दु ख और अनुकम्पासे पीडित मर्म स्थलको भेदकर खूनके तरारे छुटा रही हैं। मानों पवित्र सत्रस्त चरणविन्यासले, सदा जाग्रत दुश्चिन्ताको दम भरके लिए अन्यमनस्क करके, गहरी मनोवेदनाके एक अशको हर लेनेके लिए दोनो लगातार चेष्टा कर रहे है। हँसी जैसे ओठोंके किनारे पर विपादका वह करुण चित्र देखकर समवेदनाके मारे मलिनमुख होकर चुपचाप खडी है। घोर घन-घटा घिरने पर और आधी चलने पर अमावसकी अँधेरी रातको विजलीकी चमकमें जैसे सावनभादोंके आकाशकी भयानक अवस्था और भी भयानक देख पडती है, वैसे ही मलिन हँसीसे उद्भासित होकर सरस्वती और भोलानाथके मनकी उस समयकी अवस्था भी स्पष्ट देख पडती है। यहाँपरकी रसिकता विजलीका व्यग्यहास्य है—मथे जाते हुए समुद्रके फेनकी राशि है।

किन्तु उस रसिकताके असामञ्जस्यको, उस मन्थनको, उस विपरीत सघर्पणको प्रकृति और नहीं सह सकी। दोनों रो उठे। भोलानाथने कहा—"और कहाँतक दबावेगी बेटी, और मै ही कहातक दबाऊँगा! यह शोक गैरिक स्रोतकी तरह पत्थर फोडकर बाहर निकल रहा है।" यह स्वभावका हृदयस्पर्शी विशुद्ध चित्र है।

भागा हुआ भगवानदास पकडा जाकर विचारालयमें उपस्थित किया गया। किन्तु ऐसे दारुण भाग्य-विपर्ययके—ऐसे अचिन्त्य विपत्तिपातके—समय भी भगवानदासकी निन्दित नीच प्रकृतिमें कुछ परिवर्त्तन नहीं हुआ। अपने घृणित जीवन पर मृत्युशय्या पर पडे हुए कृपणकी धन-लालसासे भी अधिक ममता-मोह उसे होता है। इसीसे वह न्यायाधीशके आगे विना किसी सकोचके कह उठता है कि "मैंने खून नहीं किया, मेरी स्त्रीने मुन्नीकी हत्या की है।" उसका बदला लेनेके लिए ही मानों ठीक उसी घडी सती साध्वी सरस्वती नालायक स्वामीके प्राण बचानेके लिए दर्शकमण्डलीके भीतरसे दौड़

कहती है—"धर्मावतार, यह सच बात है। यह हत्या मैंने ही की है।" इतना कहकर साध्वी सरस्वती हथकड़ी पहननेके लिए दर्पके साथ हाथ बढ़ा देती है ।

वृद्धावस्थाके शेष बन्धन, जीवनके एकमात्र अवलम्बन सरस्वतीने कर्त्तव्यके मार्गमें आत्मबलि दे दी—यह सुनकर भोलानाथ एकदम पागल सरीखे हो गये। सरस्वतीको बचानेके लिए इस समय बहुत से धनकी जरूरत है। मगर उतना धन आज भोलानाथके पास नहीं है । जिनका उन्होंने उपकार किया था, उनके द्वार पर भिक्षुककी तरह बारबार जाकर भी वे धन नहीं पाते, मनुष्य-शरीरकी अकृतज्ञता देखकर मर्म व्यथा ही पाते हैं। दीनानाथ अन्तको उतने धनका प्रबन्ध अवश्य कर लाया, किन्तु मुकद्दमेमें भोलानाथ कुछ कर नहीं सके। आसामीके इकबाल पर सरस्वतीको फाँसीका हुक्म हो गया। भोलानाथको आँखोंके आगे अन्धकार देख पड़ा। जान पड़ा, धरती पैरोंके नीचेसे निकली जाती है। इसी अवस्थामें वे अचेत हो गये।

बहुत तड़केका समय है। पक्षी इस समय भी अपने घोंसलोंमें जगे नहीं हैं। अरुणकी आभा, जो सूर्यदेवकी सुनहली किरणोंसे पहले प्रकट होती है, आकाशमें बादलों पर छिटक रही है।—जेलके एक किनारे पर सोनेकी पुतली सरस्वती हत्याके अपराधमें इस जगतसे सदाके लिए विदा होनेको तैयार बैठी है। अभी फाँसी लगनेका समय नहीं हुआ, जेलर साहब और पहरेदार सिपाही सरस्वतीको लिये हुए मजिस्ट्रेट और डाक्टरसाहबके आनेकी राह देख रहे हैं।—इसी समय भगवानदास वहाँ आकर उपस्थित होता है। जेलर सरस्वतीके कहनेसे उसके हाथ बन्धनमुक्त कर देता है और सरस्वती भगवानदासके पैर छूकर प्रणाम करती है। अब भगवानदासके चरित्रमें कुछ परिवर्तन हो चला था। इसीसे उसने पूछा—"सरस्वती, मुझ ऐसे अभागेके प्राण बचानेके लिए मिथ्या हत्याका अपराध तुमने अपने सिर क्यों ले लिया?" सरस्वतीने कहा—"कभी तो मुझे अपने गलेमें लगानी ही पड़ती, मगर इस फाँसीके समान सुख उसमें न होता।" इसके बाद सरस्वती अन्तिम उपदेश करती है—'मेरा विश्वास है कि परमात्मा अवश्य है। इतना बड़ा आयोजन, यह बुद्धि, यह विवेक यह अनुभूति क्या इस [illegible] इतने ही थोड़े समयमें समाप्त हो सकता है' यह आत्मा फिर निश्चय ही अस्थि मज्जा-रक्त और मांसके

आवरणमे—आवेगी। इस महती सृष्टिकी अपूर्व शृखला क्या उन्मादका प्रलाप है ? मै मरनेसे बिलकुल नहीं डरती। अच्छा तो मैं तैयार हूँ।" कैसा गहरा विश्वास है! कैसा प्रवल कर्तव्य-ज्ञान है! देव-मन्दिर भी इस हृदयसे अधिक पवित्र नहीं होगा!

भगवानदास चला गया। प्रेमशकर और दीनानाथको साथ लेकर भोलानाथ सरस्वतीके पास पहुँचे। सरस्वती और भोलानाथके परस्पर एक दूसरेसे अन्तिम विदा मॉगनेका यह दृश्य बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसका वर्णन यहाँ पर मैं नहीं करूँगा। पाठक, इस दृश्यको स्वय पढें और अनु-कम्पा या सहानुभूतिके ऑसू बहावें—वे कृतार्थ और पवित्र हो जायँगे।

दीनानाथ और प्रेमशकर भोलानाथको वहॉसे घसीट ले गये। अब फॉसी-में कुछ देर नहीं। जल्लाद सरस्वतीके गलेमें फॉसीका फन्दा डाल कर तख्तेसे नीचे उतर आया। पक्षीगण गाते गाते एकाएक चुप हो गये; सूर्यदेवने बाद-लोंकी आडमें मुँह ढक लिया। प्रात.कालका वायु कॉपकर खड़ा हो गया। वृक्ष-लतायें चुपचाप ऑसू बहाने लगीं। उसी समय एकाएक उस आसन्न-मृत्युके भयानक सन्नाटेको तोडकर "खबरदार! निरपराधिनीको फॉसी न देना; मुन्नी जीती है" कह कर चिल्लाती हुई मुन्नी वहॉ पर उपस्थित हो गई। मजि-स्ट्रेटने पूछा—"तुम कौन हो?" मुन्नीने उत्तर दिया—"मैं वही मुन्नी हूँ।" सरस्वती छूट गई। एक गहरी लबी सॉस छोडकर पवनदेव डोलने लगे। सब पक्षी उल्लासके मारे खूब कलरव करते करते घोंसलोंसे निकल कर उप:-कालकी सुनहली किरणोंमें पलटे खाते खाते विचरने लगे। दर्शकोंकी छाती परसे अव्यक्त यन्त्रणाकी शिलाका दारुण बोझ जैसे अकस्मात् किसी जादूके जोरसे रुईकी तरह हलका होकर गहरी सॉसमें उड गया। इस प्रकाश और छायाके विलक्षण विचित्र समावेशसे जो अपूर्व करुण दृश्य अकित हुआ है, वह शब्दोंके द्वारा नहीं समझाया जा सकता। वर्णन करनेमें शब्द चुक जाते है, लेकिन वर्णनीय विपयका परिचय पूरा नहीं होता।

भोलानाथको सरस्वतीके छुटकारेकी खबर नहीं मिली। वे जेलखानेसे बाहर निकल कर दीनानाथको साथ ले एकदम काशीको रवाना हो गये। लेकिन शान्तिमय शकरकी पुरीमें पहुँचकर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। उन्होंने एक दाना भी नहीं खोंटा—हर घडी अगाध, असीम, तीव्र यन्त्रणा देनेवाली दारुण

कहती है—"धर्मावतार, यह सच बात है। यह हत्या मैंने ही की है।" इतना कहकर साध्वी सरस्वती हथकडी पहननेके लिए दर्पके साथ हाथ बढा देती है।

वृद्धावस्थाके शेष बन्धन, जीवनके एकमात्र अवलम्बन सरस्वतीने कर्त्तव्यके मार्गमें आत्मवलि दे दी—यह सुनकर भोलानाथ एकदम पागल सरीखे हो गये। सरस्वतीको बचानेके लिए इस समय बहुत से धनकी जरूरत है। मगर उतना धन आज भोलानाथके पास नहीं है। जिनका उन्होंने उपकार किया था, उनके द्वार पर भिक्षुककी तरह बारबार जाकर भी वे धन नही पाते, मनुष्य-जातिकी अकृतज्ञता देखकर मर्म-व्यथा ही पाते है। दीनानाथ अन्तको उतने धनका प्रबन्ध अवश्य कर लाया, किन्तु मुकद्दमेमें भोलानाथ कुछ कर नहीं सके। आसामीके इकबाल पर सरस्वतीको फाँसीका हुक्म हो गया। भोलानाथको आँखोंके आगे अन्धकार देख पडा। जान पड़ा, धरती पैरोंके नीचेसे निकली जाती है। इसी अवस्थामें वे अचेत हो गये।

बहुत तडकेका समय है। पक्षी इस समय भी अपने घोंसलोंमें जगे नहीं हैं। अरुणकी आभा, जो सूर्यदेवकी सुनहली किरणोंसे पहले प्रकट होती है, आकाशमें बादलों पर छिटक रही है।—जेलके एक किनारे पर सोनेकी पुतली सरस्वती हत्याके अपराधमें इस जगतसे सदाके लिए विदा होनेको तैयार बैठी है। अभी फाँसी लगनेका समय नहीं हुआ, जेलर साहब और पहरेदार सिपाही सरस्वतीको लिये हुए मजिष्ट्रेट और डाक्टरसाहबके आनेकी राह देख रहे हैं।—इसी समय भगवानदास वहाँ आकर उपस्थित होता है। जेलर सरस्वतीके कहनेसे उसके हाथ बन्धनमुक्त कर देता है और सरस्वती भगवानदासके पैर छूकर प्रणाम करती है। अब भगवानदासके चरित्रमें कुछ परिवर्तन हो चला था। इसीसे उसने पूछा—" सरस्वती, मुझ ऐसे अभागेके प्राण बचानेके लिए मिथ्या हत्याका अपराध तुमने अपने सिर क्यों ले लिया?" सरस्वतीने कहा—"फाँसी तो मुझे अपने गलेमें लगानी ही पडती, मगर इस फाँसीके समान सुख उसमें न होता।" इसके बाद सरस्वती अन्तिम उपदेश करती है—" मेरा विश्वास है कि परकाल अवश्य है। इतना बडा आयोजन, यह बुद्धि, यह विवेक यह अनुभूति क्या इसी जगह इतने ही थोडे समयमें समाप्त हो सकती है? यह आकाक्षा फिर निश्चय ही अस्थि-मज्जा-रक्त और मासके

आवरणमें—आवेगी। इस महती सृष्टिकी अपूर्व शृंखला क्या उन्मादका प्रलाप है ? मैं मरनेसे बिलकुल नहीं डरती। अच्छा तो मैं तैयार हूँ।" कैसा गहरा विश्वास है! कैसा प्रबल कर्तव्य-ज्ञान है! देव-मन्दिर भी इस हृदयसे अधिक पवित्र नहीं होगा!

भगवानदास चला गया। प्रेमशंकर और दीनानाथको साथ लेकर भोलानाथ सरस्वतीके पास पहुँचे। सरस्वती और भोलानाथके परस्पर एक दूसरेसे अन्तिम विदा माँगनेका यह दृश्य बड़ा ही हृदयद्रावक है। इसका वर्णन यहाँ पर मैं नहीं करूँगा। पाठक, इस दृश्यको स्वयं पढ़ें और अनुकम्पा या सहानुभूतिके आँसू बहावें—वे कृतार्थ और पवित्र हो जायँगे।

दीनानाथ और प्रेमशंकर भोलानाथको वहाँसे घसीट ले गये। अब फाँसीमें कुछ देर नहीं। जल्लाद सरस्वतीके गलेमें फाँसीका फन्दा डाल कर तख्तेसे नीचे उतर आया। पक्षीगण गाते गाते एकाएक चुप हो गये; सूर्यदेवने बादलोंकी आड़में मुँह ढक लिया। प्रातःकालका वायु काँपकर खड़ा हो गया। वृक्ष-लतायें चुपचाप आँसू बहाने लगीं। उसी समय एकाएक उस आसन्न-मृत्युके भयानक सन्नाटेको तोड़कर "खबरदार! निरपराधिनीको फाँसी न देना; मुन्नी जीती है" कह कर चिल्लाती हुई मुन्नी वहाँ पर उपस्थित हो गई। मजिस्ट्रेटने पूछा—"तुम कौन हो?" मुन्नीने उत्तर दिया—"मैं वही मुन्नी हूँ।" सरस्वती छूट गई। एक गहरी लंबी साँस छोड़कर पवनदेव डोलने लगे। सब पक्षी उल्लासके मारे खूब कलरव करते करते घोंसलोंसे निकल कर उषःकालकी सुनहली किरणोंमें पलटे खाते खाते विचरने लगे। दर्शकोंकी छाती परसे अव्यक्त यन्त्रणाकी शिलाका दारुण बोझ जैसे अकस्मात् किसी जादूके जोरसे रुईकी तरह हलका होकर गहरी साँसमें उड़ गया। इस प्रकाश और छायाके विलक्षण विचित्र समावेशसे जो अपूर्व करुण दृश्य अंकित हुआ है, वह शब्दोंके द्वारा नहीं समझाया जा सकता। वर्णन करनेमें शब्द चुक जाते हैं; लेकिन वर्णनीय विषयका परिचय पूरा नहीं होता।

भोलानाथको सरस्वतीके छुटकारेकी खबर नहीं मिली। वे जेलखानेसे बाहर निकल कर दीनानाथको साथ ले एकदम काशीको रवाना हो गये। लेकिन शान्तिमय शंकरकी पुरीमें पहुँचकर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। उन्होंने एक दाना भी नहीं खाया—हर घड़ी अगाध, असीम, तीव्र यन्त्रणा देनेवाली दारुण

चिन्ता उन्हे सताने लगी। एक एक करके ससारके सभी लोगोंने उनको छोड दिया है। केवल मनुष्योंकी कृतघ्नताकी चिन्ता और सरस्वतीकी याद, चढती जवानीके प्रेमीकी तरह, उनका साथ नहीं छोडती। वे सारे ससारमें सर्वत्र सरस्वतीको देखते है, हवाकी खटकमे सरस्वतीकी आवाज सुनते है, हरएक शब्दमे सरस्वतीके पैरोकी आहटका अनुभव करते है और दूसरे ही क्षणमें गहरी निराशाकी दारुण यन्त्रणामें तडफने लगते है। जीवन-धारण असह्य हो गया है। क्या करे कुछ समझमे नहीं आता। एकतरफ सरस्वतीका स्नेह है, दूसरीतरफ निष्ठावान् हिन्दूका धर्मबुद्धिजनित और बचपनसे बद्धमूल सस्कार है। इन दोनोंने मिलकर उस शोकजीर्ण हृदयके भीतर घोर आन्दोलन मचा रक्खा है। विपन्न विवेकने आई हुई विपत्तिमे मोहित होकर हाथ-पैर ढीले कर दिये है। कर्त्तव्य-ज्ञान कर्त्तव्यका निश्चय नहीं कर सकता। सरस्वती बडी है, या बचपनसे पाला गया धर्म-विश्वास बडा है—इस गुरुतर समस्याकी मीमासा नहीं होती। सरस्वतीके वियोगकी ज्वाला असह्य है, इसीसे अधिक रात बीतने पर एक तेज धारकी कटार हाथमे लिये हुए वे सोनेके कमरेमे टहलते टहलते कहते है—"ना, मै यहीं पर अन्त कर दूंगा। अब नहीं सहा जाता। लेकिन—यह आत्महत्या—महापाप है। महापाप अगर हो तो हो! नहीं तो मनुष्यमें दानवकी शक्ति क्यों नहीं है? अगर वह शक्ति होती तो मै सह सकता,—और पाप ही इसे कैसे मान ले—मरना महापाप है? क्यों, यों भी तो तिलतिल करके जल मर रहा हूँ—मैने यह जीवन पाया है। पाई हुई चीजको मै रक्खूं या फेक दूं, उससे किसीकी क्या हानि है! जब किसीकी भी कुछ क्षति नहीं है तब मैं यह काम करूंगा—अवश्य करूंगा।—वह बहुत बडा घोर पाप है! जिससे किसी कालमे उद्धार नहीं—वही करूंगा?—नहीं, जरूरत नहीं है—" इतना कहकर वे कटार रख देते है। इसी समय मस्तिष्कविकारके कारण एकाएक उन्हे जान पडता है कि मानो उन्हें सरस्वती पुकार रही है। यह उन्हे मालूम नहीं था कि सरस्वती जीती है और कार्शीतक उनकी खोजमे आगई है। उसी क्षणिक भ्रमके कारण उन्हे प्रतीति हो गई कि सरस्वतीकी स्नेहपूर्ण आह्वान-वाणी जीवनके उसपारसे हवाके द्वारा आरही है। इसीसे विवेक और धर्मसंस्कारको दमभरके लिए भुलाकर प्राणसे अधिक प्यारी सरस्वतीसे मिलनेकी प्रबल इच्छाने ही मानों उनसे

हाथकी वह पैनी कटार उनके जराजीर्ण शिथिल पेटमें घुसेड दी । दीपक बुझ जानेसे घरमें अन्धकार हो गया । उस अन्धकारमें उस पारकी नाव पर चढकर कविने सरस्वतीके साथ दादाकी भेंटका जो करुण दृश्य अंकित किया है वह संसार भरके साहित्यमें अपनी तुलना नहीं रखता । दादाका चरित्र अंकित करनेमें जिस कारीगरी, कृतित्व और मानव-चरित्रके गहरे ज्ञानका परिचय दिया गया है वह प्रत्येक देशके श्रेष्ठ नाटककारके लिए गौरवका विषय हो सकता है।

दादाकी मृत्युके बाद दूसरे ही दिन सरस्वती 'उस पार' दादाके पास नीच प्रकृति स्वामीके कल्याणकी कामना करते करते चली जाती है। भगवान-दासके जीवनमें भी पूरा परिवर्त्तन होजाता है। एक दिन माताके साथ उसने जो बुरा व्यवहार किया था उसके लिए उसे घोर पछतावा होता है। वह अनेक स्थानोंमें माताको खोजता फिरता अन्तको एक मसानमें उपस्थित होता है और वेश्या मुन्नीकी कृपासे उस पार जगदम्बाके हृदयमें माताके दर्शन पाता है।

चरित्रविश्लेषण।

अब हम संक्षेपमें प्रधान पात्रोंके चरित्रोंका विश्लेषण करके इस नाटकका मर्म समझानेकी चेष्टा करेंगे। इस नाटकमें स्त्री चरित्र चार हैं—सरस्वती, मुन्नी, लक्ष्मी और हीरा।

सरस्वती नैतिक सौन्दर्यकी आदर्श है। सरस्वती वह आदर्श स्त्री नहीं है जो लात खाकर 'पें' करके भाग जाती है, और 'तू' करके पुकारनेसे पूँछ डुलाती हुई पैरों पर आकर लोट जाती है। सरस्वती वह आदर्श स्त्री है जो माताके द्रोही पतिको फटकार बताती है, भटके हुए स्वामीको कर्त्तव्यकी राह दिखाती है, पतिके असह्य अत्याचारको चुपचाप सह लेती है, गृह-हीन आश्रय-हीन पतिका साथ देती है और पतिके प्राण बचानेके लिए बेखटके फाँसी पर चढ़ जाती है। इतनी बडी आदर्श-पत्नी, जान पड़ता है, संसारके किसी भी साहित्यमें नहीं है। सरस्वतीने मानों अपने हृदयका सारा स्नेह अपने दादाको दे डाला है। ससुराल जानेके पहले दिन शीघ्र ही होनेवाले दादाके बिछोहका खयाल करके वह उन्हींके बारेमें सोचती है । यही उसकी प्रधान चिन्ता है कि कहीं उनके वियोगमें पीछेसे उसके दादा आत्महत्या न कर लें। अपना दुःख

मानों उसे कुछ है ही नहीं। यह स्थल पढते पढते विरहिणी छाया-सीताकी यह उक्ति याद आती है कि "आर्य्यपुत्र मेरे लिए कष्ट पा रहे है--धिक्कार है मुझे !" दादाके दुःखकी सहानुभूतिने उसके निज दु खको दबा दिया है। मृदु रसिकता उसके मुँहमें आकर लबी साँसकी भापमे उड जाती है।

सरस्वती भगवानदासको प्यार करती है। किन्तु उस प्रेममे उच्छ्वास नहीं है। वह प्रेम भी उसने कर्त्तव्यके निकट सीखा है। स्वामीको प्यार करना स्त्रीका कर्त्तव्य है, इसीसे वह भगवानदासको प्यार करती है। उसका वह प्रेम मानों कर्त्तव्यज्ञानका एक अनुरोधमात्र है।

सरस्वतीने अपनी शक्ति भर पतिको प्यार किया। जितना वह नहीं कर सकी उसकी कमी उसने स्वामीके प्रति स्त्रीके कर्तव्यका पालन करके पूरी कर दी है।

पहले और दूसरे अकमे देखते है कि सरस्वती अपने स्वामीको मातृभक्ति-की शिक्षा देती है। कारण वह समझती है कि मातृभक्ति ही सब कर्त्तव्योंकी [illegible] है। भगवानदासने इसे अपनी स्त्रीकी धृष्टता भले ही समझा हो, मगर इसमें सन्देह नहीं कि भगवानदासको यह मातृभक्तिकी शिक्षा बिलकुल ही नहीं मिली थी। इसी कारण अपनी मृत्युका समय निकटवर्ती होने पर भी वह भगवानदासको धर्मविश्वास पर दृढ रहनेकी शिक्षा देती है। राहसे भटके हुए पतिको धर्ममार्गमे ले जानेकी अन्तिम चेष्टा करके फिर पतिके पैरोंकी धूल मस्तकमे लगाकर गर्वके साथ फाँसी पर चढनेका ऐसा गौरव-पूर्ण चित्र इससे पहले बंगला-साहित्यमें किसीने न देखा होगा।

सरस्वतीके प्रत्येक वाक्यका मूल्य लाख लाख रुपये है। अगर हम उन्हे उद्धृत करे तो सबके सब उद्धृत करना पडे। यहाँ केवल एक अश उद्धृत किया जाता है। भगवानदासने जब व्यग्यके साथ कहा—"वाहरी सती!" तब सरस्वती कहती है—"देखो मैं सती हूँ या असती, इसका विचार मैं एक शराबीके मुँहसे—वेश्यासक्तके मुँहसे नहीं सुनना चाहती। मेरा सतीपना मेरा धर्म है तुम्हारा नहीं।" इसके बाद ही वह कहती है—"सतीत्व मेरा इष्टदेव है;—तुम तो उस देवताकी पूजाकी सामग्री फूल-पत्तीभर हो।" हिन्दूललनायें सती पतिव्रता होती है, पर इसका कारण पतिभक्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि सतीत्व ही सतीका धर्म है, सतीका इष्ट देव है। शिवभक्त पुरुष जैसे

अपने इष्टदेवकी पूजाकी सामग्री होनेके कारण विल्वपत्रको पवित्र दृष्टिसे देखता है वैसे ही सती स्त्री भी सतीधर्मके आचरणका आधार होनेके कारण स्वामी पर भक्तिभाव रखती है। क्योंकि पतिरूप विल्वपत्रसे ही शिवरूप सतीत्वकी आराधना होती है। पतिकी अपेक्षा सतीत्वरूप देव ही सतीकी दृष्टिमें बडा है। इसी कारण जब भगवानदासने सरस्वतीके सतीत्व पर व्यंग्य किया तब उससे सहा नहीं गया। सती स्त्री अपने पतिके सब अत्याचारोंको चुपचाप सह लेती है—लेकिन अपने सतीत्व पर अगर पति भी दोषारोप करता है तो वह उसे नहीं सह सकती। क्योंकि सतीका धर्म पति नही है, सतीका धर्म सतीत्व ही है। दाम्पत्य साहित्यमे इतनी बड़ी बात पहले क्या कभी किसीने सुनी थी ?

सरस्वती पढी लिखी, स्नेहमयी, कर्तव्यपरायणा, रसिका, तेजस्विनी, सुन्दरी युवती है। वह वंकिम वाबूकी सूर्यमुखी, भ्रमर या गिरीश वाबूकी सरला और प्रफुल्ल नहीं है। यह वंगकाव्यसाहित्यमें एक नई ही सृष्टि है।

मुन्नीका चरित्र सरस्वतीके चरित्रकी तरह इतना मिश्र नहीं है। मुन्नीने अपनी व्याख्या आप ही की है।

पूर्वजन्मके कर्मफल और अदृष्टकी विडम्बनासे हिन्दूकुलमें जन्म लेकर भी मुन्नी वेश्या है। वह असाधारण रूपवती, शिक्षिता, बुद्धिमती, सुन्दर कठवाली गायिका है, लेकिन जोशसे भरी हुई और तबीयतदार है। मुन्नी उद्दाम लालसाकी मोहिनी मूर्ति है। मानों वह दिगन्त-विस्तृत मरुभूमिमें ग्रीष्मऋतुके सूर्यास्तका दृश्य है। वह सौन्दर्य और रूपकी गरिमासे मन और नेत्रोंको अपनी ओर खींचती है, मुग्ध करती है, मगर शीतल नहीं करती। उसके हृदयमें दारुण ज्वाला भरी हुई है। वह रूपकी गरिमा मानों इन्द्रियमार्गसे प्रवेश करके नसनसमें अग्नि-प्रवाह दौडाकर मस्तिष्कको प्रज्वलित कर देती है। मुन्नीके गानोंसे ही उसका जीवन स्पष्टतः समझमें आजाता है। गहरे दु ख, क्षोभ और घृणासे वह वेश्याका हृदय भी टुकडे टुकडे हो जाता है। वह अपनी अवस्थाके लिए सदा सन्ताप किया करती है, और अपने किये कार्यके लिए लज्जाका अनुभव किया करती है। किन्तु दूसरा उपाय न होनेके कारण वह उसी तरह अपना जीवन विताती है। उसके लिए वह अपनेको, सारी वेश्याओंको और जो लोग पतिता स्त्रियोंके अध पतनमें सहायक होते हैं उनको, बुरा कहती है। उसके हृदयके भीतर दिनरात समान भावसे एक महासंग्राम हुआ करता है।

प्रथम अकमें हम देखते हैं कि मुन्नी जीविकाके लिए वेश्यावृत्ति करती है। उस्तादजीकी एक बात पर उसने वेश्यावृत्तिको छोड दिया और गानेसे अपनी जीविका चलाने लगी। कोई उसे वेश्या कहता था तो वह क्रुद्ध होती थी। दूसरे अकके अन्तिम दृश्यमें उसे हम इसी अवस्थामें देख पाते हैं। तीसरे अकमें देखते हैं कि वह भगवानदासकी प्रणयिनी हो गई है। अपने सारे आवेगमय हृदयसे वह भगवानदासको चाहती है, किन्तु उस्तादजीकी हथौडीकी और एक चोटसे वह स्वप्न भी मिट गया। भगवानदासके तो स्त्री है। भगवानदासका प्रेम उसको मिलना चाहिए। मुन्नी उस पर बेजा अधिकार क्यों करती है?—इसी मर्मभेदी सन्देहको मिटानेके लिए वह भगवानदासकी स्त्रीके पास दौडी गई। रामके दर्शनसे अहल्या जैसे शापसे छुटकारा पा गई वैसे ही सती सरस्वतीके दर्शन होनेसे मुन्नीकी मुक्ति हो गई। घडी भरमें एक बडा भारी नैतिक विप्लव हो गया। मालूम नहीं, सतीकी महिमाको इतने उज्ज्वल भावसे और कोई अङ्कित कर सका है या नहीं। उसके बाद अपने पिता भवानीप्रसादके भक्तिभावकी नदीमें स्नान करके उसने पुनर्जन्म प्राप्त किया और माता जगदम्बाके चरणोंमें स्थान पाया।

लक्ष्मीके चरित्रमें कुछ विशेषता नहीं है। जगतमें सभी मातायें इसी एक ...चेमें ढली हुई हैं। भगवानदास अपनी माताका ज्ञान, ध्यान, सब कुछ है। ...के मुँहमें भगवानदास है, हृदयमें भगवानदास है। वह भगवानदासके सिवा ... कुछ नहीं जानती। पहले उसे यही चिन्ता देख पडती है कि ब्याह करके ... सुखी हुआ या नहीं। पीछे मातृद्वेषी पुत्रके हृदयहीन व्यवहारसे जब ... निराश-व्यथित हृदयसे निकट आते हुए मृत्युकी अपेक्षा करती है उस समय भी उसके मुखसे भगवानदासका ही नाम निकलता है। यही लक्ष्मीका संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त है। वह बीमारीकी हालतमें भी भगवानदासके आनेकी अपेक्षा करती है, हरएक गाडीका शब्द सुनकर यही अनुमान करती है कि उस पर उसका भगवानदास आरहा है। हरएक ‘माता’ के सबोधनमें वह भगवानदासके ही कण्ठका स्वर सुनती है। लक्ष्मीकी ‘मृत्यु’ एक अत्यन्त सरल और करुण चित्र है। सबेरा हुआ है। लक्ष्मीकी शय्याके पास उसका बूढा पडोसी दीनानाथ बैठा हुआ है। लक्ष्मी दीनानाथसे कह रही है—“भगवानदास आवे तो कहना कि मरते समय मुझे कुछ कष्ट नहीं हुआ। केवल मरनेके

समय मैंने उसे एक वार देखने की इच्छा की थी ।—ना ना, यह कहनेकी भी कुछ जरूरत नहीं है--मेरा लाल दुखी होगा ।" उसके वाद गऊ रँभाई । लक्ष्मी मृत्यु शय्यापरसे उत्तर देती है—मै यहाँ हूँ । गऊके वछडेको देखनेके लिए लक्ष्मीका जो आग्रह देखा जाता है उसके भीतर कौन कह सकता है कि पुत्रके प्रति उसका कितना अभिमान और स्नेह निहित है । क्रमश भगवानका नाम लेते लेते पुण्यवती लक्ष्मीने आँखें मूँद लीं ।—भगवानदास नहीं आया । यहीं पर एक छोटेसे नाटककी यवनिका गिर जाती है ।

हीराके चरित्रमें समझानेकी वात कोई नहीं है । भ्रष्ट स्त्रीकी अन्तको जो दशा होती है वही दशा हीराकी हुई । अपनी खोई हुई कन्या मुन्नीको पाकर उसे आनन्द हुआ या दु ख, सो निश्चय करके कहना कठिन है । किन्तु यह अच्छी तरह जान पड़ता है कि उसका मत कुछ कुछ वदल अवश्य गया । उसकी कन्या आज उसीके पापसे वेश्या है । इस लज्जाको रखनेके लिए कहाँ स्थान है ! हीरा मुन्नीकी तरफ आँख उठाकर नहीं देख सकती । स्मारक-स्वरूप मुन्नीकी एक अँगूठी लेकर इसीसे वह अदृश्य हो जाती है । आत्महत्या नहीं करती । उद्देश्य यही है कि मुन्नीकी स्मृति लेकर ही वह जीवन धारण करेगी और फिर कभी कभी घूमते फिरते आकर कन्याको देख जाया करेगी । किन्तु उस अभागिनके साथ रहना उसके लिए असभव है । इधर भाग्यने उसे इस अवस्थासे छुटकारा दे दिया । उसके पहलेके प्रेमीने उसकी हत्या कर डाली । अनुचित प्रणयका ऐसा ही भयानक परिणाम होता है ।

भोलानाथ पुराने ढगके जमींदार है । परदु खकातर, धार्मिक, कर्तव्य-परायण और दाता हैं । उनका दोप यही है कि वे स्नेहसे दुर्वल हृदय और वहुत ही सरल हैं । सभी लोग नित्य उन्हें ठगते हैं । प्रेमशकर नित्य उन्हें सावधान करता है, पर वे हँसकर उडा देते हैं । कहते हैं—"यह भी कहीं हो सकता है प्रेमशकर ! मनुष्य अकृतज्ञ होगा ! ईश्वरकी श्रेष्ठ सृष्टि, मनुष्यलोकमें भगवानका अवतार + + + मनुष्य अकृतज्ञ होगा ! + + + मनुष्य मेरा भाई है । दु:खी पुरुपको देखकर आँखोंमें आप ही आँसू आजाते है, उसे छातीसे लगानेके लिए दोनों हाथ आप ही आगे वढ जाते हैं ।"—भोलानाथ ऐसे ही परदु खकातर और विश्वप्रेमिक हैं !

बहुत लोग दान करते हैं—नामके लिए, या पुण्य-सञ्चयके लिए। किन्तु भोलानाथ दान करते हैं इस लिए कि उनसे दान किये विना रहा नहीं जाता। इतने बडे दानी भोलानाथ हैं! लोग उनसे रुपये उधार लेकर देना नहीं चाहते, उसकी परवा नहीं करते—कहते हैं—"बदलेमें तुम केवल मुझे प्यार करो, प्यार करो।" इतने वे स्नेहदुर्बल हैं! वे संसारके निकट कुछ नहीं चाहते; चाहते हैं केवल प्रेम।

भोलानाथके विश्व-प्रेमके बारेमें दीनानाथ कहता है—उनका सारा शरीर प्रेममय है, और सरस्वती मानो उस प्रेमका प्राण है।

भोलानाथने सरस्वतीका व्याह कर दिया है। उसे सुसराल भेजना होगा! वृद्ध दादा मसखरी करके अपना दुःख दबानेकी चेष्टा करते हैं। उनके मुँहमें हँसी और हृदयमें रोना है। बीचबीचमें वह भीतरका रोना मसखरीके पर्देके बाहर फूट उठता है। जैसे—"कल इस छतके ऊपर अकेला यह आकाश होगा और मैं होऊँगा—दोनोंके बीचमें ढेरका ढेर अन्धकार होगा।" इस भाषा और भावको समझनेके लिए तहतक पहुँचनेकी आवश्यकता है। भोलानाथ पौत्री-वियोगकी भावनासे अस्थिर हो उठे हैं, विना प्रयोजन नौकरको पुकारते हैं, सरस्वतीसे पूछते हैं कि "देख सरस्वती, बादल उठा है या नहीं।" यह सब उमडे हुए हृदयके आवेगको छिपानेकी चेष्टामात्र है।

जब सरस्वतीका 'हत्यारा' भागाहुआ स्वामी आकर आश्रय माँगता है तब हमें भोलानाथकी कर्त्तव्यपरायणताकी पराकाष्ठा देख पडती है। एक ओर स्नेह है, और दूसरी ओर कर्त्तव्य है। कर्त्तव्यकी जय हुई। इतने विशाल स्नेह पर विजय पानेवाली कर्त्तव्यपरायणता कितनी बडी कर्त्तव्यपरायणता है! यह दृश्य देखकर विजयी भोलानाथकी जयध्वनि करनेको जी चाहता है। जान पडता है, यह जय वाटर्लू-जयसे भी बढकर गौरवकी सामग्री है।

सहसा भोलानाथके सरल विश्वासको एक बडा भारी धक्का लगा। इस महाविपत्तिके समय किसीने उन्हें दसहजार रुपये उधार नहीं दिये—, उन्हीं भोलानाथको—जो दोनों हाथों धन लुटाकर आज कंगाल हो गये हैं। भोलानाथ इस धक्केको नहीं सह सके। वे मानो पागल हो गये। सरस्वतीकी आकस्मिक मृत्युने उस डावाँडोल विचारशक्तिको नीचे गिरा दिया।

इस अवस्थामें हम जब भोलानाथको पाते हैं तब वे सोचते हैं—to be or not to be.—इस समय कभी कभी उन्हें ज्ञान होता है, और फिर वही पागलपन आ जाता है। उन्होंने विचार करके आत्महत्याका इरादा छोड़ दिया। इसी समय फिर पागलपनने आकर उनके चित्त पर अधिकार कर लिया। वे चन्द्रमाके पास देखने लगे, सरस्वती उन्हें जीवनके उसपारसे बुला रही है। विचारशक्तिने समझाया, नहीं, यह कल्पना है। उसके बाद सचमुच ही सरस्वतीका स्वर सुन पड़ा। एक बार नहीं, बार बार। अब उन्हें इसमें संदेह नहीं रहा कि मरीहुई सरस्वती ही उन्हें पुकार रही है। तब उन्होंने परलोकमें सरस्वतीका संग पानेकी प्रबल कामनाकी ताड़नासे इस जीवनको त्याग कर दिया। आत्महत्या करनेके पहले भोलानाथने इस विषय पर बहुत कुछ विचार किया। उनकी समझमें मनुष्यजीवन दैवसे प्राप्त है। इस कारण दैवसे मिली हुई वस्तुका अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करनेसे समाजकी कोई हानि नहीं है। जिस कार्यसे समाजकी कोई हानि नहीं, वह पाप नहीं है, इसीसे आत्महत्या पाप नहीं है। मनुष्य सदा चिन्ता और मनोवृत्तिके द्वारा सञ्चालित हुआ करता है। मनुष्यचरित्रमें कभी कोई कार्य संगत होता है और कभी कोई कार्य असंगत होता है। इसी कारण उसका कुछ निश्चय नहीं है। क्योंकि वह कार्य घटना और उस समयकी पारिपार्श्विक अवस्थाके ऊपर निर्भर है। मस्तिष्ककी विकृत अवस्थासे उत्पन्न हुई आन्तरिक दुर्बलताको दूर करनेका बाहरी शक्तिके प्रयोगके सिवा अन्य उपाय नहीं है। भोलानाथने जिस समय आत्महत्या की है उस समय उनके ऊपर वही बाहरका सबल शासन नहीं था। इसीसे उन्होंने आत्महत्या कर डाली—उनके इस कार्यमें बाधा देनेवाला कोई नहीं था।

इस नाटककी ट्रेजिडी भोलानाथकी मृत्युमें नहीं है। इस नाटककी ट्रेजिडी भोलानाथके विवेकके विलोपमें है। इतने बड़े आदर्श मनुष्य होकर भी अत्यन्त अधिक स्नेह-दुर्बलताकी ताड़नासे ज्ञान खोकर अन्तको उन्होंने आत्महत्या कर ही डाली। यही ट्रेजिडी है! Too much sail and no ballast होनेसे जो होता है वही हुआ। नाव डूब गई। यही ट्रेजिडी है। और वह शरीरके ध्वंसमें नहीं, मनुष्यत्वके ध्वंसमें है।

भगवानदास शिक्षित है, मेधावी है, किन्तु उसके चरित्रमें नैतिक बल नहीं है। उसके चरित्रमें विवेक और कर्त्तव्यज्ञानका संपूर्ण अभाव है। सर-

स्त्रीके प्रति वह मोहित है। पर वह मोह प्रेम नहीं है। उसे यौन-आसक्ति कह सकते हैं। भगवानदासने खुद अपने चरित्रकी संक्षेपमें यों व्याख्या की है—" जिसने स्त्रीके लिए माताका अनादर किया, वेश्याके लिए स्त्रीको छोड़ दिया और डाहके मारे वेश्याकी हत्या की।"

भगवानदासकी मातृभक्ति बहुत ही तरल है—वह कमलके पत्ते पर पानीकी बूँदकी तरह सदा हिलाडुला करती थी। भगवानदास खुद इस बातको समझ गया था। इसीसे स्त्रीके घर आने पर वह काँप उठा था। उसने मातासे कहा था—"माता, घरमें चोर घुस आया है।" भगवानदास ब्याहके बाद मानो माताकी सुध भूल कर दिनरात रूपवती युवती स्त्रीके चरणोंके पास बैठकर कामकी सेवामें लग गया, और ज्यों ही स्त्रीकी आकर्षणी शक्तिमें 'भाटा' पड़ना शुरू हुआ, त्यों ही वह मुन्नीके रूपकी आगमें पतंगकी तरह फाँद पड़ा। भगवानदास भीरु और कापुरुष था। मुन्नी पर पिस्तौल दागनेके बाद जब वह लापता हुआ तब उसे पछतावेने घेरा। वह हरघड़ी मरी हुई माताका मुख देखने लगा। इसीसे वह मदिरा पीने लगा। पीते पीते उसकी मात्रा बढ़ाने लगा। लेकिन सदाका स्वभाव एक दिनमें नहीं जाता। इसीसे विचारालयमें आप छुटकारा पानेके लिए उसने अपनी स्त्रीको हत्याका अपराधी बतलाया। किन्तु इस समय उसके हृदयमें विवेकके साथ कुप्रवृत्तिका एक युद्ध चल रहा है। विवेक सजग हुआ है। जिस समय सरस्वती फाँसी पर चढ़नेवाली होती है उस समय वह मन-ही-मन अपने निन्दित नीच जीवनको धिक्कार अवश्य देता है, मगर दोष स्वीकार करनेका उसे साहस नहीं होता। तथापि हृदयमें कोमल प्रवृत्तिके सचारका कुछ कुछ अनुभव करनेके कारण वह सरस्वतीकी कल्पित मृत्युके बादसे इधर उधर दौड़ता फिरता है। प्रायश्चित्तके उपरान्त मुन्नीकी कृपासे वह भी जगन्माताके चरणोंमें स्थान पाता है।

भगवानदासमें अगर मातृभक्ति होती तो उसका सर्वनाश न होता। जैसे ही उसने मातृभक्ति छोड़ी वैसे ही वह नीचे गिरने लगा। उसका वह पतन तेजीके साथ और गहरा हुआ। ग्रन्थकारने भगवानदासके चरित्रमें मातृ-निरादर और कर्त्तव्यहीन अन्ध रूपजनित लालसाका भयानक परिणाम दिखाया है।

भगवानदास बंकिमबाबूका गोविन्दलाल नहीं है, नगेन्द्रनाथ नहीं है, योगे—नहीं है। भगवानदास भगवानदास ही है।

भवानीप्रसाद एक निरीह भक्त हिन्दू है। वह स्त्री और कन्याको लिये दूर देहातमें--निरालेमे--रहता था। दुराचारी गौरीनाथ उसकी स्त्रीको झांसा देकर घरसे निकाल ले गया। इसी दुःखसे भवानीप्रसाद ससारत्यागी सन्यासी हो गया। दुर्वलके लिए ईश्वरके चरणोंमे नालिश करनेके सिवा और उपाय नहीं। इसीसे भवानीप्रसाद ईश्वर और जगदम्बाका भजन करता फिरता है। अपने दुःखको दवाकर, जीवनके सव अत्याचारोंको भूलकर उसने अपने अस्तित्वको दूसरेके अस्तित्वमे लीन कर दिया है। वह ससारको दर्शककी दृष्टिसे देखता है, किन्तु उसके लिए उसके हृदयमें मानों कुछ यन्त्रणा छिपी हुई है। सभी कुछ न कुछ करते है, मगर वह खुद हसन्त अक्षरके नीचे 'हल-चिह्न' की तरह पडा हुआ है--यह कहकर वह अपने हृदयका खेद प्रकट करता है। उसका हृदय सहानुभूति और अनुकम्पाके भावसे भरा हुआ है। वह खूब रसिकता-निपुण और व्यग्य-प्रिय है। किन्तु उसकी रसिकता विषादसे भरी और व्यग हृदय-स्पर्शी है। मुन्नीके घरके दरवाजेके सामने हीरासे मुलाकात हो जाने पर भवा-नीप्रसादके निर्विकार चित्तमें भी कुछ चचलता उपस्थित होते देखी जाती है।' मुन्नी अपना परिचय देकर जब चली जाती है तब रुँधा हुआ सन्तान-स्नेहका सोता भवानीप्रसादके चिरतप्त हृदयको प्लावित कर देता है। उस समय भवा-नीप्रसाद जो गीत गाता है उससे यह मालूम पडता है कि वह अपने उमडे हुए हृदयके भावको दवानेकी चेष्टा कर रहा है। उसे आशका होती है कि सन्तानस्नेहकी प्रवल वहियामें कहीं भगवतीकी भक्ति न वह जाय। भवानी-प्रसाद एक उदास, अनासक्त, शाक्त पुरुष है।

कालीचरणका चरित्र एक नई ही सृष्टि है। पहले देखनेसे जान पडता है कि कालीचरण जैसे नीमचॉद (एक वगला नाटकका पात्र) हीका दूसरा सस्करण है। किन्तु उसके चरित्रके सम्बन्धमें कुछ आलोचना करनेसे ही यह भ्रम शीघ्र ही दूर हो जाता है। कालीचरण यद्यपि नीमचॉदकी तरह शराव पीता है और Full of quotations है, तो भी वह एक सत्पुरुष है। बुरे संगमें शराव पीता है, मगर बुरे सगमें शामिल नहीं होता। किसीके काम-मे दस्तन्दाजी नहीं करता। किसी आचरणसे विचलित नहीं होता। गौरीनाथ-के यहॉ मुफ्त शराव मिलती थी, इसीसे उसकी सोहवतमें अकसर कालीचरण देख पडता है। कालीचरण दार्शनिक पुरुषकी तरह मानवचरित्रको देखना

पसन्द करता है, इसीसे सब तरहके आदमियोकी सोहबतमे शामिल होता है। लेकिन सभी बातोंमे वह अपनी स्वतन्त्रताको बनाये रखकर चलता है । नि लिप्त भावसे अपनी चिन्तामे आप मगन रहकर समय समय पर समयानुकूल दो-एक मन्तव्य प्रकट करके चला जाता है । उन्हे कोई समझे या पागलपन कहकर उडा दे, इसमे उसका कुछ बनता-बिगडता नहीं।

किन्तु भोलानाथकी भलमनसीने क्रमश कालीचरणके चित्त पर अपना अधिकार जमा लिया। सर्वस्व खोकर ठगे गये भोलानाथकी अवस्था देखकर उसके दार्शनिक हृदयको भी एक धक्का लगा । अब चुप रहनेसे काम नहीं चलता । तब कालीचरणने शिवदयाल और कामताप्रसादसे कहा—Tell the truth and let the world sink. (भलीभांति और उचित कार्य करो; संसारको डूबने दो-उसकी चिन्ता न करो।)

कालीचरण दर्शक और दार्शनिक है। नीमचाँद पतित है। कालीचरण एक बार भी धर्मके मार्गसे पतित नहीं हुआ। चरित्रगत विभिन्नताके कारण कालीचरण नीमचाँदसे बिलकुल अलग है।

गौरीनाथके समान कृतघ्न नरपिशाच इस मनुष्य समाजमे अनेक है धनोपार्जन और इन्द्रियलिप्सा ही उनके जीवनका मूलमन्त्र है । इन दोनो बातोंके लिए गौरीनाथने मनुष्यत्व, दया, धर्म, विवेक आदि मानवहृदयके सब सद्गुणोको तिलाञ्जलि दे दी। वह शैतानसे भी क्रूर, सर्पसे भी दुष्ट और निशुकसे भी अधिक चक्षु-लज्जा-विहीन है। उसने खुद कहा है कि ऊपर चढना है तो पापके भारी बोझको ठेलकर चढना होगा, नीचे उतरनेके समय बिना परिश्रम उसी बोझसे नीचे उतरना होगा । जो उसने कहा वही कार्यद्वारा कर दिखाया।

प्रेमशंकर एक तरफ जैसे कर्त्तव्यपराण, उपकारी, विश्वस्त और सा कर्मचारी है, वैसे ही दूसरी ओर हित चाहनेवाला और कृतज्ञ आत्मीय है न्यायपरायण और स्पष्टवादी होनेके कारण वह कुछ भी छिपा नहीं रखता जिसको उसने कर्त्तव्य और न्यायसगत समझा वह करनेमे उसने कभी आनाकानी नहीं की—किसीका मुह नहीं ताका । सुदिन और दुर्दिन समान भावसे वह भोलानाथका अनुरागी और आज्ञाकारी रहा । उस

ग्रता और एकनिष्टताके कारण प्रेमगकरका चरित्र भी आदर्श जान पड़ता है।

दीनानाथ कोमल-हृदय और सरल बुद्धि पुरुष है। वह दुर्दिनका साथी और व्यथितका वन्धु है। लक्ष्मीकी मृत्युशय्याके पास वह रातभर जागता रहा और भोलानाथकी पागलपनकी हालतमें वही उनका साथी रहा। भोलानाथका जमाना जव अच्छा था तव वह उनके पास आया भी नहीं। किन्तु भोलानाथके घोर दुर्दिनके समय जव, ससारके सव लोगोंने उन्हें छोड दिया, उपकृत लोग उपकार भूलकर उनकी निन्दा करने लगे, तव दीनानाथ उनके पास उपस्थित हुआ और अन्ततक घडीभरके लिए भी उसने उनका साथ नही छोडा।

दीनानाथके वीते हुए जीवनके सम्वन्धमे कुछ कहा नहीं गया। लेकिन यह स्पष्ट जान पडता है कि दीनानाथका वीता हुआ जीवन सुखमय नहीं था और वहुओंपर उन्हें विशेप भक्ति नही थी। कविने उसके व्यतीत जीवनको पाठकोंके निकट पहेली सा ही वना रक्खा है।

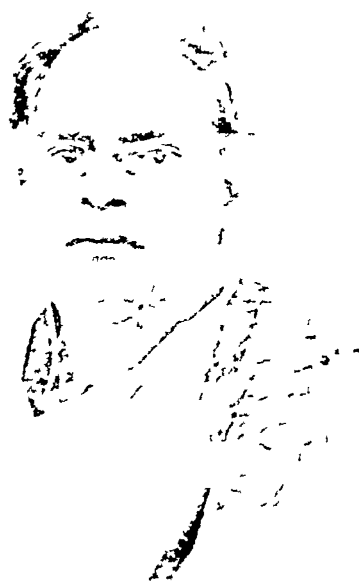
दीनानाथ एक आदर्शचरित पुरुष है। अपने आराम और सुखका उसको खयाल ही नही है।

यह निवन्ध समाप्त करनेके पहले ग्रन्थकारकी रसिकता या हँसी मजाकके सम्वन्धमें कुछ आलोचना किये विना आलोचना असमाप्त ही रह जायगी। द्विजेन्द्रलालकी रसिकता या विनोदप्रियता देशभरमें प्रसिद्ध है। किन्तु इस नाटकमें जिसरसिकताकी अवतारणा की गई है वह विलकुल नये ढगकी है। इस रसिकताके दो विभाग किये जा सकते हैं। एक श्रेणीकी रसिकता तो मानों प्रात कालकी अरुण-किरणोंमें तरह तरहकी रगीन पताकायें है। और, दूसरी श्रेणीकी रसिकता मानों अन्त्येष्टिसमयकी वडी भारी काली पताका समवेदनाके गहरे दु खसे सिर झुकाये हुए सकुचित भावसे खडी है। यह सर्ववादिसम्मत है कि हँसी और ऑसू, सरलता और गाभीर्य, मधुर और करुणका एकत्र समावेश करनेमें द्विजेन्द्रलालके समानऔर लेखक नहीं है। किंतु ऐसी करुण-गम्भीर रसिकता शायद आजतकऔर कोई कवि न लिख सका होगा। इस नाटकमें कविने अपनी रसिकताका चरमविकास दिखा दिया है। भोलानाथ और भवानीप्रसादकी रसिकतामें विशेपता यह है कि मुँहमें हँसी और ऑखोंमें ऑसू देख पडते हैं।

इस नाटकके गान बहुत ही अच्छे हैं। ग्रन्थमें स्थान स्थान पर समयोपयोगी खूब ऊँचे भावोंकी अवतारणाकी गई है। ग्रन्थकी भाषा ओजस्विनी और भाव उपयोगी है।

केवल आदर्शचरित्र ही नाटकमें अंकित होने चाहिए—इसके कुछ माने नहीं। शेक्सपियरके श्रेष्ठ नाटकोंके नायकोंमेंसे कोई भी आदर्शचरित्र नहीं है। शकुन्तलाके दुष्यन्त या उत्तरचरितके राम भी आदर्शपुरुष नहीं हैं। उत्कृष्ट नाटक वही है, जिसमें घटना-संघातद्वारा चरित्रका आन्दोलन दिखाया जाय। किन्तु आदर्शचरित्र बहुत कुछ निर्विकार ही होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अधम चरित्रवाले नायकको लेकर नाटककी रचना नहीं होती। भोलानाथका चित्र मनुष्यजातिका आदर्श बनाकर चित्रित नहीं हुआ। वे एक भले आदमी थे।—सिर्फ यही दिखाया गया है।

श्री अधरचन्द्र मजूमदार।

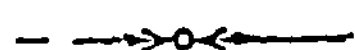


स्वर्गीय नाट्यकार बाबू द्विजेन्द्रलाल राय।

उस पार।



पहला अंक।



पहला दृश्य।

स्थान—लक्ष्मीका. घर।

समय—प्रात काल ।

[घरके ऑगनमें, लक्ष्मी, उसका बूढा परोसी दीनानाथ और परोसिनें बैठी है।]

लक्ष्मी—आज मेरे बड़े आनन्दका दिन है। आओ। इस आनन्दमे शरीक होओ । आज मेरे बड़े आनन्दका दिन है ।

पहली परोसिन—सो तो होना ही चाहिय। छोटे लड़केका व्याह हुआ है फिर आनन्द क्यो न होगा ?

दूसरी परोसिन—बड़ी अच्छी बहू है । चाँद ऐसी बहू है !

तीसरी परोसिन—अँधेरे घरमे उजियाला करनेवाली बहू है !

पहली परो०—क्योंजी ! बहूका बाप क्या काम करता है ?

दीना०—बहूके बाप मा कोई नहीं है।

दूसरी परो०—फिर कौन है ?

दीना०—बहूके दादा (बाबा) है।

तीसरी परो०—और दादी ?

दीना०—दादी भी नहीं है।

पहली परो०—आहा ! तो बेचारीकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं है।

दीना०—दादा है। बहूके मा-बाप भी इस तरह उसकी सेवा और देखभाल नहीं कर सकते थे जितनी कि उसके दादा इतने दिनोंसे करते आ रहे हैं।

दूसरी परो०—हाँ !

दीना०—बूढ़ा दिनरात उसे अपनी छातीसे लगाये रहता था, हाथसे खिलाता-पिलाता था; और कहते कहते मेरी आँखोंमे सू भरे आते हैं—

तीसरी परो०—क्यों जी !

दीना०—मैं भी बूढ़ा हो आया हूँ; लेकिन भोला दादा ऐसा बूढ़ा कभी नहीं देखा। इधर तो दान देते देते फकीर हो गया है और उधर मानों साक्षात् स्नेहकी मूर्ति है। उस स्नेहका प्राण यह पोती है। एक दिन—जब उसकी यह पोती चार बरसकी होगी—मैं सवेरे बूढ़ेके पास गया। देखा कि बूढ़ेके मुहमें रस्सी बाँधकर, उसकी पोती, उसकी पीठ पर सवार है, और एक सटी हाथमें लिये हुए 'हट हट' करती हुई सटकार रही है। बूढ़ा घुटनोंके बल बरामदे भरमें पोतीको सवार किये घूम रहा है।

लक्ष्मी—आहा !

प० परो०—कहते क्या हो जी । तब तो बूढा ज़रा पागल है ।

दू० परो०—जरूर पागल है ।

ती० परो०—चाहे जो हो, खासी बहू तुमने पाई है दीदी !

दीना०—बहू पाई है, लेकिन शायद लड़का हाथसे खो दिया बहन ।

लक्ष्मी—यह क्या कहते हो भैया—ऐसा लड़का—वह तो मेरे सिवा किसीको जानता भी नहीं ।

प० परो०—माके ऊपर जान देता है ।

दू० परो०—समझदार है ।

ती० परो०—पढ़ा लिखा है ।

दीना०—चाहे जितना समझदार हो, माका चाहे जितना ख्याल रखता हो—पर ब्याह हो जाने पर लड़का फिर वैसा नहीं बना रहता

लक्ष्मी—ना ना, यह बात न कहो भैया । मेरा ऐसा लड़का—

प० परो०—अपने हाथों पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है ।

दू० परो०—उसकी माँदगी-बिरामीमें रात-रातभर जागकर अपनी देह खपाई है ।

ती० परो०—नव महीने पेटमें रक्खा है ।

लक्ष्मी—कहते क्या हो भैया ! सदासे वह माके सिवा और किसीको नहीं जानता । आज जब मैं मौतके मुँहका कौर बन रही हूँ—तब वह मुझे छोडकर गैर बन जायगा !

दीना०—तुम्हारी इधर भी मौत है, और उधर भी मौत है ।

(प्रस्थान)

प० परो०—ये कैसी कुलच्छनी बातें हैं ।

लक्ष्मी—ऐसा लड़का गैर हो जायगा !—क्योजी !

ती० परो०—ऐसी बातें सुनती क्यों हो बहन !

लक्ष्मी—यही अगर हो, तो हो। वह तो सुखी होगा।

दू० परो०—सुखी क्यों न होगा! ऐसी चाँद ऐसी बहू जो पाई है।

प० परो०—जैसे साक्षात् लक्ष्मी है।

दू० परो०—शिव-पार्वतीका ऐसा जोड़ा है!

[भगवानदासका प्रवेश।]

लक्ष्मी—वह बच्चा आगया !—मुँह जैसे सूख गया है।

परोसने—तो अब हम जाती है बहन।

लक्ष्मी—जानेके लिए कैसे कहूँ !

(परोसकी स्त्रियोंका प्रस्थान।)

लक्ष्मी—तेरा मुँह सूखासा देख पड़ता है! तबियत कैसी है ?

भग०—तबियत अच्छी है—तुमने अभीतक भोजन नहीं किया ?

लक्ष्मी—नहीं बेटा।

भग०—तो जाकर भोजन करो। नहीं तो तुम्हारी तबियत खराब जायगी।

लक्ष्मी—इतने सुखमें तबियत कैसे खराब हो जायगी !—बेटा, बहू पसंद है ?

भग०—तुम पहले जाकर भोजन करो। नहीं तो मैं तुम्हारी कोई बात नहीं सुनूँगा।

लक्ष्मी—जाती हूँ।—यह क्या, तेरी आँखोंमें आँसू कैसे देख पड़ते हैं!—क्या हुआ है बेटा !

भगवान०—मा !

लक्ष्मी—क्यों बेटा !

भगवान०—मैया ! (माताकी छातीमें मुँह छिपाना)

लक्ष्मी—(कंपित स्वरसे) क्या है बेटा! रोता क्यों है?

भगवान०—नहीं मैया! लेकिन यह क्या हुआ मैया! आज चित्त इतना व्याकुल और उचाट क्यों हो रहा है? कोई जैसे मुझे तुम्हारे पाससे छीन कर ले जाने आया है। घरमें चोर घुस आया है।—मुझे छोडो नहीं मैया।

लक्ष्मी—तू यह क्या कह रहा है बेटा! यह क्या! तू तो रो रहा है—

भगवान०—मालूम नहीं—क्यो!—नहीं मा, आओ भोजन करो। मैं आज तुमको अपने आगे बिठाकर खिलाऊँगा।

लक्ष्मी—क्यों!

भगवान०—मेरा यही जी चाहता है।—आओ मा।

(दोनोंका प्रस्थान।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—भोलानाथके महलका एक कमरा।

समय—सन्ध्या।

[भोलानाथ और सरस्वती।]

भोला०—क्यों! दूल्हा पसद आया!

सर०—जाइए!

भोला०—जाऊँगा तो अवश्य ही! जानेको तो बैठा ही हूँ। दो दिनकी देर सही नहीं जाती?—दूल्हा पसद आया?

सर०—जाइए! मै अब आपसे नही बोलूँगी।

भोला०—मुझसे अब क्यों बोलेगी!—सरस्वती!

सर०—दादा!

ती० परो०—ऐसी बातें सुनती क्यो हो बहन !

लक्ष्मी—यही अगर हो, तो हो। वह तो सुखी होगा।

दू० परो०—सुखी क्यो न होगा! ऐसी चाँद ऐसी बहू जो पाई है।

प० परो०—जैसे साक्षात् लक्ष्मी है।

दू० परो०—शिव-पार्वतीका ऐसा जोड़ा है!

[भगवानदासका प्रवेश।]

लक्ष्मी—वह बच्चा आगया!—मुँह जैसे सूख गया है।

परोसने—तो अब हम जाती है बहन।

लक्ष्मी—जानेके लिए कैसे कहूँ!

(परोसकी स्त्रियोंका प्रस्थान।)

लक्ष्मी—तेरा मुँह सूखासा देख पड़ता है! तबियत कैसी है?

भग०—तबियत अच्छी है—तुमने अभीतक भोजन नही किया?

लक्ष्मी—नहीं बेटा।

भग०—तो जाकर भोजन करो। नही तो तुम्हारी तबियत खराब जायगी।

लक्ष्मी—इतने सुखमे तबियत कैसे खराब हो जायगी!—बेटा, पसंद है?

भग०—तुम पहले जाकर भोजन करो। नहीं तो मै तुम्हारी कोई बात नहीं सुनूँगा।

लक्ष्मी—जाती हूँ।—यह क्या, तेरी आँखोमे आँसू कैसे देख पड़ते है!—क्या हुआ है बेटा!

भगवान०—मा!

लक्ष्मी—क्यों बेटा!

भगवान०—मैया! (माताकी छातीमें मुँह छिपाना)

लक्ष्मी—(कंपित स्वरमें) क्या है बेटा ! रोना क्यों है ?

भगवान०—नहीं मैया ! लेकिन यह क्या हुआ मैया ! आज चित्त इतना व्याकुल और उचाट क्यो हो रहा है ? कोई जैसे मुझे तुम्हारे पाससे छीन कर ले जाने आया है । घरमें चोर घुस आया है ।—मुझे छोडो नहीं मैया ।

लक्ष्मी—तू यह क्या कह रहा है बेटा ! यह क्या ! तू तो रो रहा है—

भगवान०—मालूम नहीं—क्यो !—नहीं मा, आओ भोजन करो । मैं आज तुमको अपने आगे बिठाकर खिलाऊँगा ।

लक्ष्मी—क्यों !

भगवान०—मेरा यही जी चाहता है ।—आओ मा ।

(दोनोंका प्रस्थान।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—भोलानाथके महलका एक कमरा ।

समय—सन्ध्या ।

[भोलानाथ और सरस्वती ।]

भोला०—क्यों ! दूल्हा पसंद आया !

सर०—जाइए !

भोला०—जाऊँगा तो अवश्य ही ! जानेको तो बैठा ही हूँ। दो दिनकी देर सही नहीं जाती ?—दूल्हा पसद आया ?

सर०—जाइए ! मै अब आपसे नहीं बोलूँगी ।

भोला०—मुझसे अब क्यों बोलेगी !—सरस्वती !

सर०—दादा !

भोला०—मुझे पहलेकी तरह प्यार करेगी ?

सरस्व०—करूँगी ! जबतक जियूँगी, प्यार करूँगी।

भोला०—वैसे ही गलेसे लिपटकर दादा कहकर पुकारेगी ? वैसे ही भोजनके समय पास आकर बैठेगी ? वैसे ही प्यार करके—

सरस्व०—दादा !—मेरे चले जानेसे आपको दुःख होगा ?

भोला०—तुझे क्या जान पड़ता है ?

सरस्व०—तो भी पूछती हूँ, जबाब दीजिए। बड़ा कष्ट होगा ?

भोला०—कष्ट !—दोनो आँखें फूट जानेसे मनुष्यको कैसा कष्ट होता है सरस्वती ? तेरे मा भी नहीं थी, बाप भी नहीं था; तुझे अपने हाथसे खिला-पिलाकर इतना बड़ा किया है। तेरे मुँहकी तरफ टकटकी लगाकर देखता रहा हूँ—आँखें चौंधिया गईं तो भी देखनेसे नहीं भरा। तुझे कलेजेसे लगाकर रक्खा है—इतने प्यारके जोशसे लगाया है कि तू नींदकी खुमारीमे चिल्ला उठी है। उसके बाद ...से उठकर बरामदेमे टहल-टहलकर मन-ही-मन सोचता रहा ... किसे इतना प्यार कर रहा हूँ ? और क्यो कर रहा हूँ ?— मेरी कौन है ? अपने कलेजेका खून पिलाकर काली नागिन पाल हूँ। जब यह चली जायगी तब जिस हृदयसे मैं इसे चाहता हूँ ... डस कर चली जायगी। मैं यन्त्रणासे छटपट करूँगा, और यह एक बार फिरकर देखेगी भी नहीं।

सर०—दादा ! मै सुसराल न जाऊँगी।

भोला०—तूने तो कह दिया कि न जाऊँगी, लेकिन वह कहाँ छोड़ेगा।—उसने मानों दाम देकर मोल ले लिया है; अब रस्सीमे बाँधकर खींचता-घसीटता हुआ ले जायगा।

सर०—मेरा व्याह क्यों किया था दादा ?

भोला०—आगे चलकर तेरी समझमें आजायगा कि क्यो तेरा ब्याह किया; क्यो अपना हृदय अपने हाथोंसे निकालकर फेंक दिया; क्यों अपनी दोनों ऑखें निकाल कर फेंक दीं। एक दिन यह सब तेरी समझमे आजायगा।

सर०—क्यो व्याह किया था?

भोला०—तेरे ही सुखके लिए बेटी।

सर०—मेरा सुख? इस व्याहसे मुझे सुख नहीं मिलेगा।

भोला०—यह क्यो बेटी!

सर०—सो तो मै नहीं जानती। लेकिन मेरा जी यही कह रहा है।—दादाजी! मै आपको छोड़कर न जाऊँगी।

भोला०—जायगी क्यो नही! सिर्फ जायहीगी नहीं!—एक सालके बाद उलटे कहेगी—मै दादाजीके पास लौट कर न जाऊँगी।

सर०—हिश्—

भोला०—तब देख लेना!—तब दिन-रातमे एक बार भी तुझे अपने बूढ़े दादाकी याद न आवेगी।

सर०—मै नहीं जाऊँगी। दादाजी! मै आपको छोड़कर न जाऊँगी। (गलेसे लिपट जाती है।) मै नहीं जाऊँगी।

भोला०—जायगी नही! मुझे कष्ट न होगा बेटी, तू जा। सह जायगा।—सह जायगा। तेरे चले जाने पर मै क्या करूँगा, जानती है?

सर०—क्या करिएगा? आत्महत्या करिएगा?

भोला०—हिश्! तेरे लिए मै आत्महत्या करूँगा! बड़ा गुमान है!—अरे तेरे विछोहसे मै 'कहॉ गई सरस्वती, कहॉ गई सरस्वती' कहकर रोता हुआ रास्तोंमें दौड़ता नहीं फिरूँगा—

सर०—तो क्या करिएगा ?

भोला०—इस बिना साथीके बिल्लीके बच्चेकी तरह मै आप अपनी ही पूँछके साथ खेला करूँगा। (आँखोंसे आँसू पोछना।)

सर०—नहीं दादाजी, मै आपको छोड़कर न जाऊँगी। (गलेमे लिपट कर) दादाजी !

भोला०—यह कैसा तुम्हारा नियम है दयामय! एकको दुःखी किये बिना क्या तुम दूसरेको सुख नहीं दे सकते ! यह भुज-बन्धन अपने हाथसे तोड़ना पड़ता है। बेटीके सदाके आश्रय-रूप इस हृदयसे उसे आप ही निकाल कर पराये द्वारकी भिखारिणी—पराये घरकी दासी—बनाना पड़ता है।—ना, तू यहीं रह। कहाँ जायगी ! मेरा घर अँधेरा करके, हृदय खाली करके, प्राण शून्य करके, कहाँ चली जायगी बेटी ! ना, मै तुझे छोड़कर नहीं रह सकूँगा! (सरस्वतीको गलेसे लगा लेना।)

[दरवानका प्रवेश।]

दरवान—हुजूर ! कुछ बाबू लोग आये है।

भोला०—क्यों ?

दरवान—यह नहीं माळूम सरकार।

भोला०—इस समय उनसे चले जानेके लिए कह दे।

दरवान—जो हुक्म ! (प्रस्थान)

भोला०—सरस्वती !

सर०—दादाजी !

भोला०—बदली हो आई है ?—देख तो।

सर०—(देखकर) कहाँ, नहीं तो।

भोला०—ओह !—मेरी ही भूल है !—सकटू !

[नफरका प्रवेश ।]

भोला०—नही कुछ नहीं ।—जाओ ।—

(नफरका प्रस्थान ।)

सर०—दादाजी ! आप यह क्या कर रहे हैं ?

भोला०—(हँसकर) कहो—कुछ भी नहीं !—अच्छा सरस्वती, तो तू कल जायगी ?—

सर०—कहती तो हूं दादाजी !—मै नहीं जाऊंगी ।

भोला०—यह भी कहीं हो सकता है !—व्याहके वाद सुसराल जाना ही पड़ता है । उसके वाद फिर तू यहो आजायगी । तेरा दादा इसी तरह तेरी राह देखा करेगा ।

[दरवानका प्रवेश ।]

दरवान—गुमाश्ताजी आये है ।

भोला०—क्यो ?

दरवान०—मुलाकात करना चाहते है ।—

भोला०—इस समय नहीं हो सकती !

दरवान—उन्होने कहा है, वड़ा जरूरी काम है ।

भोला०—इस समय नहीं होगी । जानेके लिए कह दे ।—

(दरवानका प्रस्थान ।)

भोला०—इस समयको व्यर्थ नहीं गवाँ सकता । इस समयकी हरएक घड़ी पवित्र है । यह समय वर्षाऋतुके आकाशमे धूपकी उज्ज्वल चमकके समान वहुत देर तक नहीं रहेगा ! कल दीपक वुझ जायगा । सव तरफ अन्धकार छा जायगा !

[प्रेमशंकरका प्रवेश ।]

भोला०—कौन ! प्रेमशकर !—क्या खवर है ?

प्रेम०—शिवदयालु आये हैं ।—नीचे वैठे है ।

भोला०—ओः !–उन्हें लड़कीकी शादी करनी है। ठीक है, मैंने उनसे आज आनेके लिए कहा था।–प्रेमशंकर! जाकर उन्हें ५०००) रुपये दे दो।

प्रेम०—लिखापढ़ीके लिए वे तमस्सुख नहीं लाये है।

भोला०—कुछ जरूरत नहीं।–भले आदमी है!

प्रेम०—मनुष्यका इतना विश्वास न कीजिए साहब!

भोला०—क्यों! मनुष्यका विश्वास न करूँ! ईश्वरकी श्रेष्ठ सृष्टि, पृथ्वी पर भगवानके अवतार, सब गुणोंके आधार मनुष्यका विश्वास न करूँ! जिस रूपमें हम देव देवियोके स्वरूपकी कल्पना करते है उसको अविश्वास करूँ! जगतके प्रभु, समाजके शासक, सभ्यताके पुत्र, धर्मके स्थापक, ज्ञानके गुरु, स्वार्थत्यागके शिष्य, स्नेहके दास, मनुष्यका विश्वास न करूँ? कहते क्या हो प्रेमशकर! तो फिर क्या पशुका विश्वास करूँ?

प्रेम०—वहुतसे मनुष्य ऐसे है, जो पशुओसे भी अधम है।–जो भाइयो पर अत्याचार करते है, वन्धुओका सर्वनाश करते है, स्त्रीको मारते है, बूढ़े बापको धक्का देकर इस संसारसे खिसकाना चाहते है–

भोला०—छी छी! मनुष्यकी निन्दा मत करो। मनुष्य मेरा भाई है। मै मनुष्यकी निन्दा नही सुनना चाहता।–जाओ, गुमाश्तेसे कह दो—

प्रेम०—लेकिन—

भोला०—जाओ भैया!

(प्रेमशकरका प्रस्थान।)

भोला०—सरस्वती!

सर०—क्यों दादाजी!

भोला०—बात क्यो नहीं करती ?—चुप क्यो है ?

सर०—क्या बात करूँ दादाजी ?

भोला०—क्या बात करेगी !—यह भी ठीक है । अब जितनी
ाते है सब उसी नई मूछ, घुंघराले बाल और टेढ़ी माँगके साथ
ागी ।—क्यो ?

सर०—जाइए ।

भोला०—मेरे साथ तो बस यही एक ही बात है—' जाइए ' । कहाँ
ाऊँ ? तुझे छोड़कर कहीं जानेको जी नही चाहता। तेरी यह मीठी
ावाज विहाग-रागकी तरह आकर जैसे मेरी ऑखोको चूम लेती है,
ह मानो किसी नशेमे ढीली पड़ जाती है और इतनेहीमे जैसे दो
ोमल गोल गोल भुजाये फूलमालकी तरह मेरे गलेमे आकर पड़ जाती
ै !—क्यो कैसी कविता की !

सर०—वाह !—आप कविता क्यो नही लिखते दादाजी !

भोला०—तुक नहीं मिलती—अगर कोई तुक मिला देता, और
अक्षरोका हिसाब रखता, तो मै एक बहुत बड़ा कवि हो जाता ।
लेकिन तुक नही मिलती ।

सर०—क्यो—बेतुकी कविता लिखिए ।

भोला०—बेतुकी कविता करनेवाले अनेक है। बेचारे बड़े परिश्र-
मसे बेतुकी कविता करते है। क्या मै उनकी कीर्त्तिमे साझा लगाऊँ !—
इसीसे नहीं लिखता ।

सर०—इसे देशका और मातृभापाका सौभाग्य समझना चाहिए !

भोला०—वह सूर्य अस्त हो गये !—देख उधर देख सरस्वती !—
आकाशमे जैसे कोई तरह तरहके रगोका जाल बुन रहा है ।—कैसा
सुन्दर दृश्य है !

सर०—(देखकर) वाह, कैसा सुन्दर है !

भोला०—कल शामको इसी छतके ऊपर मेरे और इस आकाशके बीचमे ढेरका ढेर अन्धकार ही होगा ।—वह सुन सरस्वती ।

सर०—क्या दादाजी ?

भोला०—गाना सुन पड़ता है ?

सर०—(कान लगाकर) हाँ—(आग्रहके साथ) कौन गा रहा है दादाजी ?

भोला०—यह भवानीप्रसाद, एक कालीका उपासक भक्त है । मैंने इसे अपने पास रख लिया है—विचित्र मनुष्य है ।

सर०—कैसे !—

भोला०—बहुत बातचीत नहीं करता । वह देखो, अपनी धुनमें मस्त होकर गाना गाता जाता है । जैसे उसने अपना सारा हृदय, अपना यह लोक और परलोक इसी गानेमें ढाल दिया है ! वह देखो, गाना गाते गाते इधर ही आरहा है ।—सुन ।

(गाते गाते भवानीप्रसादका प्रवेश और प्रस्थान ।)

भूप—तिताला ।

अबकी तोहि पहिचान्यो श्यामा, अब मैं तोहि छोड़ौं ।
भवके दुःख जलन सब भूल्यो, तोसों नाता जोड़ौं ॥ अब० ॥
गोरखधंधा बीच फसायो, माता होय रुआयो ।
बाल विलाप सुने माताकी ममता हिय भरि आयो ॥ अब० ॥
हाथ गह्यो मेरो, मैं मेया भीति भावना भूल्यो ।
आसू पोछि गोद मोहि लीन्ह्यो हृदय हर्षसों फूल्यो ॥ अब० ॥
भवसागर भटक्यो, नहिं पायो तिहिको कूल-किनारा ।
देखि ध्रुवतारा तू तारा, पायो सहज सहारा ॥ अब० ॥

भोला०—पृथ्वी पवित्र होगई—मेरा हृदय जगदम्बाकी भक्तिसे भर गया ।—सरस्वती ! (सरस्वतीके गलेसे लिपट जाना ।)

सर०—दादाजी ! (एक हाथ भोलानाथकी कमरमें डालकर दूसरे हाथसे कपडेसे आँसू पोछना ।)

तीसरा दृश्य ।

स्थान—गौरीनाथके घरका बाहरी बैठकखाना ।

समय—रात्रि ।

[गौरीनाथ, प्रेमशकर और कालीचरण बैठे हैं ।]

गौरी०—दुनियाभरके लोग भोलानाथके गुण गाते देख पड़ते है ! उसकी जमींदारीकी ऐसी आमदनी है, इतनी आमदनी है ! फिर पोतीके व्याहमे क्यो ऋण लिया था ?

प्रेम०—मौका पड़ने पर ऋण दिया भी जाता है, लिया भी जाता है।

गौरी०—उन्हे उधार देते तो कभी नहीं देखा, लेते ही देखा है ।

प्रेम०—वे उधार कम देते है;—देते है तो एकदम दे डालते है।

गौरी०—एकदम दाता कर्ण है !

प्रेम०—और नहीं तो क्या !

गौरी०—दो दिनो वाद हाथ धोकर राहमे वैठना पड़ेगा, और क्या।

कालीचरण—वहुतोके हाथ धोनेसे ही साफ हो जाते है ।—'साफ' शव्दका यहाँ पर मै विकल्पमे व्यवहार करता हूँ, याद रक्खो प्रेमशकर !—और वहुतोके (गौरीनाथकी ओर इशारा करके) हाथ समुद्रके जलमे धोनेसे समुद्रका जल लाल हो जाता है, लेकिन हाथका दाग नहीं जाता ।—साधुभापा कह रहा हूँ, क्यो न ? शेक्सपियरने कहा है—The multitudinous seas incarnadine, (विराट्

प्रेम०—भोलानाथजी तो आपसे रार नहीं [illegible]।

गौरी०—अजी मन-ही-मन करते हैं, [illegible] करते। बूढ़ा बड़ा पाजी है।

प्रेम०—खबरदार, भोलानाथजीको पाजी न कहना!—[illegible] इसे सहन नहीं करूँगा।

गौरी०—क्या! मारोगे क्या!

प्रेम०—जरूरत पड़े तो इसमें भी कम नहीं हूं।—जाने रहना!

गौरी०—हिश्! तुम्हारी इतनी मजाल नहीं है।

प्रेम०—तो देखोगे! (आस्तीन चढ़ाता है)

काली०—अरे करते क्या हो! यह बिलकुल दार्शनिक अवस्था नहीं है। तर्क करके मीमांसा करो। इससे आगे मत बढ़ो।

प्रेम०—ना, तुमसे हाथापाई करना मेरे लिए लज्जाकी बात है।—तुम भी क्या आदमी हो।

कालो०—आहा—God made him. (ईश्वरने अपने हाथसे बनाया है।)

[शिवदयालु और कामताप्रसादका प्रवेश।]

प्रेम०—अब यह पूरा पूरा शैतानका दरबार हो उठा।

(क्रोधपूर्वक प्रस्थान।)

शिव०—मामला क्या है!

गौरी०—यह बदमाश मेरे घर पर मुझसे झगडा करने आया है—कहता है, मारूँगा।—आ न (आस्तानी चढ़ाते हुए) आ न, पाजी।

काली०—Why गौरी this is worse than quixotic. (गौरी, तुम तो डान कुइकजोटासे भी बढ गये।) Don Quixote गये थे युद्ध करने wind mill (पवन-चक्की) के साथ। लेकिन तुम युद्ध करने जारहे हो—wind (पवन) के साथ।

गौरी०—अच्छा, और किसी दिन देख लूँगा। (बैठ जाता है।)

काली०—यही अच्छा है—said like a wise man. (समझदारकी बात कही।)

गौरी०—(शिवदयालुसे) अच्छा। उधरकी खबर क्या है?

शिवदयालु—नीलाम पर चढ़ गया है। २५ नं० लाट कमलापुर। २७ जुलाई तारीख है।

गौरी०—यह मालूम है! नीलामी इश्तिहार न जारी होगा!

शिव०—नहीं जारी होगा। इसका भी इन्तजाम कर लिया है।

गौरी०—वाहवाह, क्या बात है! अच्छा तो तुम इस समय जाओ। मैं जरा एटर्नीके पास जाऊंगा।

शिव०—क्यों, मैं ही चला जाता हूँ।—बतलाओ न, क्या करना होगा!

गौरी०—इस समय तुम्हे और कोई काम नही है ?

शिव०—मुझे और काम ! मेरा यही तो काम है ।

गौरी०—अच्छा तो यह कागज ले जाओ । दस्तखत किये देता हूँ। और सब वह जानते है। लो। (बक्स खोलकर कागज निकालना और शिवदयालुके हाथमें देना ।)

(शिवदयालुका प्रस्थान ।)

काली०—For Satan finds some mischief still for idle hands to do. (शैतान सदा कुछ न कुछ शैतानी आलसियोके लिए ढूँढ़ ही निकालता है ।)

गौरी०—(कामताप्रसादसे) इधरका क्या हाल है ?

कामता०—सब ठीक है ।

गौरी०—कितना माँगता है ?

कामता०—बहुत नहीं; (कानमें) बहुत ही सुन्दरी है ।

गौरी०—रूप-रग अच्छा है ?

कामता०—ओः ! एक अच्छा, एक बहुत ही अच्छा !

गौरी०—तो ठीक कर डालो ।

कामता०—अच्छा तो मै जाता हूँ । एक जरूरी काम है ।

(प्रस्थान ।)

काली०—कहता हूँ–उधर न झुको गौरीनाथ ।–घरमे बैठकर ब्राडी पियो–बस ! लेकिन औरत—तुम जानते नही हो—

What dire offence from amorous causes springs,
What mighty contests rise from trivial things

(कामुकताके कारण बड़े बड़े दारुण उत्पात हो जाते है । छोटी बातोके चलते चलते बडे बड़े युद्ध ठन जाते है ।)

(प्रस्थान ।)

गौरी०—मै सिरके वालकी नोकसे पैरोकी उँगलीके नाखून तक वदमाश हूँ ! क्या काम नही कर सकता !—चोरी ? जहाँतक संभव है, यह चोरी ही है ! इश्तिहार रद करके यह जमींदारीकी चोरी है ।—सो यह सभी करते रहते है । दुनियामे दौलत और जमीन जमा करनेके लिए इसकी जरूरत पड़ती ही है । महफिलमे खड़े होकर घूँघट काढ़ना कैसा !—और इधर ? मनोरञ्जन भी चाहिए ही ।—इससे भी वढ़कर वहुतसे खराव काम किये हैं । एकदिन—

[हीराका प्रवेश ।]

हीरा—यही है !

गौरी०—(चौंक कर) कौन हो तुम ?

हीरा—कौन हूँ मै !—ऑखे खोलकर देखो, पहचान पाते हो कि नहीं । (लॅप उठाकर उसकी रोशनी अपने मुँह पर डालती है ।)

गौरी०—(विस्मयके साथ) हीरा !

हीरा—पहचान लिया ?

गौरी०—तुम यहाँ कहाँ ?

हीरा—पागलखानेसे आई हूँ !

गौरी०—पागलखानेसे ?

हीरा—हॉ पागलखानेसे । वहाँ मै क्यो गई थी, सुनोगे ?

गौरी०—क्यों गई ?

हीरा—तुम्हारी ही असीम कृपासे ।—सुनोगे ?

गौरी०—क्या ?

हीरा—अपनी दयाकी कहानी ! उसके हरएक अक्षरमे टपटप करके खून टपक रहा है । उसकी हरएक लाइन एक एक शैतानका जीवनचरित है । अच्छा सुनो । तुम जव उस कठोर जाड़ेमें वस्त्र और

अन्नके बिना मुझे एक फटे कंबलके साथ उस टूटे खंडहरमे छोड़ आये थे तभी मै पागल हो जाती—केवल अपने नन्हेसे बच्चेका चाँदसा मुखड़ा देखकर ही मै होशमे बनी रही । लेकिन उस गाढ़े अन्धकारमे मेरे जीवनका सहारा वह दीपक भी बुझ गया । मेरा बच्चा उस माघ-पूसके कड़े जाड़ेमे भूखके मारे तड़प-तड़प कर मर गया । मै अपने शरीरकी गर्मीसे घेरकर उसकी रक्षा करती थी—कलेजा निचोड़ निचोड़कर बूँद बूँद दूध निकालकर उसे पिलाती थी । लेकिन जिसने खुद तीन दिनसे कुछ खाया-पिया नहीं, उसके शरीरमे गर्मी कहाँ ? उसके कलेजेमे दूध कहाँ ? मेरा बच्चा सर्दीसे अकड़कर, भूखसे तड़प-कर, मर गया । (स्वर कॉपने लगता है)

गौरी०—इसमें मेरा क्या !

हीरा—तुम्हारा क्या !—हॉ—सो ठीक ही है, इसमे तुम्हारा क्या ! —वह तो तुम्हारी सन्तान न थी। वह मेरी आँखोका तारा, मेरे आँच-लका रत्न, मेरी गोदीका लाल, मेरा सर्वस्व था । (रोना)

गौरी०—तो अब रोनेसे क्या होगा !

हीरा—कुछ नहीं होगा । रोनेसे कुछ होगा, यह आशा करके लोग नहीं रोते। रुआई आती है, इसीसे लोग रोते है। मै रोरोकर तुम्हारा हृदय गलाने नहीं आई हूँ । तुम्हारे पास आश्रयकी भीख मॉगने नहीं आई हूँ । एक दिन था जब तुम यदि एक शीशी लवेडरकी खरीद कर ला देते थे तो उसे मै सिरऑखोसे लगा, ले लेती थी। लेकिन आज तुम अगर कुबेरकी सपदा लाकर मेरे पैरो पर रख दो, तो मै उसे लात मारकर चली जाऊँगी ।

गौरी०—तो फिर यहॉ क्यो आई हो ?

हीरा—मरनेसे पहले तुम्हारी कीर्त्ति तुमको सुनाने ।—सुनो ! जब मैने देखा—मेरा बच्चा न रोता है, न हिलता है, न आँखे खोलता है—तब मैं चिल्लाकर रो उठी—इतने जोरसे चिल्लाई कि शायद पृथ्वी पर आजतक कोई भी उतने जोरसे न चिल्लाया होगा। लेकिन किसीने वह मेरा चिल्लाना नही सुन पाया। जान पड़ता है, शीतकालके कोहरेने राहमे चिल्लाहटका गला दबा दिया। उसके बाद वही बच्चेकी लाश गोदमे लिये मै इधर उधर दौड़ने लगी। एक जगह ठोकर खाकर गिर पड़ी। जब होश आया तब मैने अपनेको पुलिसके हाथमे पाया। मेरे बच्चेकी लाश मेरी गोदमे नहीं थी। इसके बाद पुलिसके सिपाही मुझे अदालतमें हाकिमके पास ले गये। डाक्टरने मेरी जाँच की। मुझसे न जाने क्या क्या सवाल किये—कुछ समझमें नही आया। मैने क्या जवाब दिया, सो भी कुछ याद नही है। उसके बाद हाकिमने मुझे एक बड़े भारी मकानमे भेज दिया। पीछे मालूम पडा, वह पागलखाना है। दस वर्ष तक वही रहकर परसो वहाँसे निकलकर आई हूँ।—यही तुम्हारी कीर्ति है।

गौरी०—इसमे मेरा कोई दोष नही है।

हीरा—ना, तुम्हारा दोष नहीं है। सब दोष इसी बदनसीब स्त्रीजातिका है। सब दोष मेरा है। दोष मेरा है, जो मैने तुम पर विश्वास किया। दोष मेरा है, जो मैने धर्मको तिलाजलि दे दी। दोष मेरा है, जो तुम्हें बेखबर सोते पाकर भी गला दबाकर तुम्हारे इस पापी जीवनका अन्त नहीं कर डाला।

गौरी०—क्या बकती है पागल औरत !

हीरा—(हँसकर) ओः ! अभीसे सफाई तैयार कर रहे हो !—मै पागलखानेसे निकलकर आई हूँ, लेकिन अब पागल नहीं हूँ।

डाक्टरने परीक्षा करके कह दिया है कि अब मैं पागल नहीं हूँ। मुझे वहाँके अफसरोंने छोड़ दिया है। पागलका प्रलाप बताकर ऐसे एक भयानक सत्यको, ऐसे एक निष्ठुर परित्यागको, ऐसी और इतनी बड़ी पिशाचलीलाको उड़ा देना चाहते हो! आग कहीं फूसके दवाये दवती है!

गौरी०—(नर्मीके साथ) हीरा!—

हीरा—डरो नहीं, इस बातको मै संसारमे प्रकट नहीं करूँगी। अदालतमे विचार होनेसे तुमको केवल जेल होगी!—बस सब खतम हो जायगा। तब अपने कलककी बात प्रकट करनेसे क्या लाभ! मै अगर रास्तेमें खडे होकर चिल्लाकर कहूँ कि "तुमने एक हृदयको तोड़ डाला है, एक जीवनको मरुभूमिके समान उजाड़ बना दिया है, एक कुलकामिनीको डुबा दिया है," तो यह संसार हँसकर उस बातको उड़ा देगा। कहेगा, "तुमने आप अपना सर्वनाश किया है; उसका दोष क्या है। शिकारीका रोजगार ही हत्या करना है। पुरुषका स्वभाव ही स्त्रीका सर्वनाश करना है। तुमने क्यो अपनेको फँसा दिया!"—तुमको कोई दोष न देगा।—मेरे अगर सौ जबानें होतीं, और हरएक जबान डंकेकी चोट उस बातको प्रकट कर सकती, तो भी ससार पत्थरकी तरह निश्चल स्थिर होकर उसे सुना करता। मकान गिरकर चूरचूर न हो जाते, वृक्ष जल न उठते। सब पहलेकी तरह जैसेके तैसे खड़े रहते।—लेकिन तुम अपने भयानक भविष्यका खयाल करके काँप उठो, काँप उठो, काँप उठो।

गौरी०—चिल्लाओ नहीं।

हीरा—चिल्लाऊँ नहीं!—अगर हो सकता तो इतने जोरसे चिल्लाती कि उससे आकाश चौ-चीर होकर फट जाता। उस चिल्ला-

हटमे जगत्‌के सारे आर्त्तनाद एक साथ सुन पड़ते। उससे ईश्वरका आसन हिल उठता। लेकिन—हाय भगवान्!—मनुष्यको इच्छा इतनी प्रबल और शक्ति इतनी दुर्बल क्यों दी!

(मत्थेमें हाथ दे मारती है और पागलोंकी तरह जल्दीसे भाग जाती है।)

चौथा दृश्य।

स्थान—सुन्नीका घर।

समय—तीसरा पहर।

[सुन्नी गाती है।]

सोहनी। गजल।

सूर्य होते अस्त सन्ध्याके समय—आहें भरूँ।
देरतक मैं दूरतक आकाशको ताका करूँ॥
जब कि सोऊँ रातको रोऊँ पड़ी एकान्तमें।
तर करूँ तकिया, कहो कैसे अहो धीरज धरूँ॥
वह उषा आकर निरादर कर पलट जाती है फिर।
वायु विषवर्षा करे बिस्तरपै मैं तड़पा करूँ॥
यह सुबहका चहचहाना पक्षियोंका, कानमें—
शूलसा लगता, विवश हूँ, यत्न इसका क्या करूँ॥
मैं न जानूँ, कौन अपना है, किसे अपना कहूँ।
सब यहाँ आवें, हसें, चल दें: कहो किसपर मरूँ।
और लोगोंके लिए ही है हमारी जिन्दगी।
औरका जीवन बिताती हूँ, सभीका दम भरूँ॥
मैं न जाने किस लिए जीती हूँ, जीवन व्यर्थ है।
है न कुछ उद्देश्य इसका, सबका मुँह ताका करूँ॥
आँखसे आँसू न निकलें, उनको पी जाती हूँ मैं।
सब तरह अपमान सहती हूँ मिटाकर आबरू॥

[उस्तादजीका प्रवेश।]

मुन्नी—आइए उस्तादजी !—मेरी तबियत आज ठीक नहीं है ।

उस्ताद—ठीक नहीं है !—क्या हुआ बेटी ?

मुन्नी—तबियत अच्छी नही है, और कुछ नहीं । अभी मै एक गीतकी कसरत कर रही थी ।

उस्ताद—बहुत अच्छी बात है—लेकिन—

मुन्नी—(हँसकर) उस्तादजी, आपकी हर बातमे एक 'लेकिन' जरूर ही होना चाहिए ।

उस्ताद—ओहो ! समझ गई । लेकिन वह हमारी आदत हो गई है ।—लेकिन—(मुन्नी जोरसे हँसती है ।)

उस्ताद—कैसी मीठी आवाज है ! तुम्हारी हँसी ही गीतसे बढ़कर सुरीली और रसीली है—अब और क्या गीत गाओगी बेटी ।

मुन्नी—यह हँसी सुनकर ही क्या कोई रुपया दे देगा उस्तादजी !

उस्ताद—नही देगा तो क्या हर्ज है—

मुन्नी—खाना-पीना कैसे चलेगा ?

उस्ताद—यह बेशक मुश्किलकी बात है । लेकिन गीत बेचनेकी चीज नही है । गाओगी दिलसे, जो सुनेगा वही मशगूल हो जायगा। गुल क्या बुलबुलके लिए रग-बेरंग हँसी हँसता है बेटी ?

मुन्नी—बहुत खूब !—अच्छा तो आज सलाम करती हूँ उस्तादजी !

उस्ताद—सलाम ! क्या कल आऊँ ?

मुन्नी—जी हॉं कल जरूर आइए । आदाब !

उस्ताद—वंदगी !　　　　　　(प्रस्थान ।)

मुन्नी—तुमने सच कहा उस्तादजी—यह गाना बेचकर खाना होगा ! और भी एक बात, मुझे दुख होगा यह सोचकर, तुमने नहीं कही । ले-

हृदमें जगत्के सारे आर्त्तनाद एक साथ सुन पड़ते। उससे ईश्वरका आसन हिल उठता। लेकिन—हाय भगवान्!—मनुष्यको इच्छा इतनी प्रबल और शक्ति इतनी दुर्बल क्यों दी!

(मत्थेमें हाथ दे मारती है और पागलोंकी तरह जल्दीमे भाग जाती है।)

चौथा दृश्य।

स्थान—मुन्नीका घर।

समय—तीसरा पहर।

[मुन्नी गाती है।]

सोहनी। गजल।

सूर्य होते अस्त सन्ध्याके समय—आहें भरूं।
देरतक मैं दूरतक आकाशको ताका करूं॥
जब कि सोऊँ रातको रोऊँ पडी एकान्तमें।
तर करूँ तकिया, कहो कैसे अहो धीरज धरूं॥
वह उषा आकर निरादर कर पलट जाती है फिर।
वायु विषवर्षा करे बिस्तरपै मैं तड़पा करूँ॥
यह सुबहका चहचहाना पक्षियोंका, कानमें—
शूलसा लगता, विवश हूँ, यत्न इसका क्या करूं॥
मैं न जानूं, कौन अपना है, किसे अपना कहूँ।
सब यहाँ आवें, हसें, चल दें. कहो किसपर मरूं।
और लोगोंके लिए ही है हमारी जिन्दगी।
औरका जीवन बिताती हूँ, सभीका दम भरूँ॥
मैं न जाने किस लिए जीती हूँ, जीवन व्यर्थ है।
है न कुछ उद्देश्य इसका, सबका मुँह ताका करूँ॥
आँखसे आँसू न निकलें, उनको पी जाती हूँ मैं।
सब तरह अपमान सहती हूँ मिटाकर आबरू॥

[उस्तादजीका प्रवेश।]

मुन्नी—आइए उस्तादजी !—मेरी तबियत आज ठीक नहीं है ।

उस्ताद—ठीक नहीं है !—क्या हुआ बेटी ?

मुन्नी—तबियत अच्छी नहीं है, और कुछ नहीं । अभी मैं एक गीतकी कसरत कर रही थी ।

उस्ताद—बहुत अच्छी बात है—लेकिन—

मुन्नी—(हँसकर) उस्तादजी, आपकी हर बातमें एक 'लेकिन' जरूर ही होना चाहिए ।

उस्ताद—ओहो ! समझ गई । लेकिन वह हमारी आदत हो गई है ।—लेकिन—(मुन्नी जोरसे हँसती है ।)

उस्ताद—कैसी मीठी आवाज है ! तुम्हारी हँसी ही गीतसे बढ़कर सुरीली और रसीली है—अब और क्या गीत गाओगी बेटी ।

मुन्नी—यह हँसी सुनकर ही क्या कोई रुपया दे देगा उस्तादजी !

उस्ताद—नहीं देगा तो क्या हर्ज है—

मुन्नी—खाना-पीना कैसे चलेगा ?

उस्ताद—यह बेशक मुश्किलकी बात है । लेकिन गीत बेचनेकी चीज नहीं है । गाओगी दिलसे, जो सुनेगा वही मशगूल हो जायगा। गुल क्या बुलबुलके लिए रंग-बेरंग हँसी हँसता है बेटी ?

मुन्नी—बहुत खूब !—अच्छा तो आज सलाम करती हूँ उस्तादजी !

उस्ताद—सलाम ! क्या कल आऊँ ?

मुन्नी—जी हाँ कल जरूर आइए । आदाब !

उस्ताद—बदगी ! (प्रस्थान ।)

मुन्नी—तुमने सच कहा उस्तादजी—यह गाना बेचकर खाना होगा ! और भी एक बात, मुझे दुख होगा यह सोचकर, तुमने नहीं कही । ले-

किन वह बात इसी बातके भीतरसे व्यक्त होती है।—सबसे बढकर दुःख यह है कि इस रूपको बेचकर पेट पालना होता है! स्त्रीका रूप —जो ईश्वरका श्रेष्ठ दान है; स्त्रीका रूप—जो इन्द्रधनुषके समान उस अनादि उज्ज्वल रूपको रंजित करता है; स्त्रीका रूप—जिसकी महिमासे पृथ्वी गर्वके साथ सिर उठाकर स्वर्गको द्वन्द्वयुद्धके लिए ललकारती है, मानों कहती है—दिखाओ, इसके समान तुम्हारे पास क्या है, स्त्रीका रूप—जिसके चरणोमे सारे ससारका सौन्दर्य आकर सिर झुकाता है; जिसकी ओर देखकर शब्दसंगीत बज उठता है, भाषा छन्दोंमें स्वच्छन्दरूपसे गा उठती है, ज्ञान पागल हो उठता है, भक्ति घुटने टेककर प्रणाम करती है, जिस सौन्दर्यके कोमल हाथके स्पर्शसे पशु भी वश हो जाता है; वही स्त्रीका रूप वेचकर खाना पड़ता है! ओः! (टहलते टहलते सहसा बड़े आईनेमें अपना प्रतिबिंब देखकर) वह कौन!—नहीं, मेरी ही परछाहीं है!—(देखना) महिमामय ईश्वर, [illegible]स रूपको पुण्य गदे भावसे छू सकता है! इस रूपको देखकर [illegible] विस्मय और भक्तिके साथ इसके चरणोंके नीचे आकर लोट न [illegible]? तब भी इस रूपको लालसाके ग्राससे बचानेके लिए अस्त्र [illegible] निकलना पड़ता है!—आश्चर्यकी बात है!

[दासीका प्रवेश।]

मुन्नी—(चौंककर) कौन!

दासी—लाला गोपालदास आये हैं।

मुन्नी—दुतकार दे! कुत्ते झपटा दे!

दासी—दुतकार दूँ?

मुन्नी—हाँ—निकालो! निकालो!

दासी—यह क्या!—क्या कहती हो! यह क्या कर रही हो!

मुन्नी--बस बस जा, चले जानेके लिए कह दे । कह दे, मैं उनसे मुलाकात नहीं करूँगी ।

दासी--अगर वे पूछें--'क्यो ?'

मुन्नी--कुछ जवाब न देना ।--अच्छा जवाब दे देना ! कहना, मैं उनसे नफरत करती हूँ ।--(तेजीसे प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान--लक्ष्मीका घर ।

समय--रात ।

[लक्ष्मी और दीनानाथ खड़े हुए बातचीत कर रहे हैं ।]

लक्ष्मी--मुझे अब जीनेकी साध नहीं रही--लड़केकी बहू आगई है । अब बस भगवान् मौत दे दे । ईश्वर ! पार लगाओ किसी तरह !

दीना०--इतनी जल्दी क्या है ।--और भी थोड़ा देखे जाओ ।

लक्ष्मी--अब और देखना नहीं चाहती भैया !--कौन जाने, इसके बाद क्या होगा !--दिन रहते ही खिसक जाना अच्छा है ।

दीना०--वह देखो, भगवानदास आ रहा है ।

[भगवानदासका प्रवेश ।]

भग०--अम्मा !

लक्ष्मी--क्यों बेटा ! (दीनानाथकी ओर देखना ।)

दीना०--मेरी ओर क्यों देख रही हो !--ओः ! समझा । मैं जाता हूँ ।

(प्रस्थान ।)

लक्ष्मी--(भगवानदासके कन्धे पर हाथ रखकर) क्यो बेटा ! तुम्हारा मुँह कुछ उदास देख पड़ता है ! (आग्रहके साथ) क्या हुआ बेटा ?

भग०--अम्मा, तुमने बहूसे बक-झक की है ?

लक्ष्मी--बहूने क्या कुछ तुमसे कहा है ?

किन वह वात इसी बातके भीतरसे व्यक्त होती है ।—सबसे बढ़कर दुःख यह है कि इस रूपको वेचकर पेट पालना होता है! स्त्रीका रूप —जो ईश्वरका श्रेष्ठ दान है; स्त्रीका रूप—जो इन्द्रधनुषके समान उस अनादि उज्ज्वल रूपको रंजित करता है; स्त्रीका रूप—जिसकी महिमासे पृथ्वी गर्वके साथ सिर उठाकर स्वर्गको द्वन्द्वयुद्धके लिए ललकारती है, मानों कहती है—दिखाओ, इसके समान तुम्हारे पास क्या है, स्त्रीका रूप—जिसके चरणोमें सारे ससारका सौन्दर्य आकर सिर झुकाता है; जिसकी ओर देखकर शब्दसंगीत वज उठता है, भाषा छन्दोंमें स्वच्छन्दरूपसे गा उठती है, ज्ञान पागल हो उठता है, भक्ति घुटने टेककर प्रणाम करती है, जिस सौन्दर्यके कोमल हाथके स्पर्शसे पशु भी वश हो जाता है; वही स्त्रीका रूप वेचकर खाना पड़ता है ! ओः ! (टहलते टहलते सहसा वड़े आईनेमें अपना प्रतिबिंब देखकर) वह कौन !—नहीं, मेरी ही परछाहीं है !—(देखना) महिमामय ईश्वर, इस रूपको पुरुष गंदे भावसे छू सकता है ! इस रूपको देखकर '९१ विस्मय और भक्तिके साथ इसके चरणोके नीचे आकर लोट न ।। ? तब भी इस रूपको लालसाके ग्राससे वचानेके लिए अस्त्र कार निकलना पड़ता है !—आश्चर्यकी बात है !

[दासीका प्रवेश।]

मुन्नी—(चौंककर) कौन !

दासी—लाला गोपालदास आये हैं ।

मुन्नी—दुतकार दे ! कुत्ते झपटा दे !

दासी—दुतकार दूँ ?

मुन्नी—हॉ—निकालो ! निकालो !

दासी—यह क्या !—क्या कहती हो ! यह क्या कर रही हो !

मुन्नी—बस चल जा, चले जानेके लिए कह दे । कह दे, मैं उनसे मुलाकात नहीं करूँगी ।

दासी—अगर वे पूछें—'क्यों ?'

मुन्नी—कुछ जवाब न देना ।—अच्छा जवाब दे देना ! कहना, मैं उनसे नफरत करती हूँ ।—(तेजीसे प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—लक्ष्मीका घर ।

समय—रात ।

[लक्ष्मी और दीनानाथ खड़े हुए बातचीत कर रहे हैं ।]

लक्ष्मी—मुझे अब जीनेकी साध नहीं रही—लड़केकी बहू आगई है । अब बस भगवान् मौत दे दे । ईश्वर ! पार लगाओ किसी तरह !

दीना०—इतनी जल्दी क्या है ।—और भी थोड़ा देखे जाओ ।

लक्ष्मी—अब और देखना नहीं चाहती भैया !—कौन जाने, इसके बाद क्या होगा !—दिन रहते ही खिसक जाना अच्छा है ।

दीना०—वह देखो, भगवानदास आ रहा है ।

[भगवानदासका प्रवेश ।]

भग०—अम्मा !

लक्ष्मी—क्यों बेटा ! (दीनानाथकी ओर देखना ।)

दीना०—मेरी ओर क्यों देख रही हो !—ओः ! समझा । मैं जाता हूँ ।　　(प्रस्थान ।)

लक्ष्मी—(भगवानदासके कन्धे पर हाथ रखकर) क्यों बेटा ! तुम्हारा मुँह कुछ उदास देख पड़ता है ! (आग्रहके साथ) क्या हुआ बेटा ?

भग०—अम्मा, तुमने बहूसे बक-झक की है ?

लक्ष्मी—बहूने क्या कुछ तुमसे कहा है ?

भग०—नहीं—तुम वक रही थीं; मैंने अपने कानसे सुना है।

लक्ष्मी—अपने कानसे ही जब सुना है—तब क्यों पूछ रहे हो कि मैंने वक-झक की है या नही?—हॉ वेटा, मैंने वहूको वक-झक की है।—गिरिस्तीके कामकाज सिखानेमें वीचवीचमे कुछ धमकाना और वकना ही पड़ता है।

भग०—उसे कामकाज सीखनेकी जरूरत ही क्या है?

लक्ष्मी—वापरे! कामकाज सीखे विना कहीं काम चल सकता है!—मैं तो सदा वनी ही नहीं रहूँगी। एक दिन गिरिस्तीके सव काम उसे ही तो देखने पड़ेंगे।

भग०—जव जरूरत होगी, देखा जायगा।—अभी क्या जरूरत है।

लक्ष्मी—वहू-वेटियोको घर गिरिस्तीके कामकाज सीखना जरूरी होता है—उसमे अभी और तभी क्या!—इसके सिवा अव मैं वूढ़ी हो गई हूँ—अकेले सव काम होता भी नही।

भग०—अव तक तो होता था!—अम्मा मै वहू लाया हूँ, दासी नहीं। मेरी कमजोर औरतसे कामकाज न हो सकेगा।

लक्ष्मी—(कुछ देरतक विस्मयसे पुत्रकी ओर ताककर धीमे स्वरमें) अच्छा।—सो—अच्छा जवतक जियूँगी, मैं ही करूँगी।—तू अपनी औरतको गुड़ियाकी तरह सॅवार-सिंगार कर आलेमे विठा दे।

भग०—ना, वहू अव यहॉ नहीं रह सकेगी। उसकी तन्दुरुस्ती खराव हो रही है। तुम उसकी विलकुल चिन्ता नहीं रखती। इसके सिवा!—

लक्ष्मी—इसके सिवा—रुक क्यो गये!—कह डालो वेटा।

भग०—सच कहनेमे संकोच ही क्या !—वह बड़े घरकी लड़की है—किसीकी लाल आँख उसने कभी नहीं देखी । तुम जो कर सकती हो, सो उससे नही होसकता ।

लक्ष्मी—ओः !—अच्छा !—मैं अब बहूसे एक बात भी नहीं कहूँगी ।

भग०—नहीं—और वह उसके—नहीं—वह अपने दादाके पास चली जायगी ।

लक्ष्मी—ठीक है! तेरे ददियाससुर लखनऊमें है, और तेरा कालिज भी लखनऊमे है—इसीसे !—क्यों ?

भग०—नही अम्मा, इसलिए नहीं ।—वह यहो देहातमें नहीं रह सकेगी ।—इस टूटेफूटे झोपड़ेमे उससे न रहा जायगा। खासकर तुम उसका कुछ भी खयाल नहीं करतीं । वह अपने घर चली जायगी ।

लक्ष्मी—और यह उसके गैरोका घर है !—अच्छी वात है !—पर वह क्यों जायगी !—मै ही जाती हूं ! मै काशीवास करूंगी । अबसे पहले ही मुझे सब छोड़कर काशीवास करना चाहिए था। यदि ऐसा किया होता तो तेरा वही मातापरका स्नेह हृदयमें रखकर मर सकती। मै तेरी माता हूँ—आज एक पराई लडकी आकर मुझे मेरी जगहसे हटाये देती है—यह भी देखना पड़ा ! ईश्वर ! मै बुढापेमे भी घर-गिरिस्तीमे फँसी हुई हूँ, सब भूल चुकी हूँ, तो भी लड़केका खयाल मेरे जीसे नही हटता । जिस समय सब कुछ तुम्हारे चरणोमे विसर्जन कर देना चाहिए था उस समय मै ससारमे रची-पची रही । उसकी सजा तुमने खूब दी भगवान् !—सिर झुकाकर उसे स्वीकार करती हूँ । —वस अब और नही । भगवानदास, तू मेरी काशीयात्राका प्रबन्ध कर दे ।

भग०—अच्छा! कल ही कर दूँगा!

लक्ष्मी—अपनी स्त्रीको लेकर तू सुखसे घरगिरिस्ती कर। मैं सुन कर ही सुखी होऊँगी। तू सुखसे रह बेटा! और कुछ न चाहिए! लेकिन यह बात सदा मेरी छातीमें काँटेकी तरह खटकती रहेगी कि तूने स्त्रीको मासे भी बढकर समझा।—न जाने कहाँकी बेहया जल-मुही बहू—

भग०—बस, मुँह सँभालकर बात करो। वह जल्मुही है या तुम जल्मुही हो?

[दीनानाथका प्रवेश।]

दीना०—चुप रह बे-अदब! माको जवाब देता है! अपना सर्वनाश करने बैठा है अभागे!—निकल बाहर हो घरसे!

भग०—यह किसका घर है?

दीना०—बुआ (लक्ष्मी) का घर है।—अभी तेरी मा मरी नहीं, जाने रहना। जा, तू अपनी माका त्याज्य पुत्र है। माको जवाब देता है!—बुआ! तुम्हारा यह त्याज्य पुत्र है। इसे बाहर निकाल दो घरसे!—बुआ!

लक्ष्मी—नहीं नहीं—वह अभी बच्चा है—अभी बच्चा है! बच्चेसे क्या मैं यह कह सकती हूँ! लड़केसे क्या मैं यह कह सकती हूँ कि 'निकल जा घरसे।' यह कहीं हो सकता है दीनानाथ! मैं मा हूँ मा!—बेटा, मैं तेरी बहूसे अब एक भी बात नहीं कहूँगी। वह मेरे घरकी राजरानी होकर रहे। मैं उसकी ताक रक्खूँगी, उसका दासीपना करूँगी। केवल तू मुझे उसी तरह प्यार कर जिसतरह एक समय करता था। मेरे गलेसे लिपटकर उसी तरह दुलारके साथ हँस-कर मुझे 'अम्मा' कहकर पुकार, जिस तरह पहले पुकारता था। बूढ़ी हो गई हूँ। अब और के दिनकी जिन्दगी है! उसके बाद तू

मु॰ लक्ष्मी—मैं भूल जाना।—मैं भी फिर तुझे देखने न आऊँगी। हो जितने दिन जीती हूं उतने दिन अपनी माको इसी दृष्टिसे देख—मेरे बच्चे! (कांपते कांपते भगवानदासके पैरों पर गिर पड़ती है।)

[सरस्वतीका प्रवेश।]

सरस्व०—यह क्या करती हो अम्मा! यह क्या करती हो।—लड़केके पैरो पर मा पड़ी हुई है।—उठो अम्मा, पृथ्वी उलट जायगी. सूर्य आकाशसे गिर पड़ेगा, आकाश जम जायगा. समुद्र सूख जायगा. ब्रह्माण्ड कांप उठेगा। (भगवानदाससे) क्या! चुपके सन्नाटेमें आकर मेरे मुंहकी ओर क्या ताक रहे हो!—इधर देखो। देखो, तुम्हारे पैरो पर माता पड़ी हुई है! (लक्ष्मीसे) उठो अम्मा। (उठाती है) नासमझ लड़केका अपराध क्षमा कर दो। (भगवानदाससे) फिर भी चुपचाप खड़े हो! हाथ जोड़ो। पैर पकड़ो—अपनी आंखोके आंसु-ओसे माताके पैर धो दो। किया क्या तुमने!

भग०—अम्मा, क्षमा करो। (पैर पकड़ता है।)

सर०—अम्मा अपने लड़केको गोदमे उठालो। और—मै तुम्हारी दासी हूँ। गिरिस्तीके कामकाज करना मायकेमे नहीं सीखा है, सो तुम सिखा लो।—मेरे अपराध क्षमा करो। (पैरों पर पड़ती है।)

लक्ष्मी—उठो बेटी! अगर क्रोधमे मैंने तुम्हे कुछ कहा हो तो उसे भूल जाओ। बूढी हो गई हूँ। बुद्धि ठिकाने नहीं है। मेरी बेटी!

(लक्ष्मी भगवानदास और सरस्वती दोनोंको छातीसे लगाती है।)

दीना०—(आंसू पोंछते पोंछते) हायरे माताकी ममता! ईश्वरने इस जातिको काहेसे बनाया है! इस मनुष्य-जीवनकी तपी हुई रेतीके बीच यह पुत्र-स्नेहका समुद्र उमड रहा है।—मनुष्यो, इसमे स्नान करो, इसे पान करो और पवित्र होओ।

दूसरा अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—लक्ष्मीका घर। **समय**—सन्ध्याकाल।

[लक्ष्मी और दीनानाथ।]

लक्ष्मी—मेरा भगवानदास जरूर आवेगा। बड़े दिनकी छुट्टियोंमे, सालभरके वाद, वह मेरे पास न आवेगा? इन छुट्टियोंमे वह सदा ही आता रहा है। आज मेरी तवियत खराब होनेकी खबर पाकर भी वह न आवेगा! यह भी कहीं हो सकता है दीनानाथ!

दीना०—कभी कभी बहुत दिनोंका अभ्यास एक दिनमें छूट जाता है वुआ!

लक्ष्मी—ना ना, ऐसा कहीं हो सकता है! ऐसा कहीं हो सकता है!

दीना०—खासकर ऐसा खराब अभ्यास!—माताकी भक्ति! मनुष्य नशेबाजीको नहीं छोड़ सकता, कुसंगको नहीं छोड़ सकता, लेकिन माको एक दिनमें छोड़ सकता है।

लक्ष्मी—छोड सकता है? मनुष्य भी छोड़ सकता है! हाँ, पशु अवश्य छोड़ सकता है।

दीना०—बहुतसे ऐसे मनुष्य हैं जिनमे और पशुओंमें यही अन्तर है कि पशुके चार पैर और पूँछ होती है, और मनुष्यके दो ही पैर होते हैं और पूछ नहीं होती।

लक्ष्मी—तुमने कहा था, उसने चिट्ठीमें लिखा है कि पहली तारीख-को आ जायगा । तभीसे मैं दिन गिन रही हूँ । आज पहली तारीख है । वह जरूर आवेगा ।—उसने चिट्ठी भी तो लिखी है ।

दीना०—चिट्ठी तो लिखी है । लेकिन उस चिट्ठीका अक्षर अगर तुम देखतीं बुआ ! पेन्सिलसे—चांचविचोआ—पढ़ना कठिन है । मानो घोड़े पर चढ़े-चढ़े लिखी है—और वह घोड़ा उस समय सरपट भाग रहा था । उसने मेरी चिट्ठीका जवाब जो दे दिया है यही मेरे लिए—तुम्हारे लिए—परम सौभाग्य है ।

लक्ष्मी—ना । मेरा भगवाना वैसा लड़का नहीं है । भगवाना और आवेगा, जरूर आवेगा । मेरा जी कह रहा है, आवेगा ।

दीना०—माताका जी बहुतसी झूठी बातें भी कहता है बुआ !

लक्ष्मी—(सहसा आग्रहके साथ) वह शायद आरहा है ।

दीना०—कहां ?

लक्ष्मी—वह गाड़ीकी घरघराहट नहीं सुन पड़ती ?

दीना०—सुन पडती है ।—ससारमे शायद भगवानदास ही अकेले गाड़ी पर चढ़ता है ।

लक्ष्मी—वह देखो देखो—वह गाडी—

दीना०—गाड़ी जरूर है, इसमे सन्देह नहीं ।

लक्ष्मी—चुप—नहीं—वह नहीं है, गाड़ी चली गई—

दीना०—हायरे माताकी ममता !

लक्ष्मी—अबकी बड़े दिनकी छुट्टी हुई है ?

दीना०—हाँ बुआ ! सिर्फ हुई ही नही, समाप्त भी हो आई है ।

लक्ष्मी—तो फिर—बच्चेकी तबियत तो नहीं खराब होगई ?

दीना०—हायरे माताका हृदय !

लक्ष्मी—मुझे ले चलो दीनानाथ! मै उसके पास जाऊँगी ।

दीना०—कहाँ जाओगी ?—समधियाने ? जाओ, देखोगी, तुम्हारा लड़का चन्द्रमाका अमृत पी रहा है, फूलोकी हवामे नहा रहा है । तुम जाकर उसका सुखका सपना मिटा दोगी । तुमको भी कष्ट पहुँचेगा और उसे भी व्यथा होगी ।

लक्ष्मी—यह भी कही हो सकता है कि छुट्टियोंमे वह घर न आकर अपनी सुसराल गया हो ! यह क्या हो सकता है !

दीना०—जाओ, जाकर देखो !

लक्ष्मी—तुम उसे नहीं जानते । मै उसे जानती हूँ । मैने उसे नौ महीने अपने पेटमे रक्खा है । वह वैसा लड़का नहीं है ।

दीना०—ईश्वरने किस सामग्रीसे यह माका हृदय बनाया है ! .. ! चबूतरे पर बैठकर राह देखनेसे ही क्या वह आ जायगा ? .के भीतर जाओ । ठण्ड पड़ रही है । तुम्हे बुखार चढ आया है । ..ज एकादशीका व्रत भी है । ठण्डमेसे उठ जाओ ।

लक्ष्मी—(उठकर) जाती हूँ भैया ।

दीना०—अच्छा तो मै जाता हूँ बुआ! कल सवेरे फिर आऊगा ! अब ठडकमें न बैठना, शाम हो आई है ! (प्रस्थान ।)

लक्ष्मी—मेरे जीवनकी भी शाम हो आई है !—भगवान् !—तो क्या सचमुच भगवाना नहीं आवेगा ! सचमुच ही क्या—यह क्या, गला क्यो रुँधा जाता है ! आंखोके आगे अँधेरा क्यों छाया जाता है !—नहीं, वह आवेगा !—वह आवेगा ! यह क्या हो सकता है ! अभी लड़का ही तो है!—नहीं, मै रातभर इसी चबूतरे पर बैठकर

उसकी राह देखूँगी । वह आवेगा ।—और अगर न आवे—वही शायद 'मा' कहकर पुकार रहा है । मैं आती हूं, मेरे बच्चे ! (दौड़कर जाना चाहती है ।)

[बूढ़े भिक्षुकका प्रवेश ।]

भिक्षुक—आज रातको ठहरनेके लिए जरासी जगह दो मा !

लक्ष्मी—ओः !—(दोनों हाथसे मुंह ढकना) । आओ बेटा ।

दूसरा दृश्य ।

स्थान—गौरीनाथकी बाहरी बैठक ।

समय—सबेरा ।

[गौरीनाथ और शिवदयाल ।]

गौरी०—नीलाम आज ही है ?

शिव०—हाँ आज ही है ।

गौरी०—आः ! पाँच हजार रुपये तुमको कही नही मिले ? इस मौके पर मेरे हाथमे भी नगद रुपये नही है । तुम और एक दफा जाओ । न पाओगे तो फिर बैंकसे उधार लेना होगा ! जाओ—

शिव०—अच्छा जाता हूँ । एक काम करूं !

गौरी०—क्या ?

शिव०—बुरा क्या है !—मियोंकी जूती और मियाँका सिर हो तो कैसा ? (हँसना और प्रस्थान ।)

गौरी०—क्या चाल सोची है !—इतना हँसता क्यो है !—लो वे प्रेमशकर और कालीचरण दोनो आ रहे है ।

[प्रेमशंकर और कालीचरणका प्रवेश]

गौरी०—क्यो प्रेमशंकर ! अचानक इस गरीबकी झोपड़ीमें पधारना कैसे हुआ ?

प्रेम०—कालीचरणजीके साथ टहलते टहलते और बाते करते करते भूलकर चला आया हूँ। जाता हूँ। (जाना चाहता है।)

गौरी०—अरे जाते हो क्यो! बैठो।—इस समय तुम्हारे भोला-नाथकी क्या हालत है। इस समय भी क्या दुनिया भरके लोग उनका गुणगान करते है?

प्रेम०—करेगे क्यो नही? अवश्य करते है।

गौरी०—इस समय भी क्या वे दोनो हाथोसे जी खोलकर अपनी दौलत गरीब-दुखियोंको लुटाते है?

प्रेम०—हाँ, लुटाते है।

गौरी०—अब है ही क्या, जो लुटाते है?

प्रेम०—यही चूनी-भूसी जो कुछ उनके पास है—

(गौरीनाथ हँसता है।)

काली०—गौरीनाथ! तुम्हें खूब आनन्द आ रहा है?

गौरी०—नहीं, आनन्द नहीं। मै भोलानाथके घमण्डको देखकर स्मित था। आज उनका वह विषका दाँत टूट गया है, यही रहा था—और कुछ नहीं।

प्रेम०—गौरीनाथ! भोलानाथजीमें अनेक दोष हो सकते है, ले-न घमण्ड तो मैने कभी देखा नहीं।—मिट्टीका बना हुआ मनुष्य घमण्ड कर सकता है।

गौरी०—मिट्टीका मनुष्य!—घमण्डके मारे धरती पर उनका पैर नहीं पडता था।

प्रेम०—यह आप क्या कह रहे है गौरीनाथ! वे राहमे पैदल ही चलते है, यद्यपि वे चाहे तो चार घोड़ोकी गाड़ी पर चल सकते है। क्या! हँस क्यों रहे हो?

गौरी०—वे पैदल चलते है, लेकिन सिर उठाकर । आसपास हम-लोगोकी तरफ फिर कर देखनेकी भी उन्हे फुर्सत नही है । वे हम लोगोंको घृणाकी दृष्टिसे देखते है ।

प्रेम०—वे संसारमे किसीको भी घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखते—तुमको भी नही । नही तो जो पापी है, जिसके दोनो हाथ दीन-दुखियोंके रक्तसे रँगे हुए है, जो इश्तिहार दबाकर छलसे जमींदारी चुराता है——

गौरी०—कौन कहता है ?

प्रेम०—मै कहता हूं ।

गौरी०—तुम मुझे बदनाम करते हो ?

प्रेम०—करता हूँ और करूंगा । तुम्हारे किये जो हो, कर लो ।

गौरी०—मै तुम्हें जेल भिजवा दूंगा !

प्रेम०—हिस !—मानो जेल भिजवाना तुम्हारे हाथहीकी बात है !—जेल भिजवाओगे—भिजवाओ न ।

गौरी०—तुमने मेरा अपमान किया है—इन्हीं कालीचरणजीके सामने ।

प्रेम०—जरूरत पड़े तो बाजारमे चिल्लाकर इस बातको कह सकता हूँ ! क्या यही चाहते हो ?

काली०—Tell it not in Gath, publish it not in the streets of Askelon. (भाषामें इसे न कहना । ऐसकीलनकी सडकोमे इसे प्रकाशित न करना ।)

गौरी०—यह बात तुम कह सकते हो कि मै धोखा देनेवाला हूँ ?

प्रेम०—धोखा देनेवाला ! अरे तुम्हारे योग्य विशेषण तो कोषमे खोजानेसे भी नहीं मिलता । चोर, लंपट, धोखेबाज आदि अनेक शब्द कोषमे है । किन्तु इन सब शब्दोंको मिलाकर तुम्हारा विशेषण बनानेसे भी तुम्हारा

ठीक वर्णन नही हो सकता । चाहे जितना कहूँ, कुछ न कुछ बाकी ही रह जाता है। चाहे जितना नीचे तक जाऊँ, पर तुम्हारी थाह नहीं मिलती। चाहे जितना मापूँ, पर तुम्हारा अन्त नहीं मिलता। इतिहासमें मैने तुम्हारे सदृश कोई चरित्र नहीं पढ़ा। संसारमे खोजनेसे भी तुम्हारी जोड़ी नही मिल सकती। तुम एक अनियम, तुम एक अपचार, तुम एक व्याधि और तुम एक कूड़ा-कचरा हो !

गौरी०—सुनते हो कालीचरण! तुमको गवाही देनी पड़ेगी। (प्रेमशंकरसे) तुम्हें जेल न भिजवाऊँ तो मेरा नाम गौरीनाथ नहीं।

प्रेम०—इसके लिए जेल जाना हो तो मै तैयार हूँ। तुमको पाजी न कहनेकी अपेक्षा जेल जाना बहुत सहज है। (प्रस्थान।)

काली०—गौरीनाथ तुम हार गये।

गौरी०—मैं क्यो हारने लगा !

काली०—' हारने लगा ' नहीं। हार गये। बीती हुई बात है। सकी अपेक्षा सहज, सरल, साफ-साफ, संस्कृतमिश्रित हिन्दीकी गाली न पहले कभी नहीं सुनी थी। और ऐसे निडर भावसे कह गया!— ही तो चाहिए—

Who dares think one thing and another tell
My heart detests him as the gates of hell

(जिसमें यह साहस है कि विचारे कुछ और, और कहे कुछ और, उससे नरक-द्वारकी तरह मेरा मन घृणा करता है।)

—लेकिन यह आदमी बिलकुल ही अकुतोभयभावसे कह गया।

गौरी०—कैसे ?

काली०—गालीगलौजका कोई अंश समझनेमें कष्ट नहीं हुआ। खूब फुर्तीके साथ कह गया। किसी जगह पर नहीं रुका। कहते कहते एक

दफा खाँसा तक नहीं। जरासा खाँसता तो भी मैं समझ लेता कि शायद खौफ खा रहा है। बीचबीचमें 'उत्प्रेक्षा' का भी उपयोग करना गया—जान पड़ा, गालियाँ दे रहा है, और साथ ही गालियाँ देनेके आनन्दका उपभोग भी कर रहा है! और अन्तमें जो गाली दी, उतनी जोरदार गाली तो पहले कभी किसीने किसीको भी न दी होगी।

गौरी०—क्या गाली?

काली०—यही कि तुमको पाजी न कहनेकी अपेक्षा जेल जाना बहुत सहज है।—I would rather go to hell than not call you a villain. (तुम्हें दुर्वृत्त न कहनेकी अपेक्षा मुझे नरक जाना स्वीकार है।) —किसने कहा है?—ठहरो, याद कर लूँ। अत्यन्त मौलिक है!—खूब है!

गौरी०—तुमको इसमें बड़ा मजा आ रहा है! कहो तुमको क्रोध करना चाहिए था—

काली०—क्रोध करता, अगर प्रेमशकर कोई भोंडी, सामान्य या छोटे लोगोंके समान गाली देता। लेकिन ऐसी सभ्य, सरस, प्राञ्जल और जोरदार—वाह! क्या बात है! मैं एक दिन दावत करूँगा।

गौरी०—किसकी?

काली०—प्रेमशकरकी। इसी रविवारको, दोपहरके समय। तुम भी आना; तुमको भी न्यौता देता हूँ। यह गालीगलौज और एक दफा सुनूँगा—याद रखना।—वाह क्या बात है!—लो, वे भोलानाथजी आ रहे हैं। तो अब मैं भाग जाऊँ।—ye connot serve both God and Mammon. (परमेश्वर और लक्ष्मी दोनोंकी उपासना एक साथ नहीं हो सकती।)

(प्रस्थान।)

गौरी०—फिर भी ये लोग लाखलाख मुँहसे भोलानाथकी बड़ाई करते है।—लेकिन भोलानाथ आज मेरे घरमे ! जान गया क्या ! निश्चय मेरे पैर पकड़कर प्रार्थना करने आया है। आओ तो भैया !— मैं कब छोड़ता हूँ।

[भवानीप्रसाद और भोलानाथका प्रवेश।]

भोला०—गौरीनाथ ! ये लो रुपये।—दो तो भवानीप्रसाद !

गौरी०—रुपये—कैसे ? (भवानीप्रसाद रुपये देते है) कितने है?

भोला०—पॉच हजार रुपये है।—जब हो सके, दे देना।

गौरी०—(विस्मयके साथ) रुपये ! क्यो !

भोला०—सुना है कि तुम्हें जरूरत है।—लो।

गौरी०—इनका व्याज ?

भोला०—व्याज काहेका ! सुना कि तुमको जरूरत है, इसीसे ले आया। लो। जब मुझे जरूरत हो तब तुम दे देना। यही बस ।६५। व्याज काहेका ! मुझ पर नाराज न होना। मुझे घृणा न करो। . प्यार करो, प्यार करो। गौरीनाथ—भाई !

(गलेमे लगाना चाहता है।)

गौरी०—इसकी लिखापढी ?

भोला०—लिखापढीकी कुछ जरूरत नहीं है। मुझे तुमपर विश्वास है। विश्वासमे ही मोक्ष है। विश्वासमे ही मुक्ति है। विश्वासके ही सहारे संसार चल रहा है। अविश्वासमे ही भ्रम है। अविश्वासमे ही नरक है। रसोई बनानेवाला ब्राह्मण भोजनमे विष मिला सकता है। नौकर पीछेसे आकर छुरा भोंक सकता है। इन सबका अबतक विश्वास करता आया हूँ। और तुम तो भले आदमी हो, तुम्हारा विश्वास नहीं करूँगा ? रुपये न फेरना हो, न फेरना। बदलेमे मै

केवल यही चाहता हूँ कि तुम मुझे प्यार करो, प्यार करो।—चलो भवानीप्रसाद! यह क्या, तुम आँसू पोछ रहे हो?

भवानी०—जी नहीं। मुझे इस समय एक कहानी याद आगई।

भोला०—याद आगई? यह क्या!

भवानी०—एक दिन एक भेड़ नारायणके पास गई थी, आप जानते है?

भोला०—गई थी? क्यो गई थी?

भवानी०—नालिश करने। जाकर कहा, विष्णुभगवान्, बाघ हम लोगोको पाते ही खा जाते है। आप इसका कुछ उपाय कीजिए।

भोला०—नारायणने इसका क्या जवाब दिया?

भवानी०—उन्होने यही कहा—"भाग भाग; तेरे चिकने-चुपड़े शरीरको देखकर तो खानेके लिए मेरी ही इच्छा डोल उठी है-तब बाघोकी कौन कहे। खानेके लिए ही तो विधाताने तुम्हे उत्पन्न किया है। नहीं तो वे कमसे कम सभ्य जानवरोकी तरहके दो पैने सीग देते, या सरपट दौड़नेवाले चार पैर देते"।

भोला०—हाः हा. हाः—

भवानी०—गौरीनाथ ये रुपये क्यो चाहते है, सो आप जानते है?

भोला०—जरूरत क्या है! उनको रुपयोकी जरूरत आ पड़ी है—इतना ही जानना यथेष्ट है।

भवानी०—तो भी सुन रखिए। गौरीनाथ इन्ही रुपयोंसे नीलामी इश्तिहार रद करके आपका ही एक ताल्लुका खरीदेगे। ताल्लुका नीलाम पर चढ गया है।

भोला०—नीलाम पर चढ़ गया है!

भवानी०—जी हाँ। आप उसके हाथमे एक छुरी देकर और गला आगे बढ़ाकर कहते है—बड़ी खुजली हो रही है।

भोला०—यह भी क्या हो सकता है भवानी।—छी ऐसी बात न कहो।—वह मनुष्य ही तो है।

भवानी०—आजकल मनुष्य मनुष्यको खा जाता है। राक्षसोकी अब जरूरत नहीं है, इसीसे वे अब इस पृथ्वी पर नही देख पड़ते।—भोलानाथजी! खुला संदूक पाकर साधु भी चोर हो जाता है।—गौरीनाथका कुछ दोष नही है।

भोला०—छी छी छी, ऐसा न कहो। यह भी कहीं हो सकता है भवानी। और यही अगर हो,—गौरीनाथ! मेरी सारी जमींदारी लो, मेरा सर्वस्व ले लो, केवल मुझे प्यार करो—प्यार करो।

भवानी०—भोलानाथजी!—मुझसे कहे विना रहा नहीं जाता। ।व न्! इस पापपूर्ण कलियुगमें भी ऐसे मनुष्य होते है!— ।ᐟ खरीदो, इसके बाद इन्हींके रुपयोसे यदि इनकी जमींदारी 'दन चाहो, और खरीद सको तो, खरीद लो।—आइए भोलानाथजी।

भोला०—चलो भाई।—गौरीनाथ. मुझे प्यार करो। मुझसे घृणा न भाई। (गले लगानेको तैयार होता है।)

भवानी०—चले आइए। सयाने सयानेसे गलेमिलौवल होती है। सयाने और भोलेभालेकी गलेमिलौवल है कलियुगमे धूर्त्तता।—आइए।

(दोनोंका प्रस्थान।)

गौरी०—यह क्या!—ऑखोमें ऑसू क्यो भर आये। नहीं मै बडा शैतान हूँ! ऐसा क्या काम है जो मैने नहीं किया, और क्या काम मै कर नहीं

भवानी०—जी हाँ। आप उसके हाथमे एक छुरी देकर और गला आगे बढाकर कहते है—बड़ी खुजली हो रही है।

भोला०—यह भी क्या हो सकता है भवानी।—छी ऐसी बात न कहो।—वह मनुष्य ही तो है।

भवानी०—आजकल मनुष्य मनुष्यको खा जाता है। राक्षसोकी अब जरूरत नही है, इसीसे वे अब इस पृथ्वी पर नही देख पड़ते।—भोलानाथजी! खुला संदूक पाकर साधु भी चोर हो जाता है।—गौरी नाथका कुछ दोष नही है।

भोला०—छी छी छी, ऐसा न कहो। यह भी कही हो सकता है भवानी। और यही अगर हो,—गौरीनाथ! मेरी सारी जमीदारी लो, मेरा सर्वस्व ले लो, केवल मुझे प्यार करो—प्यार करो।

भवानी०—भोलानाथजी!—मुझसे कहे विना रहा नहीं जाता। भगवान्! इस पापपूर्ण कलियुगमें भी ऐसे मनुष्य होते है!—गौरीनाथ खरीदो, इसके बाद इन्हींके रुपयोसे यदि इनकी जमीदारी खरीदना चाहो, और खरीद सको तो, खरीद लो।—आइए भोलानाथजी।

भोला०—चलो भाई।—गौरीनाथ, मुझे प्यार करो। मुझसे घृणा न करो भाई। (गले लगानेको तैयार होता है।)

भवानी०—चले आइए। सयाने सयानेसे गलेमिलौवल होती है। सयाने और भोलेभालेकी गलेमिलौवल है कलियुगमे धूर्त्तता।—आइए।

(दोनोंका प्रस्थान।)

गौरी०—यह क्या!—आँखोंमें आँसू क्यो भर आये। नहीं मै बड़ा बेईमान हूं! ऐसा क्या काम है जो मैंने नही किया, और क्या काम मै कर नही

सकता ! यह तो साधारण बात है !—भोलानाथ ! तुम मेरे मनको अपने इस व्यवहारसे गलाओगे ! मै ऐसा पत्थर नहीं हूं, जो पसीज उठूं ।

(हसते हुए प्रस्थान ।)

तीसरा दृश्य ।

स्थान—लक्ष्मीका घर ।

समय—पिछली रात ।

[लक्ष्मी मृत्युशय्या पर पडी है । पास ही दीनानाथ उपस्थित है ।]

लक्ष्मी—रामका नाम लो, रामका नाम लो । मै रामनाम सुनते सुनते मरना चाहती हूँ ।

दीना०—क्यो बुआ ! वैद्यजी कह गये है—कुछ डर नही है ।

लक्ष्मी—वैद्यजी ठीक कह गये है । मुझे कुछ डर नहीं है । मैंने कभी किसीका बुरा नही चेता । जो उचित समझा वही किया । मुझे भगवान् अपने चरणोमे स्थान देगे ही । तब काहेका भय !

दीना०—नहीं, मै यह कहता हूँ कि तुम जल्दी आराम हो जाओ मेरी बुआ ।

लक्ष्मी—मै अब आराम होना नहीं चाहती भैया । किस लिए जियूँ ? साठ बरसकी अवस्था हुई है । जिन्दगीमे दुःखके सिवा मै और कुछ नहीं जानती । पॉच लडके हुए ! चार चले गये । एक है; सो वह है भी पर भी नहीके बराबर है । अब और किस सुखके लिए जीना चाहूँ !

दीना०—भगवाना आवेगा । चिन्ता न करो । राहमे ही होगा ।

लक्ष्मी—(लबी सॉस लेकर) मै भी राहमे हूँ !

दीना०—मै कहता हूँ कि वह आवेगा। मै क्या झूठ कहता हूँ! उस दिन कहा था, वह नही आवेगा, वह नहीं आया। आज कहता हूँ, वह आवेगा, वह अवश्य ही आवेगा। माकी ऐसी बीमारीकी खबर पाकर भी क्या वह वहाँ बैठ रह सकेगा!

लक्ष्मी—आवेगा? आवेगा? कब?—अब और कब आवेगा? मरनेसे पहले अगर एक बार उसे देख पाती। नही देख पाई।

दीना०—ये सब कैसी बाते कर रही हो! छी!

लक्ष्मी—हायरे! मरनेके समय भी बारबार उसीकी याद आती है! कहाँ चाहिए कि भगवान्का नाम लूँ, पर लड़केका नाम याद आता है—रामका नाम लो। रामका नाम लो। लड़का कौन है! कोई नही। मेरे लड़का नहीं है, कभी नहीं था। दयामय! इस अन्तकालमे मुझे चरणोमें स्थान दो। इस अन्धकारमे मत छोड़ो!—भैया! क्या सचमुच मेरा भगवाना नहीं आया!

दीना०—आता है। घबराती क्यो हो बुआ! सो रहो।

लक्ष्मी—अब एकदम ही सो रहूँगी। भैया, मेरे मरजानेके बाद अगर भगवाना आवे तो उससे कहना, मै बडे सुखसे मरी हूँ, [illegible] समय मुझे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। वह आकर अगर रोवे, तो [illegible] से [illegible] सम-[illegible]—समझाना कि मरनेके समय मुझे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। [illegible] एक बार मरनेके समय उसे देखनेको जी चा[illegible] हो[illegible]—ना, [illegible] कहनेका कुछ काम नहीं। मेरे लालको दुख हो[illegible] कहना, [illegible] सुखसे [illegible] हूँ। और कुछ नही। और अगर वह न आवे—([illegible] जाता है।)

दीना०—हायरे माताकी ममता!—बुआ भगवानदास आरहे[illegible] है। आज रातको ही आ जायगा। जान पड़ता है, पहली गाडी नहीं मि[illegible] ।

लक्ष्मी—आवेगा ? आवेगा ? सच कहते हो ? वह आवेगा ? भैया कहो, वह आवेगा । सच हो, झूठ हो, कहो—वह आवेगा । यही विश्वास साथ लेकर मै परलोक सिधारूँ !—ना, वह नही आवेगा, वह नहीं आवेगा । (मुँह फिरा लेती है ।)

दीना०—सो रहो बुआ !

लक्ष्मी—यह लो सोती हूँ ।—तो भगवाना नही आया ! मै उसकी स्त्री पर बकी-झकी थी, इसीसे रूठकर लाल चला गया है; अब नहीं आवेगा ।—वे चिड़ियाँ बोलने लगी—क्यो ?

दीना०—हाँ बुआ ।

लक्ष्मी—तो सवेरा होगया ?

दीना०—हो ।

लक्ष्मी—तुम रात भर नही सोये ?

दीना०—सोया क्यो नही ।

लक्ष्मी—नही, तुम नही सोये । तुम रातभर मेरे सिरहाने बैठे रहे हो । मैने जब जब ऑख खोली है, देखा है कि तुम्हारा यह उतरा हुआ चेहरा—ये दोनो स्नेहपूर्ण नेत्र मेरी ओर देख रहे है । दीनानाथ, जाकर सोओ ।

दीना०—मै सो चुका हूँ बुआ ।

लक्ष्मी—वे पक्षी बोल रहे है ।—दीनानाथ ! खिड़की तो खोल दो भैया । एक बार अपने धानसे भरे हुए खेत, और पक्षियोके गानसे गूँजता हुआ अपना बाग, एक बार—अन्तिम बार जी भरकर देख लूँ । फिर तो देख पाऊँगी नहीं । खोल दो ।

(दीनानाथ खिड़की खोल देता है ।)

लक्ष्मी—यह वे ही सब है! अभीतक सन्नाटा छाया हुआ है। सब सो रहे हैं। और तुम जागो। मेरी ओर देखो। मै जाती हूँ, सदाके लिए तुम सबको छोडे जाती हूँ। देखो!—दीनानाथ!

दीना०—बुआ!

लक्ष्मी—एक बार जरा बाहर तो जाओ भैया, मै अपनी गऊको जरा देखूँगी। उसके बछड़ा पैदा हुआ है। उसे जरा ले आओ। मै देखूँगी।

दीना०—फिर देखना।

लक्ष्मी—नहीं दीनानाथ! फिर देखनेको समय न मिलेगा। जाओ भैया।

(दीनानाथका प्रस्थान।)

लक्ष्मी—वह 'वॉ वॉ' करके मुझे पुकार रही है। मै हर रोज अपने हाथसे उसे खानेको देती थी। किसी दिन अगर किसी कारणसे न दे सकती थी तो वह अच्छी तरह खाती न थी, दिन भर मुँह लटकाये रहती थी। मेरा उदास मुख देखकर उसकी ऑखोंमे ऑसू आ जाते थे!—वह फिर वॅ-वा रही है।—अरे मै यहाँ हूँ—धौली!—मैं यहाँ हूँ!—

दीना०—(नेपथ्यमें) यह देखो, बुआ मै ले आया।

लक्ष्मी—हॉ यही मेरी गऊ है!—धौली!—मै जाती हूँ!—अबसे [illegible]ना तुम्हारी देखरेख करेगा। दीनानाथ—भैया—बस—सब [illegible] हो आया है! भगवान्!—तो भगवाना सचमुच ही नहीं [illegible]। ई—श्व—र—(मृत्यु)।

[दीनानाथका प्रवेश।]

दीना०—बुआ बुआ!—दीपक बुझ गया।—एक बुलबुला समुद्रमें लीन हो गया। एक ओसका कण कमलके पत्तेसे ढुलक पडा।

एक पवित्र साम-गानका नाद उठकर आकाशमें लीन होगया।—जाओ बुआ, उस पार; जहां सब लोग जगदम्बाकी गोदमे सुखकी नींद सो रहे है । पुत्र—कन्या सब निठुर हैं । उनको भूल जाओ। माता जगदम्बाकी गोदमे शान्ति पाओ ।—मैया !—अपनी बेटीको गोदमें स्थान दो।

चौथा दृश्य ।

स्थान—भोलानाथके महलकी छत ।

समय—चॉदनी रात ।

[भोलानाथ और सरस्वतीका प्रवेश ।]

भोला०—क्यो सरस्वती ! कैसा लगता है ?

सर०—क्या ?

भोला०—जीवन ! खूब मधुर जान पड़ता है, क्यो !—जैसे एक अबाध वसन्त, अगाध ज्योत्स्ना—उसके आगे हमारा जीवन मानो किसी गिनतीका ही नहीं जान पड़ता ।—क्यो !

सर०—किस तरह ?

भोला०—जिस तरह जब कोई फिटन हॉकता जाता है तब उसके आसपास जो लोग पैदल चले जाते है वे उसे बहुत ही छोटे दर्जेके आदमी जान पड़ते है ।

सर०—किसने कहा ?

भोला०—तूने ।

सर०—कब कहा !

भोला०—अरे सब बाते क्या मुँहसे ही कही जाती है ! ऑखोसे भी बहुतसी बाते हुआ करती है !

सर०—हुआ करती है !

भोला०—नहीं होतीं !—वहू जैसे बड़े बूढ़ोंके दृष्टिजालके बीच घूँघटके भीतरसे नये स्वामीकी तरफ देख लेती है, वैसे ही आँखो-आँखोमें न जाने कितनी बातें हो जाती है।

सर०—कौनसी बाते ?

भोला०—उन वातोंका अर्थ यही होता है कि ये सब केवल संसारकी उलझनमें भटक-भटक कर मर रहे है; और जो कुछ म[illegible] है—वह हम और तुम लूट रहे हैं।

सर०—कभी नहीं।

भोला०—अरे नाराज क्यो होती है बेटी! मै सब जानता हूँ। मैं सदासे तो ऐसा था नहीं। मेरा भी एक जमाना था। तब—"मिलनमें सब गवाँया, विरहमे सब पाया।" का मामला था।—तब फूलोंका पराग पीता था, सुगन्धित वसन्त-पवनकी लहरोंमे ढुल पड़ता था। तेरी भी इस समय वही अवस्था है।—ले, 'मिथ्या'के राजत्वको अच्छी तरह भोग कर ले। शीघ्र ही यह सपना दूर हो जायगा।

सर०—दूर हो जायगा? सचमुच?—मुझे डर लग रहा है दादाजी!

भोला०—अभी इसमें देर है।—क्या मेरे प्रेमका इतिहास तूने [illegible]हीं सुना ?

सर०—नहीं। अच्छा अपने प्रेमकी रामकहानी सुनाइए ना!

भोला०—अच्छा तो सुन। और उसके साथ—अपना हाल मिला लेना। सुन!—प्रथम प्रणयमें चन्द्रमाके प्रकाशमे—अर्थात् छतके ऊपर जब हम दोनों जने अकेले बैठते थे, तब मै एक बार उस श्रीमुखकी ओर और एक बार चन्द्रमाकी ओर ताकता था—कौन अधिक सुन्दर है, सो कुछ निश्चय नहीं कर सकता था।

सर०—और वे नहीं देखती थीं ?

भोला०—कौन ?

सर०—दादीजी ।

भोला०—वे !—अरे बापरे !—और किसी ओर देखनेकी तो उन्हे मोहलत ही नहीं मिलती थी । लेकिन वे देखती क्या थीं, सो कुछ मेरी समझमे नही आता था ।—मेरी मूछोका ताव, या ऑखकी पुतली, नाककी गढन, या दाढीका कटा हुआ धानका खेत (क्योंकि दिन भी हजामत न बनानेसे वह खेत उग आता था)। वे जब आदर करके मेरे इस श्रीमुख पर हाथ फेरती ... पड़ता था, जैसे उस कटे हुए खेत पर कोई ... दादीजीकी रसोई इस चेहरेको देख । ... नकल्यानकी तान नही

सर०—देख रही हूँ ।

भोला०—कैसा चेह... तो न था ।—उसके वाद ?

सर०—... बैठक घर और भीतरी अन्तःपुर ये दो जुदी जुदी अच्छी तरह जान पडने लगा ।

भोला०—जान पड़ने लगा । उसके वाद ?

सर०—उसके वाद जो अवस्था हुई—वह बड़ी भयानक थी !

भोला०—(आग्रहके साथ) किस तरहकी !

सर०—आप—अर्थात् प्राणनाथने घरके पास एक अड्डा खोज ...—जिसमे प्राणनाथकी बातचीत प्रेयसीको न सुन पड़े—लेकिन ... तैयार होते ही चटसे प्राणनाथको बुलाया जा सके । उसके बाद ... तके समय गहनोकी फर्माइश करते करते प्रेयसीका खर्राटे लेना; ससारके झझटोका दुखडा रोते-रोते प्राणनाथकी निर्वाण-प्राप्ति; यवनिका पतन; सन्नाटेमे मच्छड़ोकी भनभनाहट ।—क्यो ।—मिलता है कि नही !—

भोला०—आश्चर्य ! बिलकुल ठीक मिल रहा है !—तूने यह सब जाना किस तरह ?

सर०—कल्पनासे । आपके तो कल्पनाशक्ति है ही नहीं !

भोला०—इतनी नहीं है ।

सर०—उसके बाद—सुनिए । उस समयकी अवस्थाके साथ ऋतुराज वसन्तका कोई सादृश्य ही नहीं लख पड़ता था । हाँ, वर्षाके साथ अवश्य ही कुछ कुछ मेल था ।

भोला०—वर्षाके साथ ?

सर०—कमसे कम उसके साथ गरजने, बरसने, और बिजलीके चमकनेका तो काफी मेल था ।—मिलता है कि नहीं ?

भोला०—अरे अक्षर अक्षर मिलता है ।—वह देख तेरा प्राणेश्वर दूर पर भूखे भिक्षुककी तरह तेरी तरफ ताक रहा है । उस दृष्टिका अर्थ यही है कि हट जा बूढ़े ।—लो मैं जाता हूँ ।—

(जानेको तैयार होता है ।)

सर०—जाइएगा क्यों ?

भोला०—ना ना, नहीं तो तेरा प्राणेश्वर चिढ़ जायगा ।

सर०—नहीं, चिढ़ेंगे क्यों ?

भोला०—मेरे यहाँ रहनेसे तुझे प्रेयसी कहकर पुकारनेमें तेरे प्राणेश्वरके ओठ चिपक जायँगे; ठीक उसी तरह हाथ पकड़कर, गर्दन बाँकी करके, मुखकी ओर देखकर हँसते हँसते कह न सकेगा—"प्रिये, मैं तुम्हारा ही हूँ ।"

सर०—अच्छा देखिए न ।

भोला०—देखूँगा ।—अरे भैया, इधर आओ । कूद आओ ! हाः हाः हाः—आओ भैया !—लो वह आ रहा है ।—चुप ।

[भगवानदासका प्रवेश]

भग०—(सिर झुकाये हुए) आप पुकार रहे है ?

भोला०—इस पुकारनेकी अपेक्षामें तुम थे कि नहीं !—इसे पहचानते हो ?—क्या ! चुप खड़े हो एकबार—क्या कहकर इसे पुकारते हो—पुकारो तो ! न हो, नाम लेकर ही पुकारो । ‘ सरस्वती—ई ई ई’—आहा, कैसा मधुर है ! मेरी ही जीभ मिठासके मारे चिपकी जाती है, तब तुम्हारी कौन कहे ।—तुमसे पुकारा ही क्यों जायगा । मेरा बहुत दिनोंका अभ्यास है, तब भी नाम लेकर पुकारते पुकारते मानो ढुल पड़ता हूँ और फिर भी देखता हूँ कि पुकारना पूरा नहीं हुआ ।

सर०—दादाजी, आप न जाने क्या क्या बे-सिरपैरका बक जाते है !

भोला०—यह उन्मादका प्रलाप है !—क्यो भैया, चुप क्यों हो ? सिर क्यों झुका लिया !—मगर मेरी पोतीकी ओर तिर्छी नजरसे देखते जाते हो । और वह भी—हूँ !

(सरस्वती हँस देती है ।)

भोला०—ओरे ! ओरे ! मै और तेरी दादी, दोनों ठीक इसी तरह करते थे रे, ठीक इसी तरह करते थे !—कैसे दिन गुजर गये ! (लबी साँस लेता है)—अच्छा अभी तक ऑखोंसे बातचीत हो रही थी, अब कुछ मुँहसे भी हो ।—बेटी ! मेरा नत-दमाद गूँगा है क्या ! अच्छा मै हटा जाता हूँ ! (प्रस्थान ।)

[भवानीप्रसादका प्रवेश ।]

भवानी०—दादाजी ! आप समझते है, कोई नहीं देखता ! देखता है—एक आदमी देखता है; और रोता है । आप जितना ही

हँसते है, वह उतना ही रोता है ! मुँहमे आपके हँसी और हृदयमे रोना है। जिसे पराये घर भेज देना होगा उसे इतना प्यार करना ठीक नही दादाजी। वह जन्मसे ही पराई सम्पत्ति है। लोग लड़कीके मर जाने-पर इतना रोते क्यो है, मालूम नहीं। (प्रस्थान।)

पर्दा बदलता है।

स्थान—महलकी छत।

समय—चॉदनी रात।

भगवानदास और सरस्वती।

भग०—तुम्हारे दादा तुमको खूब प्यार करते है ?

सर०—बहुत प्यार करते है !

भग०—तुम उन्हे प्यार करती हो ?

सर०—उन्हे ?—जगतमे मै और किसीको इतना प्यार नही करती। मै अपने दादाके लिए जानतक दे सकती हूँ।

भग०—और मेरे लिए ?

सर०—तुमसे अभी के दिनकी जान पहचान है ?

भग०—अच्छा—अच्छी बात है !

सर०—क्या, खफा हो गये ! (हाथ पकड़कर) छी.।—खफा न ओ।

भग०— (हाथ छुड़ाकर) जाओ, तुम मुझे प्यार नही करती।

सर०—करती हूँ। क्योंकि तुम मेरे स्वामी हो। यह प्यार करना अभ्यासकी बात है। और दादाको जो प्यार करती हूँ वह प्यार करना स्वाभाविक है।

भग०—वही अधिक है।

सर०—निश्चय । उनमे और तुममे बड़ा अन्तर है ।

भग०—क्या अन्तर है ?

सर०—मै अगर मर जाऊँ तो दादाजी शोकके मारे अन्धे हो जायँगे; और तुम सालके भीतर ही नई जोरू व्याह कर ले आओगे ।

भग०—कभी नहीं ।

सर०—अच्छा दिखा दूँगी ।

भग०—किस तरह ?

सर०—(हँसकर) सचमुच ही मरकर दिखा देनेको जी चाहता है कि मर्दोंकी जाति कैसी निठुर और झूठी होती है ।

भग०—कैसे ?

सर०—तुम लोग पहले प्यार दिखाते हो—समुद्रकी लहरोंकी तरह किनारे पर बाहु उठाकर मानो उसे ग्रास करनेके लिए आते हो । उसके बाद जी भर जाने पर उसी समुद्र-तरंगकी तरह शिथिल होकर किनारेपरसे फिर जाते हो ।

भग०—मैं तुम्हे उस तरह नहीं प्यार करता ।

सर०—किस तरह प्यार करते हो ?

भग०—मेरा यह प्यार आकाशकी तरह अनन्त, उदार और स्वच्छ है ।—इसका अन्त नहीं है, इसमें तृप्ति नहीं है । यह प्यार पहाड़की तरह अटल है, ध्रुवताराकी तरह स्थिर है ।—तुम हँस रही हो !—जाओ, तुम मुझे प्यार नहीं करतीं ।

सर०—मै तुम्हारी कविता सुन रही थी !—तुम्हारी मा कैसी हैं ? कोई चिट्ठी आई है ?

भग०—इस चर्चाके भीतर माका प्रसंग कहाँसे आ सकता है ?

सर०—यह प्रसंग इस चर्चाके भीतर नहीं, इसके बाहर है!—अच्छा ! 'मा' पदार्थ बहुत ही गद्यमय है । क्यों ?

भग०—क्यों ?

सर०—नहीं तो क्या तुम छुट्टियोंमें एक बार उनके पास जाते भी नहीं ! छुट्टियाँ सुसरालमें ही बिता दीं ! आँखोंकी लाज भी नहीं है ! यहाँ करते क्या हो ! वहाँ तुम्हारी मा शून्य दृष्टिसे तुम्हारी राह देख रही है ।

भग०—किसने कहा ?

सर०—मैं जानती हूँ । यह बात भी किसीके कहनेकी है ?—हाय स्वामी ! तुमने माको नहीं पहचाना । जिस दिन वे नहीं रहेंगी उसी दिन उन्हें पहचानोगे ।

भग०—तुमने पहचाना ?

सर०—हाँ—क्योंकि मेरे अब मा है नहीं । यह रत्न खोये बिना ठीक पहचाना नहीं जाता—इसकी कदर नहीं होती । तुम्हारी बूढ़ी मा आँखोंमें आँसू भरे तुम्हारी राह देख रही है, और तुम यहाँ एक तुच्छ स्त्रीके पैरोंमें पड़े हुए हो !—जिसे सालभर पहले पहचानते नहीं · जिसमें एक मात्र गुण है रूप और जवानी !

भग०—तो तुम्हारी यह इच्छा नहीं है कि मैं यहाँ रहूँ ।

सर०—मेरी इच्छा है कि यहीं रहो—लेकिन माको छोड़कर नहीं। प्रेमके चरणोंमें अपने स्वार्थकी बलि दे सकते हो—लेकिन कर्त्तव्य और मातृभक्तिकी नहीं ।

भग०—यह मेरे विचारनेकी बात है । तुम्हारा इसमें क्या !—तुम्हारा काम है मुझे आदर, आलिंगन और चुम्बन देना ।

सर०—मै तुम्हारी रखेल रंडी नही हूॅं। मै तुम्हारी स्त्री हूॅं।—तुम्हारे लिए मुझे डर मालूम होता है।

भग०—क्यो ?

सर०—जब माताका तुम्हे खयाल नहीं है तब नही जानती, तुम कौन पापकर्म नही कर सकते। मातृभक्ति—जो कर्त्तव्य सब कर्त्तव्योकी जड़ है, जीवनकी पहली महाशिक्षा है, मनुष्यप्रकृतिका अस्थिमज्जागत सनातन धर्म है; मातृभक्ति—जिसके कोमल करस्पर्शसे कर्त्तव्यकी कठिनता दूर हो जाती है, भक्ति और स्नेह हॅंस उठते है—जिस कर्त्तव्यको तर्ककी अपेक्षा नहीं है, जो कर्त्तव्य युक्तिकी सहायता नही चाहता, विधि और विधानको नहीं मानता; मातृभक्ति—जो एक स्वर्गीय प्रतिभासे मनुष्यजीवनको मण्डित कर देती है, आनन्दके साथ प्रकृतिके ऋणको चुकाती है, आत्माको स्फूर्ति देती है, अभ्यासगत सस्कारको जीवनका मूल मन्त्र बना देती है, मनुष्यकी सारी कोमल प्रवृत्तियोके ऊपर हुकूमत करती है, घटना-विपर्ययके ऊपर क्रीड़ा करती है, मृतप्राय शक्तिको जीवित करती है, और मृत्युकी भयानक अॅंधेरी घड़ीको प्रकाशित करदेती है; उस मातृभक्तिसे जो रहित है उस कगालके और क्या है ! वह जीवनमे क्या पापकर्म नही कर सकता ! इसीसे कहती थी—सावधान ! संसारमे मासे बढ़कर कोई नहीं है—बहन, कन्या, स्त्री, कोई नहीं है।—कहो, तुम्हारी मा अच्छी तरह है ?

भग०—हॉं।

सर०—झूठ ! जरूर वे अच्छी नहीं है। सच कहो। वे मॉंदी है ?

भग०—हॉं—लेकिन बहुत नहीं।

सर०—फिर झूठ ! मै तुम्हारी स्त्री हूॅं, मुझसे झूठ !—ना, मुझे जान पड़ता है तुम्हारी मा बहुत सख्त बीमार है ! क्यो ? क्या ! चुप

हो ! समझ गई । तुम्हारी मा इस समय कहाँ है ? मैं दासीकी तरह उनकी सेवा-टहल करूँगी। बीमारीकी हालतमे मै उनकी देखरेख करूँगी। तुम न जाओगे, मै जाऊँगी। बोलो, उनको क्या हुआ है ?

भग०—निमोनिया—और कुछ नहीं।

सर०—तो मैने जो सपना देखा, वह झूठ नहीं है ? मै उनके पास जाऊँगी। आज ही जाऊँगी। तुम यही रहो। बचपनहीमे मेरी मा मर गई है। सेवा करनेकी साध नहीं मिटी। 'मा' कह कर पुकारनेकी भी साध नहीं मिटी। अगर और एक मा पाई है तो अबकी उन्हे मा कहकर, सेवा करके, अपनी साध मिटाऊँगी। मै जाऊँगी।

भग०—इस अवस्थामें तुम्हारा कहीं जाना ठीक नहीं।

सर०—ठीक नहीं है ! तुम उनके लड़के होकर यह बात कह रहे हो !—तुम्हारी मा, जिन्होंने तुमको गर्भमें रक्खा है !—बोलो, तुम्हारी मा इस समय कहाँ है ?

[दीनानाथका प्रवेश।]

दीना०—स्वर्गमें ! उत्सव करो—खुशी मनाओ भगवानदास ! आफत दूर हो गई। उनके मृतशरीर पर तुम दोनो जनें ताण्डव नृत्य करो। तुम्हारी बला गई।

सर०—क्या वे मर गई ?

दीना०—वह ! धन्य है तुम्हारी यह बहुओंकी जाति ! तुम स्वामि- पशुओंसे भी अधिक अधम कर डालती हो, भाईको भाईका [illegible] बना देती हो, पुत्रको माताकी गोदसे छीन लेती हो ! धन्य है [illegible] तुम्हारी जाति ! बलिहारी !—और तू भगवानदास ! नीच, दुष्ट और माकी जान लेनेवाला है ! नरकमे भी तुझको स्थान न मिले—मैं तो यही कहूँगा ! मै तुझको शाप देता हूँ कि तू अगर सोना छुए तो

वह मिट्टी हो जाय। तू अपनी मरी हुई माताके मुखकी छाया देख देखकर सदा कॉपता रहे। मैं तुझे यही शाप दिये जाता हूँ। याद रखना।

पाँचवाँ दृश्य।

स्थान—बागकी बारहदरी।

समय—रात्रि।

[गौरीनाथके दोस्त लोग भिन्नभिन्न प्रकारकी अवस्थाओंमें उपस्थित हैं। वहाँसे कुछ दूरी पर भोजन बनानेवाले नौकर भोजनका सामान पात्रोंमें सजा रहे हैं।]

माधव—आजकी पार्टी (दावत) खूब जोरशोरके साथ होगी।

शारदा०—अबकी जान पड़ता है, दुर्भिक्ष पड़ेगा।

बुद्धूलाल—ओरे भग्गू तमाखू भर ले।

शंकर—मनोहरलालकी स्त्री बहुत मोंटी है।

शारदा०—यह साबित हो गया है कि बख्तियार खिलजीने 'नदिया' (नवद्वीप) पर हमला नहीं किया।

माधव—अबकी जाड़ा खूब पड़ रहा है।

नारायण—अजी गीतगोविन्द तुम्हे कैसा लगता है।

हरिदत्त—अरे भग्गू सोडावाटर भी लाया है?

चन्द्रभानु—तुम्हारे लड़के-बाले कै है?

शारदा०—अशोकके समयमे बौद्धधर्मका प्रचार नहीं हुआ। एक ताम्रपत्रका लेख मिला है।

काली०—सुनोजी! Give me a glass of liquid fire—distilled damnation (मुझे एक ग्लास तरल अग्नि—चिर-दण्डका-सत—दो) [गौरीनाथका प्रवेश।]

शंकर—लो ये गौरीनाथ बाबू आगये।

गौरी—कहाँ ! अभीतक नहीं आई ?

शंकर—जापानियोंने जिस दिन पोर्टआर्थर पर दखल किया था, उस दिन हमारे आफिसमें जो लोग रूसके पक्षमें थे उन्होंने तमाखू नहीं पी।

माधव—सचमुच !—वह देखो—

[सारंगियोंके साथ मुन्नीबाईका प्रवेश।]

चन्द्रभानु—हट जाओ, हट जाओ। बी साहबके लिए रास्ता कर दो, रास्ता कर दो।

(चन्द्रभानु सबको हटाकर रास्ता करता है। माधव चादरसे रास्ता झाड़ता है। बुद्धूलाल चादरसे मुन्नीके हवा करता है। शारदा शान्तभावसे तमाखू पीते पीते शंकरके साथ धीरे धीरे बातें करता है। बैजू जाकर मुन्नीका हाथ पकड़ता है और कहता है—"आइए।")

मुन्नी—हाथ छोड़िए। (छुड़ा लेती है।)

बैजू—अरे बापरे ! यह तो रण्डी नहीं, काला नाग है। एकदम फन फैलाकर फुफकार उठा ! आओ रानी ! (फिर हाथ पकड़ना चाहता है।)

मुन्नी—खबरदार, मुझे छूना नहीं।

बैजू—अजी गौरीनाथ ! (सिर घुमाकर इशारेसे प्रश्न करता है।)

काली०—अजी बी साहबकी भाषा तो एकदम अखबारी भाषा है—साधुभाषा है ! ये तो कोई बहुत ही भले मानुसोंमें है। Is she a vision! Or a fairy! She seems to me too fine to be a woman. (यह काल्पनिक चित्र है या अप्सरा ? मेरी समझमें नारी तो ऐसी सुन्दरी हो नहीं सकती।)

गौरी०—इतना नाराज क्यों होती हो रानी ! तुम तो वेश्या हो।

मुन्नी—जिसकी मा वेश्या और बाप वेश्यागामी है, वह वेश्या न होकर क्या स्वर्गकी देवी होगी? तो भी मै वेश्या नहीं हूँ।

[सब चौंककर मुन्नीकी ओर देखने लगते हैं।]

बुद्ध०—तुम वेश्या नहीं हो? तो तुम क्या सीता सती हो!

मुन्नी—हाय! अस्वीकार भी नहीं कर सकती। यह कलंक—यह दोष—विधाताने मेरे मत्थे पर दाग दिया है। मै क्या कर सकती हूँ! —जाने दो। साहब, गाना शुरू होगा?

गौरी०—तुमसे सिर्फ गानेके लिए कहा गया है, या नाचोगी भी?

मुन्नी—जी नहीं, सिर्फ गाऊँगी।

कामता०—और हम आँखे बंद करके सुनेंगे?—इसे क्या तुमने उपासनाका मन्दिर समझा है!

माधव—अच्छा गाओ।

मुन्नी—(सारंगीवालोंसे) छेड़ो।

(संगतके लोग फेंट बाँधते है।)

गौरी०—ठहरो! पहले ठीकठाक कर लूँ! (मुन्नीसे) तुम क्या सिर्फ गानेके लिए आई हो?

मुन्नी—जी हाँ।

गौरी०—सो न होगा।

मुन्नी—आपकी खुशी। (जाना चाहती है।)

गौरी०—जाती कहाँ हो!—पेशगी रुपये लेकर—

मुन्नी—(संगतवालोंसे) रुपये फेंक दो।

(एक सारंगीवाला नोट और रुपयोंकी पोटली फेंक देता है। मुन्नी और उसके साथी जाते हैं।)

माधव—ओः! एकदम क्वीन सेमिरेमिस् है।

बैजू—आजका मनोरंजनका सब सामान मिट्टी कर दिया।—अजी पुकारो—पुकारो। गाना ही हो। शिवदयालु! पुकारो।

(शिवदयालु बाहर जाकर मुन्नी और उसके साथियोंको बुला लाता है।)

गौरी०—अच्छा गाओ। तुम कैसी हो, सो आर दिन देख लूँगा।

मुन्नी—(साथियोंसे) सारगी मिलाओ।

(सगतके लोग तबला और सारगी मिलाते हैं।)

शारदा०—(शंकरसे) तुम महामूर्ख हो!

शकर—तुम वज्रमूर्ख हो।

शारदा०—सन् १४१५ ।

शंकर—सन् १४१६ ।

शारदा०—बेअदब!

शकर—चुप रहो!

गौरी०—क्या है! क्या हुआ! क्या हुआ!

शारदा०—Battle of Agincourt (अजिनकोर्टके युद्ध) का सन् १४१५ है।

शकर—नहीं, Battle of Agincourt (अजिनकोर्टके युद्ध) का सन् १४१६ है।

शारदा०—पाजी!

शकर—बेवकूफ!

शारदा०—आजाओ तो (आस्तीन चढता है।)

शकर—आओ न, देखूं (आस्तीन चढाता है।)

गौरी०—अरे करते क्या हो! करते क्या हो!—हुआ क्या?

शारदा०—Battle of Agincourt (घूसा तानता है।)

शंकर—हाँ Battle of Agincourt (घूसा तानता है।)

शारदा०—सन् १४१५ (हुकार)

शंकर—सन् १४१६ (हुकार)

चन्द्र०—अरे Battle of Agincourt किस सन्मे हुआ—इस बातको लेकर घूसे क्यो तानते हो ?—क्या यही इसका झगड़ा करना है ! यहो तो दिल वहलाने आये हो !

शारदा०—अच्छा—आओ, वाहर आओ । (धोती समेटकर बॉधता है ।)

शकर—आओ न (धोती समेटकर बॉधता है ।)

शारदा०—मैदानमे चलो ।

शकर—चलो ।

शारदा०—(कूदता हुआ) Battle of Agincourt.

शकर— (कूदता हुआ) Battle of Agincourt.

दोनो—Battle of Agincourt. (हुकारके साथ जाते हैं ।)

गौरी०—अरे ! ये करते क्या हैं ! Battle of Agincourt के लिए लोग लड़भिड़ क्यो रहे है !

काली०—वेशक दोनो वहादुर है ! सचमुच ही जैसे दोनो जने Battle of Agincourt करने गये हैं ! लॅगोटा मार लिया है, आस्तीने चढाली है, घूसे तान लिये है, कूदते-फॉदते है और क्या चाहते हो ? Strange all this difference should be betwixt "Tweedledum and Tweedledee (आश्चर्य है कि वेकार इतना विवाद हो रहा है ।)

गा[illegible]—क्यो साहव गाऊँ ?

[illegible]०—गाओ ।

काली०—ठहरो, पहले यह ठीक हो जाय कि, Battle of Agincourt किस सन्में हुआ ! मुझे बड़ी चिन्ता है ! रातको नींद नहीं आती।

(सबका हँसना ।)

गौरी०—तुम हिन्दीके पद भी गाती हो, या सिर्फ उर्दूकी गजले ?

मुन्नी—दोनों गाती हूँ।

काली०—तो फिर उर्दू ही गाओ—जिसे समझ सकूँ। Hindi is Greek to me. (हिन्दी मेरे लिए ग्रीक भाषा है।)

वैजू—नहीं, पहले एक हिन्दीका पद हो जाने दो। (सुरमें) "प्रेम है सबल सहायक संग।"

काली०—उस्ताद !

चन्द्र०—नहीं जी, उर्दू ही गाओ—ये सब रहने दो। उर्दू ही गाओ।

माधव—लेकिन अरबी न छाँटना।

बुद्धू०—हाँ अरबी—फारसी कोई नहीं समझेगा।

काली—देखो न, क्या गाती है। Perhaps it may turn out song perhaps turn out a sermon) कौन जाने, यह गीता हो या धर्मोपदेश।)

गौरी०—पहले एक हिन्दी गाओ।

मुन्नी०—जो हुक्म। (गाती है।)

पलकनसों पग झारों री मैं जब घर आवे मेरा प्या ।
गरवा लगाऊँ, तपन बुझाऊँ,—तन मन धन सब वारा ॥

[हीराका प्रवेश।]

वैजू—यह कौन है ?

गौरी०—(उसे देखकर चौंककर) तुम !—यहाँ !

हीरा—वाह ! खासा सजा हुआ विलासभवन है, चौड़ा साफ और दर्शनीय कमरा है, अलौकिक और हृदयको पागल बना देनेवाला संगीत है ।–(गौरीनाथसे) क्यो ! मुह पर कालिख क्यो आगई ? वह बात नही कहूँगी, डरो नहीं । राह राह जा रही थी, यहाँ रोशनी देख पड़ी, हँसीके साथ सुन्दर गानेकी आवाज सुन पड़ी; सोचा, जरा झाँक कर देखे जाऊं कि यहाँ प्रेतका नाच कैसा हो रहा है ।

गौरी०—तो–अब जाओ ।

हीरा—जरा ठहर ही जाऊँ तो क्या हर्ज है । बाहर घोर अन्धकार है । रास्तेमे तमाम कीचड़ ही कीचड़ है । जाड़ेकी ठंडी हवा चल रही है । बहुत दिन पहलेकी उस काल-रात्रिका स्मरण हो आया । जीमे आया, उस पाजी पापीको देखे जाऊँ ।

गौरी०—दरवान !

हीरा—कुछ कहती नहीं हूँ; डरो नहीं । इस समय इस सुसज्जित नाट्यशालामें, इस मधुर गीतसे गूँजते हुए प्रकाशपूर्ण विलास-भवनमे, अगर वह बात कहूँ—तो संगीत भयसे थम जायगा, प्रकाश आतङ्कसे मुँह छिपा लेगा, हँसी आर्त्तनाद कर उठेगी ।

गौरी—ए दरवान !

हीरा—उसके बाद उसी अन्धकारमे एकाएक मसानकी चिता भकसे जल उठेगी, सुगन्धित पवन सड़े हुए मुर्देकी दुर्गन्ध उगलने लगेगा, जमीन फोड़कर शैतान उछलने लगेंगे । नहीं, वह बात प्रकट नहीं करूँगी । उस बातको सुनकर बन्धु बन्धुके मुँहकी ओर आँख उठाकर देख न सकेगा, स्त्री अपने स्वामीके गले लगानेकी आड़मे छिपा हुआ छुरा देखेगी, सन्तान अपनी माताके दूधमे विप मिले होने-

का सन्देह करेगी। कुछ नहीं कहूँगी—डरो नहीं। तो भी जी चाहता है कि एक बार उस बातको जगत्के आगे प्रकट कर दूँ, फिर क्या होता है—सो जरा देखूँ। जरा कहकर देखूँ, क्या होता है।

गौरी—कहाँसे एक पगली आकर भिड़ गई है! निकालो इसे—

हीरा—क्या कहा पगली? निकालो इसे? तो कहूँ!—हाँ, कहूँगी। इस बातको फैला दूँगी! अब इसे दबाकर रक्खा नहीं जाता।—साहबो! मै पगली नहीं हूँ। मै जो बात आज कह रही हूँ वह पागलका प्रलाप नहीं है।

गौरी०—दरबान! दरबान!

(दरबानको पुकारता हुआ बाहर जाता है।)

हीरा—हम लोग ईश्वरको साक्षी मानते है, लेकिन ईश्वर कभी गवाही देने नहीं आते। वे हाथ समेटे बैठे है। मरा मनुष्य गवाही नही देता;—केवल स्थिर, आभाहीन, दृष्टिहीन नेत्रोंसे ताका करता है। मगर मै जो बात इस सभामे प्रकट करूँगी उसके हरएक अक्षरको चाहे जिस अदालतमे साबित कर सकती हूँ।—ना, मै पागल नहीं हूँ। यह दुर्बल, फटे चीथड़े पहने, रूखे बाल बिखेरे, धूलसे भरी हुई, कगाल औरत—एक अच्छे खानदानकी पढ़ी-लिखी औरत है।

[गौरीनाथका फिर प्रवेश]

गौरी०—दरबान गया कहाँ? निकल जा कहता हूँ, नहीं तो—

हीरा—साहबो, आप लोगोंके आगे यह जो एक सीधे-सादे भले-मानुसकी पोशाक पहने खड़ा है,—सो ठग, व्यभिचारी, हत्या—

गौरी०—(दौड़कर हीराका गला जोरसे दबाता है।) चुप रह—

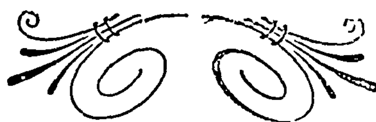
हीरा—बचाओ—बचाओ (गला छुड़ानेकी चेष्टा करती है) तो मै आज यह बात प्रकट करके मरूँगी।—बचाओ।

मुन्नी—सामने ही एक स्त्रीकी हत्या हो रही है; और सब मर्द पत्थरकी मूरतोंकी तरह चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे है। जब मर्द ऐसे नामर्द है—तब मर्दका काम स्त्री जातिको ही करना पड़ेगा। (दौड़कर गौरीनाथका गला पकड़ती है) छोड़ दो—छोडो अभी—नहीं तो—

गौरी०—(हीराको छोडकर) चुप रहो !(मुन्नीका गला पकडता है।)

मुन्नी—इसके लिए भी तैयार होकर आई हूँ (अपने शलूकेके नीचेसे उसी दम एक तेज और चमकता हुआ छुरा निकाल कर और गोरीनाथके हृदयको लक्ष्य करके) सावधान !

(गौरीनाथ उसी दम मुन्नीको छोडकर पीछे हटता है । मगर मुन्नी छुरा हाथमें लिये वैसे ही खडी रहती है। इसी बीचमें प्राय सभी महफिलके आदमी उठकर खडे हो जाते हैं और चुपचाप विस्मयके साथ मुन्नीकी ओर ताकते है। हीरा दोनों आँखें फाड कर मुन्नीको देखती है। फिर भयपूर्ण स्वरसे चिल्लाकर मुन्नीसे पूछती है—" कौन हो तुम ?--कौन हो तुम ? " इसके साथ मूर्छित हो जाती है।)



का सन्देह करेगी। कुछ नहीं कहूँगी—डरो नही। तो भी जी चाहता है कि एक वार उस वातको जगत्के आगे प्रकट कर दूँ, फिर क्या होता है–सो जरा देखूँ। जरा कहकर देखूँ, क्या होता है।

गौरी–कहाँसे एक पगली आकर भिड़ गई है! निकालो इसे—

हीरा—क्या कहा पगली? निकालो इसे? तो कहूँ!—हाँ, कहूँगी। इस वातको फैला दूँगी! अब इसे दवाकर रक्खा नहीं जाता।—साहवो! मै पगली नही हूँ। मै जो वात आज कह रही हूँ वह पागलका प्रलाप नहीं है।

गौरी०—दरवान! दरवान!

(दरवानको पुकारता हुआ वाहर जाता है।)

हीरा–हम लोग ईश्वरको साक्षी मानते है, लेकिन ईश्वर कभी गवाही देने नहीं आते। वे हाथ समेटे वैठे है। मरा मनुष्य गवाही नहीं देता:;—केवल स्थिर, आभाहीन, दृष्टिहीन नेत्रोंसे ताका करता है। मगर मै जो वात इस सभामे प्रकट करूँगी उसके हरएक अक्षरको चाहे जिस अदालतमे सावित कर सकती हूँ।—ना, मै पागल नही हूँ। यह दुर्वल, फटे चीथड़े पहने, रूखे वाल बिखेरे, धूलसे भरी हुई, कगाल औरत—एक अच्छे खानदानकी पढी-लिखी औरत है।

[गौरीनाथका फिर प्रवेश]

गौरी०—दरवान गया कहॉ? निकल जा कहता हूँ, नही तो—

हीरा—साहवो, आप लोगोके आगे यह जो एक सीधे-सादे भलेमानुसकी पोशाक पहने खडा है,—सो ठग, व्यभिचारी, हत्या—

गौरी०—(दौड़कर हीराका गला जोरसे दवाता है।) चुप रह—

हीरा—वचाओ—वचाओ (गला छुडानेकी चेष्टा करती है) तो मै आज यह वात प्रकट करके मरूँगी।—वचाओ।

मुन्नी—सामने ही एक स्त्रीकी हत्या हो रही है; और सब मर्द पत्थरकी मूरतोंकी तरह चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे हैं। जब मर्द ऐसे नामर्द है—तब मर्दका काम स्त्री जातिको ही करना पड़ेगा। (दौड़कर गौरीनाथका गला पकडती है) छोड दो—छोड़ो अभी—नही तो—

गौरी०—(हीराको छोडकर) चुप रहो !(मुन्नीका गला पकडता है।)

मुन्नी—इसके लिए भी तैयार होकर आई हूं (अपने शलूकेके नीचेसे उसी दम एक तेज और चमकता हुआ छुरा निकाल कर और गौरीनाथके हृदयको लक्ष्य करके) सावधान !

(गौरीनाथ उसी दम मुन्नीको छोडकर पीछे हटता है । मगर मुन्नी छुरा हाथमें लिये वैसे ही खडी रहती है। इसी बीचमें प्राय सभी महफिलके आदमी उठकर खडे हो जाते हैं और चुपचाप विस्मयके साथ मुन्नीकी ओर ताकते है। हीरा दोनों आँखें फाड कर मुन्नीको देखती है। फिर भयपूर्ण स्वरसे चिल्लाकर मुन्नीसे पूछती है—" कौन हो तुम ?—कौन हो तुम ? " इसके साथ मूर्छित हो जाती है।)



तीसरा अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—भोलानाथकी बाहरी बैठक ।

समय—सबेरा ।

[भोलानाथ, प्रेमशंकर और कालीचरण ।]

प्रेमशंकर—आप दोनों हाथोंसे संपत्ति लुटाये देते हैं—अन्तमें आपको हाथ धोकर राहमे बैठना पड़ेगा ।

भोला०—जब बैठना होगा, बैठूँगा ।

प्रेम०—तो भी लुटाये जायँगे ?

भोला०—जबतक है, जरूर लुटाऊँगा !

प्रेम०—अब और है क्या, जो लुटाइएगा ?

भोला०—इसके क्या माने! इस घरको क्या तुम साधारण संपत्ति समझते हो भैया !—और जमींदारी भी है ।

प्रेम०—जमींदारीके इलाके तो एक एक करके सब बिक गये ।

भोला०—कैसे !—तो फिर रुपये कहाँसे आते हैं ?

प्रेम०—ये रुपये तो नीलाममें मालगुजारी अदा करनेसे बची हुई है । आपको यह भी नहीं मालूम ? आप जानते हैं, इस समय आपकी जमींदारीकी आमदनी कितनी है ?

भोला०—कितनी है ?

प्रेम०—आपको कुछ भी खबर नहीं है ?

भोला०—नहीं ।

प्रेम०—आश्चर्य है !—अच्छा, जमींदारीकी आमदनी एक लाख रुपये होगी ?

भोला०—सो होगी ।

प्रेम०—या पचास हजार ?

भोला०—सब मिलाकर !—

प्रेम०—इतनी भी नही है ।

भोला०—नहीं है ? सच ?

प्रेम०—इस समय सालाना आमदनीके दस हजार तक होनेमे भी सन्देह है ।

भोला०—यह क्या !—

प्रेम०—दो लाख थी, अब दस हजार रह गई है ।

भोला०—हॉ ! बाकी एक लाख नब्बे हजार क्या हुई ?

प्रेम०—मालगुजारी न पहुँचनेसे सब इलाके नीलाम हो गये ।

भोला०—जाने दो—आफत गई ।

प्रेम०—यह सब आपके गुमाश्तेकी करतूत है । वह सारा लगान वसूल करके उसकी रकम खुद ही हड़प कर गया है।

भोला०—सच ! उसने क्यो ऐसा किया ?—मुझसे मॉगता तो मै ही उसे दे देता ।

प्रेम०—इसके सिवा उसने गौरीनाथसे मिलकर नीलामी इश्तिहारका निकलना बन्द कराकर जमींदारी नीलाम करा दी है ।

भोला०—नीलाम करा दी है ? नहीं नहीं, यह भी कहीं हो सकता है ! तुमने सुननेमे भूल की है ।

प्रेम०—सुननेमें भूल की है !—पहले सुना ही था, पर इस समय विशेष रूपसे जॉच करके सब जान लिया है ।—सुनिए, अब भी

जरा हाथ समेटिए; नहीं तो दो दिन बाद भोजनका भी सुभीता नहीं रहेगा।

भोला०—(हँसकर) यह भी कहीं हो सकता है भैया?

प्रेम०—जो कुछ जमींदारी बची है, आजसे मैं उसकी देखरेख करूँगा। आप अब हाथ समेट कर बैठिए।

भोला०—हाथ कहीं समेटे जा सकते हैं? गरीबकी प्रार्थना सुनकर आप ही आँखोंमें आँसू भर आते हैं, उसे छातीसे लगा लेनेके लिए हाथ आप ही आगे बढ जाते हैं। हाथ समेट लूँ! यह भी कहीं हो सकता है भैया!

काली०—The robbed that smiles, steals something from the thief (लुट जाने पर हँसना लूटनेवालेहीका कुछ हर लेना है)

(प्रस्थान।)

भोला०—प्रेमशंकर! चेष्टा करनेसे अपने घरका खर्च कम कर सकता हूँ। मगर दूसरोंका दु:ख छुडानेमें हाथ समेटना असंभव है! तुम नहीं जानते, त्यागमें क्या आनन्द है, दानमें क्या सुख है! आँखोंके आँसू पोंछ देना, सूखे ओठोंमें हँसी पैदा कर देना, मलिन मुखको प्रसन्न करना—यह भी एक सृष्टि है। कठोरसे प्यार करना, [illegible] कृतज्ञ बनाना—तुम जानते नहीं प्रेमशंकर—हे हे हे—तुम [illegible] बिलकुल ही बच्चे हो!

प्रेम०—और इधर एक एक करके आपकी सब जमींदारी गौरीनाथने खरीद ली।

भोला०—खरीद ले। उसे तो आनन्द मिलता है।

प्रेम०—चोर धर्मकी बात नहीं सुन सकता। (प्रस्थान।)

भोला०—प्रेमशंकर बहुत नाराज हो गया है ।—वह कौन आ रह है ? दीनानाथ है ! हाँ दीनानाथ ही तो है ! आओ दीनानाथ । बहुत दिनोंके बाद आये !

[दीनानाथका प्रवेश ।]

भोला०—आओ मेरे प्रियतम बाल्य-बन्धु—(जल्दीसे उठकर गले लगाकर) कब आये ?

दीना०—आज ही ।

भोला०—ओ ! कबसे तुम्हे नहीं देखा !—मेरी सरस्वती तो अच्छी है ?

दीना०—बहुत अच्छी तरह है !

भोला०—और भगवानदास ?

दीना०—उससे भी अधिक ।

भोला०—बैठो बैठो ! सरस्वतीका हाल कहो ! कबसे उसे नहीं देखा—तबियत अच्छी नहीं रहती—बाई सताये रहती है—पर इसे छोड़ो, बताओ, सरस्वतीके साथ तुम्हारी मुलाकात होती थी ?

दीना०—हाँ होती थी ?

भोला०—वह तुमसे कुछ मेरी बातचीत करती थी !—कहती थी कि वह मुझे अब भी उसी तरह प्यार करती है !

दीना०—प्यार क्यों न करेगी !—तुमने उसका व्याह जो कर दिया है !

भोला०—कैसा व्याह कर दिया है !

दीना०—बहुत ही अच्छा ! ऐसी सोनेकी प्रतिमा एक चाडालको सौप दी है ।

भोला०—इसके क्या माने !—

दीना०—उसकी अवस्था जरा खुद जाकर देख आओ !—इस समय उसको देखकर पहचान नहीं सकोगे ।

भोला०—क्यों !

दीना०—क्यों क्या ! मानसिक कष्टसे—भरपेट भोजन न मिल-नेसे—

भोला०—भरपेट भोजन न मिलनेसे ! क्यों ! मैं उसे हर महीने ५००) रु० भेजता हूँ, सो क्या नहीं भेजे जाते ?—प्रेमशंकर।—

दीना०—भेजे जरूर जाते हैं और पहुँचते भी हैं। मगर तुम्हारा लाड़ला नत-दमाद उनमेंसे ४००) रु० एक वेश्याके चरणोंमें अर्पण कर देता है।

भोला०—क्या ! किसके चरणोंमें अर्पण कर देता है ?

दीना०—और किसके चरणोंमें ! उसी वेश्याके चरणोंमे !—खूब छाँटकर लड़का खोजा था ! तुम्हारी सम्पत्तिका उपभोग एक वेश्या कर रही है।—बलिहारी !

भोला०—तुम क्या कहना चाहते हो कि भगवानदासने एक वेश्या रक्खी है ?

दीना०—सो क्या तुम नहीं जानते ? सुना नहीं ?

भोला०—नहीं। बिटियाने तो यह कुछ लिखा नहीं !

दीना०—लिखा नहीं कि भरपेट खानेको नहीं मिलता ?

भोला०—कहाँ !—नहीं तो।

दीना०—लिखा नहीं कि उसका बच्चा भरपेट आहार न मिलनेसे ज्वरमे दवा न पानेसे मर गया ?

भोला०—कौन ! बच्चा ?

दीना०—हाँ बच्चा।

भोला०—मर गया ?—यह सब क्या कह रहे हो ?

दीना०—यह भी नहीं सुना ?

भोला०—मर गया ?—कहो ! चिटियाने तो कुछ नही लिखा ।

दीना०—लिखा नही ! आश्चर्य है !

भोला०—मर गया ? ठीक मालूम है ?

दीना०—मेरे कहने पर विश्वास नही होता ?

भोला०—समझ गया सरस्वती । यह सुनकर मुझे कष्ट होगा, यही समझकर यह बात तूने नहीं लिखी !—ओः ! इसी अवस्थामे तुझे पुत्रशोक भी सहना पड़ा बेटी !

दीना०—भाग्यकी बात है !

भोला०—भगवानदासने वेश्या रक्खी है ?

दीना०—हाँ ।

भोला०—वेश्या ?

दीना०—समझमे नहीं आता ? मै तो विशुद्ध हिन्दीमे कह रहा हूँ ! ग्राम्य भाषामें कहूँ ?

भोला०—वेश्या रक्खी है !—क्यो !

दीना०—लो ! इस 'क्यो' का जवाब मै क्या दूँ !—वेश्याको लोग क्यों रखते है !

भोला०—भगवानदास क्या अब सरस्वतीको प्यार नही करता ? कहते क्या हो !

दीना०—प्यार क्यों नहीं करता ! तुम्हारी पोती ही तो उस वेश्याका खर्च जुटाती है ।

भोला०—सिर फिरा जा रहा है ।—ठहरो । भगवानदास सरस्वतीको अब प्यार नही करता !

दीना०—वैसे ही प्यार करता है जैसे साँप मेड़कको किया करता है ।

भोला०—लेकिन पहले तो खूब प्यार करता था !

दीना०—करता होगा।

भोला०—इस बातको मैंने कभी स्वप्नमे भी नहीं सोचा ! सरस्वतीको प्यार किये विना कोई रह सकता है ! यह बात मेरी धारणामे ही नहीं आसकती। वह मेरी सरस्वतीको बहुत प्यार करता था ! सरस्वतीके सिवा और किसीको जानता ही न था ! वह सरस्वतीके नाम पर उछल पडता था ! यह सब क्या मैंने स्वप्न ही देखा था ! वह क्या मेरा भ्रम ही था ! यह तो मैंने कभी सोचा ही नहीं !

दीना०—पृथ्वी पर ऐसी अनेक बातें होती है जिनके बारेमे पहले कभी कोई नहीं सोचता।

भोला०—(चिन्तितभावसे) वह उसे बहुत चाहता था !—खूब याद है। एक दिन, याद आता है,—उस दिन विजयादशमी थी—उस दिन शरद ऋतुके शान्त सन्ध्याकालमे, मेरी पोती आमके बागमे एक अमरूदके पेडकी शाखामें दोनो हाथ डाले खड़ी हुई थी; अस्त होते हुए सूर्यकी सुनहली किरणे उसके मुख पर पड रही थीं; दूर पर शहनाई बज रही थी; हवासे वृक्षोंके पत्ते हिल रहे थे, भगवानदासने एक गुलाबका फूल तोडकर हँसते हँसते सरस्वतीके जूड़ेमें लगा ~य था, एक भौंरा एक फूलसे उडकर दूसरे फूल पर बैठ रहा था। मै आडमे खडा हुआ उस मधुर चित्रको अपने हृदयपटल पर अंकित रहा था। उस दिन तो भगवानदास उसे प्यार करता था !

दीना०—उस समय कौन नहीं प्यार करता ! वह युवकके सामने ़वती थी, भूखेके सामने स्वादिष्ट भोजन था।—प्यार न करता !

भोला०—उसके बाद सन्ध्याको दीपक जल जाने पर सरस्वतीने आकर ज्यो ही मुझे प्रणाम किया, त्यों ही मैंने अपने काँपते हुए हाथोंसे उसे उठाकर

हृदयसे लगा लिया और वारवार उसके मुखका चुम्बन किया। उसके वाद हँस कर उससे पूछा–" सरस्वती ! वागमे क्या हो रहा था।" सरस्वतीने हँसकर कर कहा—" आप शायद छिपे छिपे देख रहे थे ! आप वडे ऐवी है ! "—यह " आप वड़े ऐवी है ! " उसने इस तरह कहा –क्या कहूँ दीनानाथ—वह मानों अभीतक मेरे कानोमे गूँज रहा है ।

दीना०—लो ! अव प्रेमका इतिहास शुरू हुआ ।

भोला०—उसके वाद उस दिन रातको सरस्वती और भगवानदास दोनो मुझसे विदा हुए । विदा करते समय सरस्वतीको जोरसे छातीसे लगाकर मै चिल्लाकर रो उठा । सरस्वती भी रो उठी ।

दीना०—उसका खयाल करके अव सचमुच ही न रोइए ।

भोला०—(कुछ प्रकृतिस्थ होकर) उसके वाद मैने कहा–"सरस्वती मुझे याद करेगी ?" तव सरस्वतीके मुखमे हँसी और आँखोमे आँसू थे,—वह वड़ा ही अपूर्व दृश्य था दीनानाथ,–उस समय सरस्वतीने कहा " दादाजी, आपको जव भूलूँगी तव चिट्ठी लिखकर जता दूँगी । " उसके वाद गाडी पर चढकर दोनो जने चले गये। सरस्वतीने गाड़ीसे मुँह वढाकर कहा–" चिट्ठी लिखिएगा दादाजी ! " गाड़ी चली गई ! पृथ्वीने दोनो हाथोसे मुँह ढँक लिया। उस रात्रिके आकाशमे एक लँबी सॉस उठकर लीन हो गई । यह आज तीन सालकी वात होगी ।–हॉ ठीक तीन सालकी !

दीना०—इसको अस्वीकार कौन करता है ?

भोला०—उसके वाद तवसे अवतक उसका वही हँसीसे सुशोभित चेहरा मानो मेरी ऑखोके आगे नाचता रहता है, उसका वह स्वर वायुमंडलमे गूँजा करता है । कितनी ही वडी वडी रातोमे मैंने उस मानसी मूर्त्तिको ऑसुओसे स्नान कराया है । वह तो मानवी नहीं है दीनानाथ !—

वह तो देवी है, वह कविकी कल्पना है, वह ध्यानकी धारणा है, वह मानसी प्रतिमा है—इसीसे शायद भगवानदास उसे जान नही सका।

दीना०—जान तो खूब सका था;—लेकिन अब उन बातोंको सोचनेसे क्या होगा ! कोई उपाय करो।

भोला०—उपाय !—हाँ उपाय तो अवश्य करना चाहिए! लड़का बिगड़ गया है।—दीनानाथ तुम भोजन कर चुके ?

दीना०—हाँ कर चुका।

भोला०—ऊँहूः।—कुछ ठीक उपाय नही सूझता।—भवानीप्रसाद।

दीना०—इस समय आप कोई उचित उपाय कीजिए।

भोला०—हाँ कुछ करूँगा।—सो तो करना ही चाहिए।—कुछ करूँगा।—अजी भवानीप्रसाद !

[भवानीप्रसादका प्रवेश।]

भोला०—अजी एक गाना तो गाओ।

दीना०—क्या गाना गावेंगे!

भोला०—मेरे सिरके भीतर न जाने क्या हो रहा है।—हाँ जी—उस वेश्याका चेहरा कैसा है ?

दीना०—लो! इतनी देरके बाद आप पूछ रहे है कि उसका ... कैसा है!

भोला०—वह देखनेमे मेरी पोतीसे अच्छी है? मेरी पोतीसे बढकर उसकी खिंची हुई भौंहें है ? उससे बढ़कर काली आँखे है ?—कभी उल्लाससे चमक उठती है और कभी जलसे भर आती है। उससे बढ़कर मीठी हँसी है ?—दोनों लाल लाल ओठ मानों दूध ऐसे दाँतोसे हर घड़ी हँसा-बोला करते है। उससे बढ़कर सुडौल गोल भुजाये है ?—सोनेके

जड़ाऊ गहनो और चूड़ियोने जैसे उन्हे बड़े आदरसे घेर रक्खा है। उससे वढकर कोमल हथेलियाँ है ?— चमेली और गुड़हल वहाँ जैसे प्रभुत्वकी लिए युद्ध कर रहे हैं। उसका रंग क्या मेरी पोतीके रंगसे भी वढ़कर गुलावी है—कण्ठके स्वरमे झनक है—धीमी चाल है—लज्जासे नम्र भङ्गिमा है—काले केश है ? आहा, वह गर्दन हिलाती थी, और पासके केश उडकर प्यारसे उसके मुखको चूमने लगते थे।—

दीना०—लो अव कविता शुरू हो गई ।

भोला०—सवसे अच्छी है उसकी दोनो आँखे! उसका देखना कितनी ही तरहका था।—गाओ भवानीप्रसाद। कोई सुन्दर गीत गाओ ।

(भवानीप्रसादका गान ।)

सोहनी । गजल ।

अव क्यों मुझे, मैया, पुकारो, मै तुम्हारे पास हूँ ।
वस गोद लेकर प्यार कर लो—पुत्र हूँ मै दास हूँ ॥
दोहा । खेल चुका सन्ध्या हुई दौड़ तुम्हारे पास—
आया हूँ, खोऊँ नहीं तुमको, है यह त्रास ॥
मुझको तुम्हारा ही सहारा, औरसे मैं क्या कहूँ ।
वस गोद लेकर प्यार कर लो०—॥
दोहा । धीरे धीरे छारहा अन्धकार यह मात ।
अभय वाहुसे घेर लो, होवे नही निपात ॥
वस मैं तुम्हारे हृदयसे लगकर अभय हो सो रहूँ ।
वस गोद लेकर प्यार कर लो० ॥
दोहा । पाया अवकी जो तुम्हें श्यामा, तो मै आज—
तुम्हें छोड़नेका नहीं छूटे सभी समाज ॥

तेरी शरणको छोड़कर किसके चरण जाकर गहूँ ?
वस गोद लेकर प्यार कर लो० ॥

(गाते गाते भवानीदासका प्रस्थान ।)

दीना०—यह क्या भोलानाथजी, तुम तो रोते हो !

भोला०—नहीं । चलो दीनानाथ, जरा टहल आवें ।

दीना०—चलो ।

(दोनोंका प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—मुन्नीके घरका भीतरी हिस्सा ।

समय—सन्ध्याकाल ।

[मुन्नी अकेली है ।]

मुन्नी—आज कुछ भी अच्छा नहीं लगता । जैसे आकाश बदलीसे ढँक रहा है, वैसे ही मेरा मन भी ढँक रहा है । मेरे जीवनका प्रधान काम है मानो समयको गवाँना । मेरे जीवनका प्रधान सुख है—आप अपनेको भूले रहना । लेकिन फिर भी खाती हूँ, सोती हूँ, हँसती-बोलती हूँ; इस नीच रूपको दर्पणमें देखती हूँ, सँवारती हूँ, सिंगारती हूँ—क्यों ? और कोई काम नहीं है, इस लिए । (लंबी साँस लेना) एक [illegible]र्ख नदी, एक ऊसर खेत, एक जीवोंसे खाली वन, एक मुर्दा शरीर ! (खिड़कीके पास जाकर बाहरकी ओर देखकर) पानी पड़ रहा है, [illegible]म-झिम रिम-झिम वर्षा हो रही है । हवा नहीं है, बिजली नहीं है, मेघगर्जन नहीं है । एक मलिन, स्थिर, बुझा हुआ दिन है । मेरे जीवनका चित्र है !—कौन !—उस्तादजी ।

[उस्तादजीका प्रवेश ।]

उस्ताद—हाँ बेटी ।

मुन्नी—आदाब । बैठिए उस्तादजी ।

उस्ताद—सलाम (बैठकर) हमको बुलाया था बेटी ?

मुन्नी—जी हाँ ।

उस्ताद—किस वास्ते ?

मुन्नी—उस्तादजी ! आप मुझसे नाराज है ?

उस्ताद—नही तो ।

मुन्नी—बेशक है । इतने दिनोतक मुझसे मुलाकात भी नही की, खबर भी नही ली ! एक खत भी नहीं भेजा !

उस्ताद—तुम हमारी कौन हो बीबीसाहब !

मुन्नी—नाराज मत हूजिए !

उस्ताद—हमारे गुस्सा होनेसे तुम्हारा हर्ज क्या है ?—ऐसा ही दस्तूर है । तुम लोग किसी जवान मर्दके मिलते ही उस पर आशिक हो जाती हो—उसका दम भरने लगती हो । ऐसा ही दस्तूर है—ऐसा ही दस्तूर है (आँखें पोंछना) लेकिन—मिजांजशरीफ ?

मुन्नी—आपकी दुआ है ।

उस्ताद—वह तुम पर आशिक है ?

मुन्नी—कौन ?

उस्ताद—वही मर्द ।

(मुन्नी सिर झुका लेती है ।)

उस्ताद—ऐसा ही दस्तूर है । मर्द जवान है ।—तुम भी प्यार करती हो ?

मुन्नी—अलबत ! आप क्या समझते है, मै रुपयेके वास्ते—

उस्ताद—कभी नहीं । लेकिन उसके बीबी है ?

मुन्नी—किसके ?

उस्ताद—तुम्हारे खाविदके, तुम्हारे प्यारेके, तुम्हारी जानके !—उसके बीबी है ?

मुन्नी—(सिर झुकाकर धीमे स्वरसे) है।

उस्ताद—(उठकर) जहन्नुममें जाओ। (क्रोधके साथ प्रस्थान।)

मुन्नी—(कुछ देर चुप रहकर) समझ गई उस्तादजी ! सच बात है। यह बात नही है कि इस बातका खयाल मुझे पहले न आया हो। मैंने सोचा था, प्यारसे—प्रेमसे—सब पवित्र होता है, मिट्टी भी सोना हो जाती है।—लेकिन—नही, यही बात कैसे कही जा सकती है !—प्रेम जिसके साथ है, उसीका न्यायसे अधिकार है ! नहीं तो—

गजल।

तुम्हें चाहा है, चाहूँगी तुम्हें ही प्रीतिप्रण धारे।
हृदयसे मैं निबाहूँगी तुम्हारे प्रेमको प्यारे॥
तुम्हारे दुःखमें दुखिया, तुम्हारे सुखमें सुख पाती—
रहूँगी और प्रिय तुम भी कभी होना नहीं न्यारे॥
तुम्हारा हास्यसे उज्ज्वल खिलेगा मुखकमल हरदम।
रहूँगी उसके गौरवकी मनोहर गन्ध विस्तारे॥
घटायें जब घिरी होंगी गगनतल पर घनी, तब मैं—
तुम्हारे नैनके जलमें बहूँगी, तुम पै सब वारे॥
मिलनमें मैं तुम्हारे ही मिलनके गीत गा गाकर—
तुम्हारा ही मनोरञ्जन करूँगी छोड़ सुख सारे॥
विरहमें हो मलिनमुख दुख-भरी सूनी नजरसे मैं—
तुम्हारी राह ताकूँगी, रहूँगी मौन मन मारे॥
नयन खोले हैं ज्योत्स्ना-जागरणमें जो तुम्हारे, तो—
तुम्हारे सुप्त नयनों साथ मूँदूँगी नयन प्यारे॥
सदा जीवन-मरणमें मैं तुम्हारी ही रहूँगी बस;
मिलूँगी तुमसे हरयक जन्ममें आकर नयन-तारे।

[भगवानदासका प्रवेश]

मुन्नी—कौन ! बाबूजी ?

भग०—हाँ, मैं हूँ ।

मुन्नी—आओ प्यारे ! (आगे बढकर गले लगनेके लिए हाथ बढाती है) आओ प्राणप्यारे !—

भग०—(पीछे हटकर) यह क्या बात है !

मुन्नी—मैं आपको प्यार करती हूँ, यही मेरा अपराध है ! मैं आपको—नहीं मैं अब 'आप' नहीं कहूँगी। तुम—तुम—तुम ! तुम मेरे प्रियतम हो, तुम मेरे हृदयके सर्वस्व, तुम मेरी जानकी जान हो, तुम मेरे—(भगवानदासको दोनों हाथोंके बीचमें करके) तुम मेरे हो, और किसीके नहीं ।

भग०—यह क्या मामला है !

मुन्नी—ब्याह ?—ब्याह न हो तो प्रेम निषिद्ध है ?—कौन कहता है—ब्याह ? वह तो रजिस्ट्री कबूलियत लिख देना है—घेरेसे जमीनको घेर लेना है । इतना ही नही, जमींदारकी रिआया भी जमीनको छोड़ दे सकती है, बेंच सकती है। लेकिन स्त्री—मरते दम तकके लिए खरीदी हुई लौंडी है। चाहे उसका अनादर किया जाय, उसके लातें मारी जायँ, उसे छोड दिया जाय—उसे अपने पतिके चरण-कमलोंका ध्यान करते करते ही मरना होगा।—यही तो स्त्रीका धर्म बताया गया है ।

भग०—आज ये सब बातें क्यों कह रही हो मुन्नी ।

मुन्नी—यदि प्रेम ब्याहके बिना किया जाय तो वह वेश्यासक्ति है।—कौन कहता है ?—यही तो प्रेम है। दासभाव नहीं है, विपत्ति नहीं है, जिम्मेदारी नहीं है, भविष्यका अन्देशा नहीं है—एक बाधाहीन

अगाध अस्थिर असीम उच्छ्वास है ! आकाशकी तरह खुला हुआ, तीरकी तरह तेज, आंधीकी तरह प्रबल, बिजलीकी तरह ज्वालामय, लहरकी तरह उमड़ा हुआ !—यही तो प्रेम है !—(मस्त हाथीकी तरह झूमने लगती है) प्राणधन ! हृदय, मन, जीवन, यह लोक, परलोक—एक चुम्बनमे है !—यही तो प्रेम है ! नहीं तो—

भग०—मुन्नी मुन्नी ! (पास जाकर कन्धे पर हाथ रखता है ।)

मुन्नी—नही तो चाहे रस्सीसे बॉधो, चाहे लोहेकी जजीरसे बॉधो, चाहे कायदे-कानूनसे बॉधो, और चाहे मन्त्र पढकर बॉधो—प्रेमहीन सभी बन्धन अपवित्र हैं, बाध्य आलिंगन ही वेश्यासक्ति है ! ना ना, क्या कह रही हूँ ! मै वेश्या हूँ । वेश्याके घरमे मेरा जन्म हुआ है । मैंने निन्दित धनके लिए अपना शरीर बेच डाला है । मै क्या ब्याहका मर्म समझ सकती हूँ ? मै समाजकी कूडा हूँ; राह राह फिरनेवाली कुतिया हूँ; सर्वथा शोचनीय हूँ । ब्याहका मर्म मै क्या समझूँगी !—(फिर दोनों हाथोंसे मस्तक थामकर ऊँचे स्वरसे) वह देश रसातलको चला जाय जहॉ पहले वेश्याकी सृष्टि हुई थी । उस विधानका सत्यनाश हो जिससे वेश्या जन्मभर वेश्या है । वह पुरुष नरकको जाय, जो इस लालसाके भारी अग्निकुण्डमे घी डालता है—जो इन कलंकिनियोंके कुलको बढ़ाता है ।

भग०—अपनेको सभालो—स्थिर होओ मुन्नी ।

(मुन्नी धीरे धीरे खिडकीके पास पडी हुई एक कुरसी पर जाकर बैठ जाती है और बाहरको ओर निहारती है ।)

भग०—आश्चर्य है ! ऐसा तो कभी नहीं देखा । यह क्या सचमुच ही वेश्या है ! (मुन्नीके पास जाकर, पीठ पर हाथ रखकर) मुन्नी !

मुन्नी—जाइए !—दिन भी क्या मेरा नहीं है ?

भग०—इसके माने ?

मुन्नी—इसके माने यही है कि मै इस समय कुछ देर अकेली रहना चाहती हूँ । आपसे यही भिक्षा माँगती हूँ ।

भग०—क्यो ? मेरे चले जानेसे तुम्हे सुख मिलता है ?

मुन्नी—नही ! लेकिन आपने कभी इस वात पर लक्ष्य किया है कि पक्षी कभी तो सूर्यके प्रकाशसे उज्ज्वल नीले आकाशमे पंख फैलाकर उडता है, मानो वह आहार नही जानता, चिन्ता नही जानता, विश्राम नहीं जानता, दुःख नही जानता । लेकिन वही पक्षी कभी पंख समेट कर ऑखे मूँदकर घोसलेमे चुपचाप वैठा रहता है, जैसे वह कभी उड़ना जानता ही न था ।—देखा है क्या ?

भग०—देखा है ।

मुन्नी—हमारी वही जाति है । हम जब पिजड़ेके घेरेमे चोटकी यन्त्रणासे छटपटाती है, तब तुम लोग खड़े होकर हँसते हुए उस तमाशेको देखते हो । हम जब मर्मव्यथासे मरती है तब तुम लोग हँसते हो । हमे देखकर तुम लोगोको दुःख नहीं होता बाबूजी !

भग०—ना, तुम लोगोको देखकर हम लोगोंको परम सुख होता है, नहीं तो घर छोड़कर यहाँ आवे क्यो !

मुन्नी—आज जाइए ।

भग०—क्यो ! मै क्या तुम्हारी ऑखोका कॉटा हूँ ?

मुन्नी—तुम मेरे सर्वस्व हो ! तुम मेरे (लिपट जाती है, फिर उसी-दम जैसे कोई सॉपको देखकर पीछे हट जाता है वैसे हट जाती है) ना ना आप मेरे कोई नहीं हैं—कोई नहीं है ।

भग०—यह क्या कह रही हो मुन्नी !

मुन्नी—मै भी आपकी कोई नहीं हूँ। मै लताकी तरह ऊपर उठकर आज आपको घेरे हुए हूँ। लेकिन जिस दिन मै आपको नहीं रुचूँगी, उस दिन आप मेरे हाथोंके इस क्षीण बन्धनको तोड़कर चले जायँगे।

भग०—कौन कहता है ?

मुन्नी—मै जानती हूँ! मै जानती हूँ!

भग०—कभी नहीं जाऊँगा।

मुन्नी—नहीं जाओगे! सच कहो—नहीं जाओगे! सच कहो—छाती पर हाथ रखकर कहो—तुम मुझे प्यार करते हो? सच? सच?

भग०—प्यार करता हूँ।

मुन्नी—स्त्रीसे बढ़कर? अपनेसे बढ़कर? आत्मासे बढ़कर?—जैसे मैं प्यार करती हूँ वैसे?

भग०—हाँ मुन्नी।

(मुन्नी एक लंबी साँस लेती है। दासी दीपक जलाकर लाती है और रखकर चली जाती है।)

भग०—रात हो गई। एक कोई गाना गाओ।

मुन्नी—आपकी स्त्री देखनेमे कैसी है ?

भग०—बहुत सुन्दर है।

मुन्नी—बहुत ही।

भग०—न हो, एक दिन जाकर देख आओ!

मुन्नी—वह आपको प्यार करती है ?

भग०—हाँ।

मुन्नी—लेकिन इस तरह ?

भग०—किस तरह ?

मुन्नी—मेरी तरह ?—जैसे समुद्रकी उठती हुई लहर ? राहुका ग्रास ? दावानलका आलिगन ? भूखे वाघका गर्जन ?—मै जैसे क्रोधसे भरी हुई नागिनकी तरह फन उठाकर—ना ना, भागिए भागिए !—मै आपका सर्वनाश हूँ; आपके लिए अभिशाप हूँ; आपके लिए नरक हूँ।—भागिए भागिए ।

तीसरा दृश्य ।

स्थान—मुन्नीके घरके सामनेकी सड़क ।

समय—चाँदनी रात ।

[भोलानाथ, भवानीप्रसाद और दीनानाथका प्रवेश ।]

भोला०—यही वर जान पड़ता है।—क्यो दीनानाथ ?

दीना०—लेकिन तुम्हारा उससे क्या ! तुम बूढ़े आदमी हो—इस समय—

भोला०—नहीं, मै एकदफा उसे देखूँगा ।

दीना०—देखकर क्या होगा ?

भोला०—देखूँगा, वह कितनी वड़ी सुन्दरी है। नहीं तो मेरी पोतीको छोडकर—नहीं, मै एक वार देखूँगा !—क्यों भवानीप्रसाद ! इतने करुणभावसे सिर क्यों हिला रहे हो !

दीना०—लेकिन—

भोला०—ना ना, मेरी पोतीका इस समयका चेहरा तुमने देखां नहीं दीनानाथ। इसीसे कहते हो। उसके वे गुलावी रंगके गाल राखके समान सफेद पड़ गये हैं। उसकी ऑखोंके कोयोमें मानों किसीने स्याही

पोत दी है। उसके उस चौड़े ललाटमे दाग पड़ गये है। उसका कोमल शरीर रक्तरहित होनेसे रूखा पड़ गया है। उसके मुखमे अ-व्यक्त वेदना है। उसकी आँखोमे दुःस्वप्न है।

दीना०—सो तो समझा। लेकिन इस वेश्याको देखकर क्या होगा!

भोला०—वह—वह मुझे देखकर हँस पड़ी—वह मानो किसी कंकाल (हड्डियोके ढाँचे) की हँसी थी; उसने मुझे दादाजी कहकर पुकारा, वह स्वर मानो सूखे व्यंग्यका आभास था; उसने मुझे प्रणाम किया, साथ ही उसकी दोनो आँखोसे आँसुओकी धारा बह चली; उसने आँचलसे मुँह ढँक लिया। मैने उससे कहा—मेरे साथ चल। उसने इसका क्या उत्तर दिया, जानते हो?

दीना०—क्या!

भोला०—उसने कहा—"ना दादाजी! आपने तो जन्म भरके लिए मुझे अपने घरसे विदा कर दिया है—अब यह मेरा घर ही मेरे लिए मसान है।" उस समय मै उससे लिपटकर—बूढा आदमी मै—चिल्लाकर रो उठा।

दीना०—बस!—बस!—अब न कही चिल्लाकर रो उठना!

भोला०—ना! रोनेसे क्या होगा!—लेकिन मै एक दफा इस [illegible]को अवश्य देखूँगा।

दीना०—देखकर क्या करोगे?

भोला०—अगर वह मेरी पोतीसे भी बढकर सुन्दरी होगी तो उसे खरीद कर ले जाऊँगा और पूजा-मन्दिरके आलेमें थाप दूंगा।

दीना०—तुम क्या सिड़ी होगये हो?

भोला०—शायद यही बात है ।

(भवानीप्रसाद हताश भावसे दीवार पर हाथ टेककर और ऊपरकी ओर देखकर लबी साँस लेता है ।)

भोला०—मैं पागल हो गया हूँ दीनानाथ । सत्य ही पागल हो गया हूँ । मै एक बार—(ऊपरसे मुन्नी खिडकी खोलकर झाँकती है) यही है न?

दीना०—कहाँ ?

भोला०—वह देखो !

दीना०—हाँ यही है !

भोला०—देखूँ तो ! (चश्मा लगाकर एक टक उसकी ओर देखना) सुन्दरी है ।—हाँ सुन्दरी है ।—दोनों ओठ वैसे पतले नही है, लेकिन लालसासे भरे हुए हैं । मुँह गोल और डौल अच्छा है ।—सुन्दरी है । दोनों आँखें वडी नहीं है, लेकिन उनमें असर है । लबे बाल है ।—सुन्दरी है ।—मगर मेरी पोतीके समान नहीं है । वह देखो ! हँस रही है ।—बहुत ही अच्छा स्वर है । बुरा नहीं है, लेकिन इस हँसीमे जान नहीं है !—हाँ, स्वर अच्छा है ।

दीना०—बूढा डूब गया ।

भोला०—भवानीप्रसाद ! इस वडी सड़क पर गाड़ी ठहरी रहेगी । पाँचसौ रुपयेका महीना ।—लेकर एकदम रेलगाडी पर ।—काशी ! समझे !—एक बार नशा उतर जाने पर फिर सब ठीक हो जायगा ।—चलो दीनानाथ ।—समझे भवानीप्रसाद—पाँचसौ ।

[भोलानाथ और दीनानाथका प्रस्थान ।]

भवानी०—रंग खूब जमता आ रहा है । कहा नहीं जा सकता, इसके बाद क्या होगा । सुना है, स्त्रीके कारण सुन्द—उपसुन्दमें घोर

युद्ध हुआ था। लेकिन ननदभाव और ददियाससुरका युद्ध—पुराणमें भी नहीं लिखा। चाहे जो हो, ये सब कुछ न कुछ करते हैं। और मैं?—हल् अक्षरकी आडी लकीरकी तरह नीचे पड़ा हुआ हूँ, और गाना गाता हूँ। जगत्के किसी काम नहीं आता—यही है शायद।—हाँ। साथमें कौन है?—यह क्या! स्वप्न देख रहा हूँ क्या! (आड़में छिप जाता है।)

[बातें करते करते मुन्नी और हीरा घरका द्वार
खोलकर बाहर निकलती हैं।]

हीरा—तो मैं जाती हूँ।

मुन्नी—कहाँ?

हीरा—कोई खास दिशा नहीं है, कोई निर्दिष्ट मार्ग नहीं है।—जिधर चली जाऊँ। तुम्हारी अँगूठी अपने पास रक्खूँगी—लिये जाती हूँ। हो सकेगा तो फिर एक दिन घूमती फिरती इधर आऊँगी।—सोचा था, आत्महत्या करूँगी—मगर नहीं करूँगी। घरमें भी प्रवेश नहीं करूँगी।

मुन्नी—क्यों?

हीरा—नहीं। जिस घरको छोड़कर चली गई उसमें पैर न रक्खूँगी। नके पवित्र देवमन्दिरमें प्रवेश करनेका मुझे अधिकार नहीं है। देखा हीं, मैं तुम्हारे घरके भीतर भी नहीं गई? इसका कारण क्या है, जानती हो?

मुन्नी—क्या कारण है?

हीरा—घरके भीतर जानेसे ही जान पड़ता है कि उसके कोने कोनेसे हजारों नाग फन फैलाकर मेरी ओर झपट रहे हैं, उसकी छत झुक आकर मेरी छातीको दबाये लेती है; साँस नहीं ली जाती।

भवानी०—अभागिन औरत !

हीरा—(चौंककर) यह किसकी आवाज है !—वह कौन है ।—यहाँ भूत रहते है क्या । भागूँ—भागूँ ।

(वेगसे प्रस्थान ।)

भवानी०—पागल है !

मुन्नी—छुटकारा और दास्यभाव, आशा और निराशा, लाभ और सर्वनाश, स्वर्ग और नरक, ये सब मेरे जलते हुए मस्तिष्कके धुआँधार रंगमंचमे हाथ पकडकर नृत्य कर रहे है । (घुटने टेककर हाथ जोडकर ऊपरकी ओर देखकर)—क्षमा करो । मैं नही जानती थी । मै नहीं जानती थी ।

भवानी०—(आगे बढ़कर) वेटी !

मुन्नी—कौन—कौन हैं आप ?

भवानी०—ब्राह्मण ।

मुन्नी—भिक्षा चाहते हैं ?

भवानी०—नही ।

मुन्नी—फिर ?

भवानी०—कुछ कहना है ।

मुन्नी—क्या ! कहिए !

भवानी०—तुम कौन हो वेटी !

मुन्नी—मेरा नाम है मुन्नी—मै वेश्या हूँ ।

भवानी०—झूठ कह रही हो ?

मुन्नी—नहीं ब्राह्मण !

भवानी०—तो फिर रो क्यो रही थीं ?

मुन्नी—यह पूछकर आप क्या करेंगे ?

भवानी०—तुम्हे क्या दुःख है, मुझसे कहो।

मुन्नी—वेश्याको क्या दुःख है ? उसे आप पूछते क्या है !

भवानी०—समझ गया ! तो इस दूषित वायुको छोड़कर, मेरे साथ आओ बेटी; माताके चन्दन-पुष्प-सुगन्धित मन्दिरमे शान्ति पाओगी।

मुन्नी—शान्ति पाऊँगी ! ब्राह्मण ! तुम क्या पागल हो !

भवानी०—शायद !

मुन्नी—या मेरी ही समझमे कुछ नहीं आता। मेरा ही दिमाग सही नहीं है।—शान्ति पाऊँगी ! मै ! मुझे शान्ति ! (पिस्तौल दिखाती है।)

भवानी०—(डरकर) यह क्या !

मुन्नी—मुझे अब समय नहीं है। (प्रस्थान।)

भवानी०—कौन है यह स्त्री—आश्चर्य ! (जाना चाहता है।)

[भगवानदासका प्रवेश।]

भवानी०—यही वह लपट है। देखूँ क्या करता है।

भग०—सुखिया ! सुखिया ! (द्वार पर धक्का देता है।)

[द्वार खोलकर दासीका प्रवेश।]

सुखिया—मालकिन घरमें नहीं है जी !

भग०—कहाँ गई ?

सुखिया—मालूम नहीं। (प्रस्थान।)

भग०—'मालूम नहीं' के क्या माने !—रातको मुझसे बिना कहे-सुने !—

भवानी०—(आगे बढकर) तुम कितना देते हो ?

भग०—तुम कौन हो ?

भवानी०—ब्राह्मण ।—तुम कितना देते हो ?

भग०—चार सौ रुपयेका महीना ।

भवानी०—उसने पाँच सौ लगा दिये है ।

भग०—किसने !

भवानी०—एक पके हुए बाल और झुर्रीदार गालवाले कालके कौर पुराने खूसट बूढ़ेने । उसके तीन पन चले गये हैं, एक पन है । सो उसके भी होनेमें सन्देह है । लेकिन उसके पास रुपये है ।

भग०—उसके साथ निकल गई ?

भवानी०—वह तो तुम्हारी व्याहता स्त्री नहीं है कि लात-घूँसे खाकर भी पैरो पर पडी रहेगी । तुम देते हो चार सौ, उसने लगा दिये पाँच सौ !

भग०—अच्छी बात है ! मैं छः सौ दूँगा ।

भवानी०—हाँ नीलाम पर चढा दो। प्रेमको नीलाम पर चढ़ा दो । उसके बाद वह सात सौ लगावेगा, तुम आठ सौ लगाना ।

भग०—तुम कौन हो ?

भवानी०—मै कौन हूँ, तुमको पहचान लेना चाहिए था । लेकिन बात यह है कि प्रथम प्रेममें आसपास देखनेकी किसीको फुरसत ही नहीं मिलती ।—नहीं तो—

भग०—चले जाओ ।

भवानी०—लो जाता हूँ भैया ! मारना नहीं !—

भग०—अच्छा मैं देखे लेता हूँ—वह कैसा है और मै कैसा हूँ ! मैं छोडनेवाला नहीं हूँ । देख लूँगा ।   (प्रस्थान ।)

भवानी०---जाओ जाओ---अधःपातमें जाना चाहते हो, जाओ। खुद ईश्वर भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते, दादाजी क्या चीज है। जो नष्ट होना चाहता है वह अवश्य नष्ट होगा। उसे कोई नहीं रोक सकता। लेकिन यह स्त्री---विचित्र है! (प्रस्थान।)

[हीराका हाथ पकडे हुए गौरीनाथका प्रवेश।]

गौरी०---आओ, कहता हूँ।

हीरा---छोड़ दो।

गौरी०---घर चलो---सुखसे रक्खूँगा।

हीरा---घर!---नहीं घर न जाऊँगी। प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ।

गौरी०---धूप, पानी, जाडेमें क्यो बेकार---

हीरा---धूप, पानी, जाडा दुष्टोकी संगतिसे कहीं अच्छा है। धूप जब जलाती है---जलाती है; यह नहीं कहती कि मै गुलाबजलसे नहला देनेके लिए आई हूँ। जाडेके दाँत जब शरीरमें चुभते है---सीधे बैठते है, उसमें कुछ धोखाधडी नहीं है। वर्षा जब होती है---प्रेमालिंगन नहीं करती, सीधे सीधे शत्रुभावसे मुँहके ऊपर पटापट पड़ने लगती है!---छोड दो।

गौरी०---मेरे साथ आओ।

हीरा---मै नहीं आऊँगी।---तुम दगाबाज नराधम हो। कहती हूँ, छोड दो, नहीं तो चिल्लाकर शहर भरके लोगोको यहाँ जमा कर दूँगी। कहती हूँ---छोड दो।

गौरी०---मुझे कुछ कहना है।

हीरा---यहीं कहो।

गौरी०---अच्छा तो इस पेड़के तले ही चलो।

हीरा---चलो। (दोनोंका प्रस्थान।)

[शिवदयालु और कामताप्रसादका प्रवेश।]

शिव०---क्योजी, गौरीनाथ एक औरतके पीछे पीछे गया है न?

कामता०---हो गया है!---वही स्त्री जान पड़ती है।

शिव०---कौन स्त्री?

कामता०---वही जो उस दिन बागमे एकाएक आगई थी।

शिव०---हॉ! तो इसके भीतर निश्चय ही कोई गूढ रहस्य है।---चलो चलो, देखे क्या करता है। (दोनोंका प्रस्थान।)

[दीनानाथ और भवानीप्रसादका प्रवेश।]

दीना०---राजी नही हुई?

भवानी०---नही!

दीना०---तुम समझाकर ठीक तौरसे नही कह सके।

भवानी०---सो हॉ कह तो नही सका।

दीना०---क्यो?

भवानी०---घवरा गया?

दीना०---क्यो!

भवानी०---चॉदनीके प्रकाशमे मैने उसका मलिन मुख देखा। वह घुटने टेककर हाथ जोड़कर, ऊपरको मुख किये, ऑखोमे ऑसू भरे प्रार्थना कर रही थी--"मुझको क्षमा करो"--किससे कहा, सो नहीं मालूम; क्यो कहा, यह भी नही जानता। लेकिन मेरी ऑखोमे ऑंसू आगये। जान पडा, मैने उसका स्वर पहले कहीं सुना है। अपने वक्तव्यको मै सिलसिलेवार समझाकर नहीं कह सका।

दीना०---तुम कुछ नहीं हो---अपदार्थ हो।

भवानी०—बिल्कुल ।—उसके बाद भोलानाथजीके ननदभाइसे मुलाकात हुई ।

दीना०—भगवानदाससे ?

भवानी०—हाँ ।

दीना०—उसने क्या कहा ?

भवानी०—कहा, देख लूँगा ।

दीना०—हायरे अभागे! तुझे अपनी चीज नहीं रुचती! लाल सारी और क्लियोपेट्रा-फैशनका जूड़ा देखकर रीझ जाता है ! सधी हुई हँसी और तिरछी चितवनमें मगन हो जाता है ! घरकी लक्ष्मीको छोड़कर अलक्ष्मीका आश्रय लेता है । मंगल-दीपकको छोड़कर जुगनू पकड़ने दौड़ता है ।—

भवानी०—ऐसी उपमायें देनेसे, जान पड़ता है, वह समझ जाता आप गये क्यों नहीं समझाने ?

दीना०—मैं जाकर क्या करता ?

भवानी०—उपमा देते ।

दीना०—अरे उपमा देनेसे क्या होगा ?

भवानी०—यह भी ठीक है !

दीना०—अरे मूर्ख! तू प्रेममें पड़कर सत्यानास जायगा, अपने और दूसरेका सर्वनाश करेगा। इस नशेके बारेमें कुछ कुछ समझ सकता हूँ, लेकिन यह समझमें नहीं आता कि मोल लिये हुए चुम्बन और हृदय-हीन आलिङ्गनमें तुझको क्या सुख मिलता है ।—बलिहारी !

भवानी०—बलिहारी !

दीना०—चलो ।

भवानी०—चलिए ।

(दोनोंका प्रस्थान ।)

चौथा दृश्य ।

स्थान—गौरीनाथके घरकी बैठक ।

समय—रात्रि ।

[अकेला गौरीनाथ]

गौरी०—वह काम कर चुका ।—कैसा भयंकर था ! मगर साथ ही कैसा सहज था !—पाप और महापापमे अन्तर—एक सीढ़ी भरका है ! पापके राज्यमे भी एक सिलसिला है । नही तो वह राज्य चलता ही कैसे ! पापके राज्यमे रहना चाहो, तो उसके नियमोको मानकर चलना होगा ! एक जगह खडे न रह सकोगे । या तो ऊपर उठोगे, या नीचे गिरोगे !—इन दो वातोमेसे एक वात होगी ही । उठना चाहोगे तो शक्तिके वलसे, किये हुए पापोके भारी वोझको ठेलकर उठना पड़ेगा—यह कठिन है । नीचे गिरना चाहोगे, तो अपने वोझसे ही नीचे उतरते जाओगे। यह अत्यन्त सहज है !—वह क्या है !—ना, उल्लूका शव्द है !—जाने दो। मुर्देकी जीभ नही हिलती।—वस !—वह कैसा शव्द है !—कौन ?—कहाँ !—

[शिवदयाल, वुद्धू और कालीचरणका प्रवेश ।]

गौरी०—यह—यह क्या, तुम लोग इतनी रातको !

शिव०—क्या नौसे अधिक वजे होंगे ?

गौरी०—ना—सो—सो—रात कुछ इतनी अधिक नहीं है !

वुद्धू०—यही टहलते टहलते इधर चले आये !

गौरी०—सो—सो—अच्छा ही किया ।

शिव०—तुम अबतक थे कहाँ ?

गौरी०—कहाँ !—

शिव०—वही पूछता हूँ। थे कहाँ ?

गौरी०—था कहाँ !—

बुद्धू—उधर जंगलमे झाड़ीके भीतर क्या कर रहे थे !

गौरी०—कहाँ—नहीं—मै तो—

शिव०—घबराये क्यों जा रहे हो ?

बुद्धू—काँप रहे हो !

गौरी०—ना। मैं—मैंने तो नहीं किया।

शिव०—क्या नहीं किया ?—कालीचरण, जानते हो न ?

काली०—Where ignorance is bliss it is folly to be wise. (जहाँ मूर्खताहीमें आनन्द है वहाँ बुद्धिमत्ता दिखाना मूर्खता है।)

बुद्धू—हमने देखा है।

गौरी०—क्या देखा है !

(शिवदयाल और बुद्धू ठहाका मारते हैं।)

गौरी०—ना ना, मैंने नहीं किया। यह देखो !—यह क्या ! हाथोंमें खूनका दाग !—ना, मैंने तो हत्या नहीं की। वह पानीमे खुद गिर पड़ी थी।

(शिवदयाल और बुद्धू फिर जोरसे ठहाका मारते हैं।)

गौरी०—यों चिल्लाकर क्यों हँसते हो ?—जाओ यहाँसे—निकलो।

शिव०—चलो बुद्धू।

(हँसते हँसते दोनोंका प्रस्थान।)

कालीo—When ill indeed, dismissing doctor don't always succeed. (कठिन बीमारीमे वैद्यको धता बतानेसे सफलता नहीं होती ।)

गौरीo—तुमने भी देखा है ?

कालीo—समझ गया गौरीनाथ ।—You have sown the wind and shall reap the whirlwind. (तुमने आग खाई है अगारे जरूर ही उगलोगे ।)

गौरीo—मैंने तो खून नहीं किया ।

कालीo—For the wages of sin is death. (क्योकि पापका परिणाम मृत्यु ही है ।)　　(प्रस्थान ।)

[गौरीनाथ मुँह बाये खडा रह जाता है । फिर सहसा दौडकर बाहर जाते जाते सूखे स्वरसे पुकारता है—]

गौरीo—काली—शिवदयाल—बुद्धू ।—सुनो—सुने जाओ ।

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—सरस्वतीका घरका आँगन ।

समय—रात्रि ।

[सरस्वती अधलेटी है । पृथ्वी पर पडी हुई ऊपरकी ओर ताक रही है ।]

सरo—अमावसकी रात है ! आकाश निर्मल है !—ओः ! कैसे उज्ज्वल है ये नक्षत्र !—अच्छा, ये कितनी दूरी पर हैं । दादाजीके मुँहसे सुना है, ये हरएक सूर्य है ।—इसी समय वे छत पर मेरी गोदमें सिर रखकर पडे रहते थे; मै उनके सिर पर हाथ फेरती थी; वे कितने ही देशोंके–युगयुगान्तरोंके—इतिहास, पृथ्वीके जन्मकी कथा, महात्मा लोगोंके जीवनचरित, ज्योतिर्मण्डलका विवरण मुझे सुनाते थे । मै उस

मायामय उपन्यासको मन्त्रमुग्धकी तरह चुपचाप सुनती थी।—मालूम पड़ता है वे आगये। ना—यह कौन है?

[मुन्नीका प्रवेश।]

सर०—कौन?

मुन्नी—यह क्या। ये मैले फटे कपड़े पहने, रूखे बाल बिखेरे जमीन पर!

सर०—तुम कौन हो?

मुन्नी—यही स्त्री है! यही सती है!—मुखमडलमे कैसी ज्योति है! मस्तक पर कैसी महिमा झलक रही है! अगोमे कैसा लावण्य है—पहाडके नीचे भरे हुए प्रभात-शोभितसरोवरकी तरह शान्त, स्वच्छ, सुन्दर है। यही सती है! यह भूमिशय्या सोनेका सिंहासन जान पड़ती है, यह इसके सिरपरका आँचल हीरा-जड़े मुकुटके समान जान पड़ता है—यही सती है!

सर०—तुम कौन हो?

मुन्नी—शैतानकी बच्ची! इस देवीके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़कर खडी हो।—देवी! (घुटने टेककर) देवी!

सर०—कुछ समझमें नहीं आता।—कौन हो तुम बहन?

मुन्नी—हाँ—बहन कहकर पुकारो; मुझे धन्य करो; इस कीचड़मे उद्धार करो—मेरा—

सर०—कौन हो तुम?

मुन्नी—इसी रद्दी घरमें तुम रहती हो!

सर०—हाँ।

मुन्नी—मैंने सुना है तुम्हारे दादा बडे आदमी हैं।

सर०—हाँ है तो। फिर?

मुन्नी—वे तुमको खर्चके लिए रुपये नहीं भेजते ?

सर०—भेजते है।

मुन्नी—कितने ?

सर०—महीनेमे पाँच सौ।

मुन्नी—फिर !—ओ !—समझ गई ! तो इन्ही रुपयोसे तुम्हारे स्वामी वेश्याका खर्च चलाते है ?

सर०—(चौंककर) किसका ?

मुन्नी—उनके एक वेश्या है; तुम जानती हो ?

सर०—कौन हो तुम ? किस साहससे मेरे पास आकर मेरे सामने मेरे पतिकी निन्दा करती हो !—सब झूठ है !—जाओ।

मुन्नी—मुझसे छिपानेसे क्या होगा बहन ! मै सब हाल जानती हूँ।

सर०—जानती हो—जानती हो। मेरे आगे उसके कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं है।

मुन्नी०—प्रयोजन है। यह तुम्हारा ही दोष है—

सर०—क्या मेरा ही दोष है !

मुन्नी—अपने स्वामीके कामकी आग जलानेका ईंधन तुम्हीं जुटा रही हो बहन ! भ्रष्टबुद्धि स्वामीको उसकी वेश्याका खर्च देकर उसके सर्वनाशकी राह तुम्हीं साफ कर रही हो। अब एक पैसा न देना। स्वामीको नष्ट होने देना, क्या सतीधर्म है ? स्त्री धर्मकी साथिन है, अधर्मकी नहीं—

सर०—मै सुनना नहीं चाहती। पतिकी निन्दा सुनना पाप है। जाओ।

मुन्नी—तुम्हे अगर कष्ट होता है तो मै कुछ नहीं कहूँगी बहन। मुझे बहन कहकर तुमने मेरा साहस बढ़ा दिया है।—अब कुछ नहीं कहूँगी। अच्छा जाती हूँ बहन ! (जाना चाहती है।)

सर०—कहाँ जाती हो वहन! जाना नहीं। मैं वड़ी ही दीन और विलकुल ही अकेली हूँ। मेरे कोई नहीं है! जाना नहीं!

मुन्नी—यह क्या कह रही हो वहन! तुम्हारे स्वामी तुमको प्यार नहीं करते?

सर०—एक समय था, जव प्यार करते थे।

मुन्नी—और तुम?

सर०—मैं भी प्यार करती थी! पुरुष अगर जवानीकी पहली उमंगमें एक मुग्धा सरला विह्वला वालाके पैरों पर आत्मसमर्पण कर दे तो जगत्में कितनी ऐसी वालिका हैं जो प्यार किये विना रह सकें? और हम लोगोंका तो व्याह हुआ था। इस प्रेममे कोई वाधा भी नहीं थी, उन्हें प्यार करनेके सिवाय कोई उपाय नहीं था।

मुन्नी—उसके वाद?

सर०—उसके वाद—

मुन्नी—कहो वहन। उसके वाद?

सर०—उसके वाद जिस दिन देखा कि वे अपनी वूढ़ी माको छोड़कर मेरी उपासना कर रहे है, उस दिन पहले पहल मुझे डर माल्म हुआ!—तव जान पड़ा—यह तो प्रेम नहीं है; प्रेम तो कर्त्तव्यको नहीं भुलाता, कर्त्तव्य-पालन सिखाता है। यह तो एक तरहकी आसक्ति है, जिसका अन्त अच्छा नहीं हो सकता।

मुन्नी—तुम झूठ नहीं कहतीं वहन।

सर०—मुझे डर माल्म हुआ।—उसी भयसे शिथिलतासी आगई! अपने जीवनके भविष्यको सोचकर काँप उठी! अव भी याद आता है—ओः!

मुन्नी—उसके वाद !

सर०—उसके वाद भोजन न मिलनेसे और सेवा-चिकित्सा न होनेसे मेरा वच्चा मर गया। संसारमें सव ओर मेरे लिए अन्धकार हो गया। लेकिन उस अन्धकारमे भी मैने राह खोज ली। जीवनकी सव आशाओको सतीकर्तव्यके पालनमें लगा दिया। मनको दृढ किया;—प्रतिज्ञा की कि भाग्यमे चाहे जो हो—पतिको प्यार कर सकूँ या न कर सकूँ, जन्मभर स्वामीके प्रति स्त्रीके कर्त्तव्यका—सतीधर्मका—पालन किये जाऊँगी। इस समय उसी ओर लक्ष्य करके चल रही हूँ।

मुन्नी—सरस्वती! वहन! तुम मानवी नहीं हो, देवी हो!—

सर०—उसके वाद और सुनना चाहती हो?—

मुन्नी—ना, और सव ही मै जानती हूँ!

सर०—जानती हो?—कुछ नहीं जानती हो!—जानती हो?—एक विराट् प्रेमका अमृतसागर मेरे सामने भरा पड़ा है, लेकिन प्याससे मेरी छाती फटी जा रही है! जानती हो कि मेरा वर्तमान जैसे अन्धकारमय है, वैसे ही भविष्य भी अन्धकारमय है—इस अन्धकारमें नक्षत्र नहीं हैं, विजली नहीं है, जुगनूका भी प्रकाश नहीं है! जानतो हो कि दिनोंदिन तपेदिकके रोगीकी तरह मेरे भीतरका सव कुछ क्षयको प्राप्त हो रहा है! जानती हो क्या!—ना तुम क्या जानोगी! तुम क्या जानोगी!

मुन्नी—(हाथ पकडकर) जानती हूँ वहन!—मै तुमसे भी अधिक दुखिया हूँ। तुम तो कर्त्तव्यका पालन किये जा रही हो। लेकिन मैं अपना कर्त्तव्य पाती ही नहीं।

सर०—कौन हो तुम!—तुम्हारा हृदय इतना दयासे आर्द्र है, तुम्हारा स्पर्श इतना कोमल है, तुम्हारा स्वर इतना गद्गद है!—कौन हो

तुम ! मैने तुम्हारे सामने अपने हृदयका द्वार खोल दिया—जो अब तक किसीके सामने नहीं खोला था !—कौन हो तुम जादूगरनी ! तुमने मेरी गूढ़ व्यथाको मेरा हृदय निचोड़कर निकाल लिया ! यह बात तो मैने किसीके आगे कभी नही कही—तुम्हारे आगे क्यो कह दी !—क्यों कह दी !

मुन्नी—वहन ! जो तुमने मुझसे कहा है, उसके लिए तुमको कभी पछतावा न करना पड़ेगा। भगवान्से प्रार्थना करती हूँ कि तुमको फिर गिरिर्तीका सुख मिले। जिसके कारण तुम्हारा सब गया है वह तुम्हारे स्वामीको तुम्हे फेर देगी !

सर०—वह तो वेश्या है—

मुंन्नी—वेश्या होनेसेही उसे घृणाकी दृष्टिसे मत देखो। जाने रहो वहन, अनेक पुरुप वेश्याओसे भी अधम है। (जाना चाहती है, फिर लौटती है) उस वेश्याको तुमने देखा है ?

सर०—नहीं।

मुन्नी—तो लो देखो, वह अभागिन—तुम्हारे सामने ही है। (छातीमें हाथ मारकर) यही मुन्नी वेश्या है ! (तेजीमे प्रस्थान।)

[सरस्वती एकटक उधर ही देखती है। दूसरी ओरसे झूमते हुए भगवानदासका प्रवेश।]

भग०—मै उसे देख लूँगा ! पाजी !—एक वार जरूर देखूँगा।—
..न ! ओ तुम हो !

सर०—हॉ मैं हूँ !

भग०—हट जाओ !

(सरस्वती किवाड पकडे खडी रहती है।)

भग०—हट जाओ ! मेरी छाँह न छूना—

सर०—क्यों! मै क्या तुम्हारी आपत्ति हूँ?

भग०—तुम मेरी—	(विकट शब्द करके लेट रहता है ।)

सर०—तुम्हारी क्या आज तबियत अच्छी नहीं है?

भग०—(उठकर) कहता हूँ, यहाँ बैठकर मिनमिन मत करो। मेरी तबियत खराब हो जाती है। तुमको देखकर मुझे बुखार चढ़ आता है!

सर०—यहाँ तक! ओः—अब सहा नही जाता।

भग०—'सहा नहीं जाता'—अपने बापके घर चली जाओ; यहाँ अगर गुजर न हो।

सर०—यहाँ अगर गुजर न हो!—मै क्या तुम्हारी दासी हूँ या वेश्या जो यहाँ अगर मेरी न गुजर हो तो और जगह चली जाऊँ? मै क्या पेटभर खानेके लिए तुम्हारे घरमे पड़ी हूँ?

भग०—तो!—

सर०—हाय रे भाग्य!—मैं अपने लिए यहाँ नहीं पड़ी हूँ, तुम्हारे लिए पडी हूँ। यह घर, टूटा–फूटा हो, जला हो, जैसे तुम्हारा है वैसे ही मेरा है! मेरा यह घर उजड़ी हुई हाट है—लेकिन तो भी मेरा ही घर है। अपना घर अपनी गिरिस्ती छोड़कर कहाँ जाऊँगी! स्वामीको सर्वनाशके निकट खड़े देखकर कौन हिन्दूजातिकी सती स्त्री उसे छोड़कर चली जायगी!

भग०—उः! वाहरी सती!

सर०—देखो, मैं सती हूँ या असती, इसका विचार मै एक शराबीके मुखसे, एक वेश्यागामीके मुखसे, सुनना नहीं चाहती। मेरा सतीत्व मेरा धर्म है, तुम्हारा नहीं।

भग०—तुम्हारा धर्म है!

सर०—हाँ मेरा धर्म है! उस देवताकी पूजाके तुम पुष्प-पत्र मात्र हो! मै तुम्हारी पवित्रता चाहती हूँ इस कारणसे कि जिसमे वह पुष्प-पत्र मेरे देवताके चरणोंमे चढ़ाने लायक हो—जिसमे वह अपवित्र स्थानमे पड़कर कलुषित न हो।

भग०—और अगर कलुषित ही हो!

सर०—तो मैं अपने आँसुओके जलसे धोकर उसे पवित्र कर लूँगी! जाने रहो, सतीके आँसुओंसे बढ़कर गगाजल भी पवित्र नही है।

भग०—हिस!—जाओ मै तुम्हारी वक्तृता नहीं सुनना चाहता।

सर०—तो क्या चाहते हो?

भग०—रुपये।—रुपये निकालो!—मै उसे महीनेमे छः सौ रुपये दूँगा। देखूँ, वह कहाँ तक देता है।

सर०—उसे महीनेमें छः सौ रुपये देना चाहो, हजार रुपये देना चाहो, तो खुद पैदा करके दो।—मै अब न दूँगी।

भग०—तुम न दोगी, तुम्हारे पुरखे देगे!—नहीं तो मैने व्याह ही क्यो किया था!

सर०—मेरे पुरखोंको तारनेके लिए! मै अब न दूँगी। आप उपास करके तुम्हारी कामकी आगमे घी डालनेके लिए अब एक पैसा न दूँगी!—छः सौ रुपये तो बहुत होते है!

भग०—नहीं दोगी?

सर०—अब मै समझ रही हूँ कि मै दादाजीके पाससे रुपये लाकर और तुम्हे देकर तुम्हारे सर्वनाशका मार्ग साफ कर रही हूँ—अब न दूँगी।

भग०—नहीं दोगी! कहता हूँ, दो (धक्का देता है।)

सर०—अब एक पैसा भी नही।

भग०—अच्छा देखता हूँ। (भीतर जाकर पिस्तौल ले आता है) नहीं दोगी?—कहता हूँ, रुपये दो! नही तो!—

सर०—मार डालो। आत्महत्याके पापहीसे बच जाऊँगी।

भग०—कहता हूँ, दो! कहाँ रक्खे है।

सर०—कभी नहीं।

भग०—नहीं तो—(पिस्तौल दिखाकर) देखती हो!

सर०—मार डालो।

भग०—तो मरो। (पिस्तौल सीधी करता है।)

[वेगसे मुन्नीका प्रवेश।]

मुन्नी—(पिस्तौल तान कर) खबरदार!

भग०—(पिस्तौल हाथसे गिर पडती है) कौन हो तुम!

मुन्नी—मैं हूँ मुन्नी!

भग०—ओ! तू है!—हट जा!

मुन्नी—नरकके कीड़े! तुम इस सतीको–इस देवीको यन्त्रणा देकर, भूखे रखकर, मारकर, मेरा खर्च उगाहते हो!—जरा देखो, इस धूलमें लथपथ, रूखे बाल बिखेरे, मलिन, हड्डियोके ढॉचेको देखो। जरा देखो–कामके गुलाम—देखो यह क्या किया है—अगर मनुष्य हो तो घुटने टेककर इस सतीसे क्षमा प्रार्थना करो। अगर यह क्षमा कर दे तो तुम अपनेको बडा ही भाग्यशाली समझो।

भग०—लुच्ची! मेरी ही रकम खाती है और मुझसे ही जबान लडाती है। (पिस्तौल उठा लेता है।)

मुन्नी—तुम्हारी रकम! कहते शर्म नहीं आती? सुनो! तुम्हारी स्त्रीका दान—तुम्हारा यह रुपया—अब तुम्हें देनेके लिए मैने ही इन्हें

मना कर दिया है। तुम्हारा रुपया ?—मैं नहीं जानती थी कि तुम ये रुपये भीख माँगकर, स्त्रीका रक्त चूसकर, अपना मनुष्यत्व बेंचकर, डाकुओंसे भी अधम होकर हथियाते हो और मुझे देते हो। मैं तुम्हारे रुपयोंको लात मारती हूँ। मैं तुमसे घृणा करती हूँ।

भग०—तो यह सब तेरी ही कारस्तानी है! तो मै तुझे ही मारूँगा!

मुन्नी—क्या! मुझे ही मारोगे ?—देखो, मेरे हाथमें भी पिस्तौल है। तुममे और मुझमे अगर पिस्तौलका युद्ध हो तो तुम्हारा ही गिरना निश्चित है। इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। जी चाहता है, एक बार युद्ध कर डालूँ—पाजी पुरुष और वेश्या स्त्रीका युद्ध हो। जगत् देखे, किसकी जय होती है। ना, मै तुम्हें मारूँगी नहीं। तुम नराधम हो, तो भी तुम्हारे छुटकारेकी राह है। तुम इस लपटसे महर्षि हो सकते हो। लेकिन वेश्या–सदा वेश्या है। तुमको मैं पछतानेका समय देती हूँ। यह लो (पिस्तौल फेंक देती है।) मुझको मार डालो। दुनियाके पर्देपरसे मुन्नीका नाम मिट जाय।—यह लो, मै छाती आगे बढ़ाये देती हूँ।

भग०—तो मर। (पिस्तौल दागता है।)

(मुन्नी जमीन पर गिर पडती है। नौकर और परोसी आ जाते हैं।)



चौथा अङ्क ।



पहला दृश्य ।

स्थान—एक सजा हुआ कमरा ।

समय—रात्रि ।

[भगवानदास और उसके इष्टमित्र बैठे हैं । सामने नाचना-गाना हो रहा है ।]

आनन्द भैरवी—ठेका धमार ।

सुखमा सुखद सोहत आज ।
मुनिनके मन मोहि लीन्हें, कामको है राज ॥ सुख० ॥
मधुर मोहन छन्द मधुमय, मधुरगन्ध विराज ।
चलत धीमी वायु छायो चहुँ दिसि ऋतुराज ॥ सु० ॥
पत्र-पुंज निकुँज महँ नव मंजरीके संग ।
करि रहे क्रीड़ा, नच्चत ज्यों पाय प्रेम-प्रसंग ॥ सु० ॥
स्निग्ध सौरभ शिशिर-सिक्त प्रसूनके हैं ढेर ।
सब जगतके हास्यकी है राशि ज्यों चहुँ फेर ॥ सु० ॥
हरित विकसत घने पल्लव नवल शोभाधाम ।
करत हिय महँ अंकुरित शिवको जरायो काम ॥ सु० ॥
झरत झरने शत-तरंग तरंगिणीके रंग ।
चन्द्र-कर-उज्ज्वल विमलजल देखि होत उमंग ॥ सु० ॥
स्वप्नमय अधरात महँ—जब स्तब्ध सब संसार—
करत कलधुनि कोकिला पंचम सुरन उच्चार ॥ सु० ॥
मधुर तान महान वंसीकी सुनाई देत ।
चढ़ि गगन लौं गूँजि रसिकनके हृदय हरि लेत ॥ सु० ॥
मुग्ध तारागन मधुर यह दृश्य देखत हर्षि ।
चन्द्र किरननसों रह्यो ज्यों अमृतधारा वर्षि ॥ सु० ॥
मगन चंद्रहिं हिय लगाय अनन्द हिय न समात ।
मूँदि दृग सोवत शिथिल सी अलस-विह्वल रात ॥ सु० ॥

भग०—वाहवा ! वाहवा ! खूब ! खूब ! नीचे गिरता जा रहा हूँ ! वहा जा रहा हूँ । जरासा धक्का भी नहीं लगता—

नन्दकिशोर—जानते हो, कहाँ जा रहे हो ?

भग०—जानता हूँ ! चूल्हेमें !—चूल्हा जगह कैसी है, कुछ जानते हो नन्दकिशोर ?

नन्द०—खूब गर्म जगह है।

भग०—गर्म ! हाँ गर्म ! बड़ी गर्म ! लेकिन—नहीं, और एक गिलास दो।

भैरोंनाथ—अब न पियो।

भग०—न पियूँ ? यह क्या कहते हो भैरोनाथ, शराब न पियूँ ? पियूँगा। दो। रोको मत। रोकनेसे ही गड़बड़ होगी। बीचमे आकर धक्का न देना। गिर रहा हूँ, गिर जाने दो। अन्तको—जानता हूँ—बड़ा विकट धक्का लगेगा। उस धक्केमे—बस—सब चूरचूर हो जायगा ! इस समय मगर दो।

देवीदास—रतन !

भग०—चुप ! रोको नहीं।

देवी०—अब न पीना।

भग०—पीता हूँ।—उसमें तुम्हारा क्या ! तुम्हारे बापकी दौल-
.. शराब पीता हूँ क्या ? तुम रोकनेवाले कौन ! जिसकी शराब पीता हूँ वह—नन्दकिशोर अगर रोकें तो बस फिर न पियूँगा ! और—यहाँ आऊंगा भी नहीं ! जहाँ मुफ्तकी शराब पाऊँगा, वहाँ जाऊँगा। तुम सब कौन हो ?—

देवी०—नाराज क्यों होते हो भाई ! हम तुम्हारे अच्छेहीके लिए कहते है ! अब और हजम न कर सकोगे।

भग०—कर सकूँगा । हजम कर सकूँगा । शराब पियूँगा । जब तक सो न जाऊँ, अचेत न हो जाऊँ, पहाड़की तरह अटल न हो जाऊँ, तबतक पियूँगा ।

नन्द०—भाई तुम्हारे ही लिए कहते है—

भग०—क्या तुम भी ! बस बाबा, जाता हूँ । तुम लोगोके साथ बस यही आखरी— (उठना ।)

नन्द०—कहाँ जाते हो ? बैठो । न हो, शराब पियो ! जाना नही !

भग०—अब राह पर आये ! नन्दकिशोर, तुम बड़े धर्मात्मा हो । तुम मेरे सच्चे मित्र हो ! दो शराब । (शराब लेकर पीना) उसका चेहरा बड़ा ही सुन्दर था । लेकिन उसकी आवाज—नन्दकिशोर, लाओ शराब ।

नन्द०—देता हूँ ! यह लो (शराब देना ।) लेकिन सोचकर देख लो । मै तुमसे स्नेह रखता हूँ, इसीसे कहता हूँ ! अपना सर्वनाश मत करो ! पृथ्वी पर ये सब चीजे संभोगके लिए बमी है । लेकिन इनका सेवन उचित मात्रासे ही करना चाहिए । अमृत भी अगर अधिक पियो तो वह भी पेटमें जाकर विष हो जाता है ।

भग०—सुना नहीं, ' विषस्य विपमौषधम् ' !—लाओ शराब । (मद्यपान ।)

नन्द०—बस यह आखिरी गिलास है । लेकिन अब न पाओगे । हम लोग तुमसे स्नेह रखते है, इसीसे कहते है ।

भग०—तुम लोग मुझसे स्नेह रखते हो ? नन्दकिशोर ! मुझे चाहते हो ?

नन्द०—हाँ चाहता हूं ।

भग०—मुझमे ऐसा कौनसा गुण है ?

नन्द०—तुम्हारा हृदय महत् और उदार है!

भग०—मेरा हृदय महत् और उदार है! (व्यंग्यकी हँसी हँसकर) नन्दकिशोर! मेरा हृदय महत् है! तो तुम मुझे जानते नहीं–इसीसे। (खड़े होकर) नन्दकिशोर—तुम लोग मेरी तरफ देखो! देखते हो? क्या देखते हो?

नन्द०—कहाँ! कुछ तो नहीं।

भग०—फिर देखो! क्या देखते हो?

देवी०—तुमको—

भग०—मैं कौन हूँ?

देवी०—रतनलाल—

भग०—नहीं।

देवी०—तो फिर?

भग०—मैं हूँ एक पिशाच!—शराब क्यों पीता हूँ, जानते हो?

देवी०—जानता हूँ!

भग०-कुछ नहीं जानते! हा हाः हाः—इस जगह—हाथ लगाओ! (नन्दकिशोरका हाथ लेजाकर अपने कलेजे पर रखता है।) देखते हो!

नन्द०—देखता हूँ।

भग०—धड़क रहा है न? तेजीसे! आँधीकी तरह प्रबल वेगसे! ासकी तरह भयङ्कर गतिसे! देखते हो? देखते हो नन्दकिशोर!

नन्द०—देखता हूँ।

भग०—बीते पापके लिए पश्चात्ताप, और भविष्य दण्डके लिए भय—न दोनोंने मिलकर मेरे जीवनको शैतानका कारखाना बना डाला है, यह जानते हो? पीछेकी ओर देखकर काँप उठता हूँ, सामनेकी ओर देखकर काँप उठता हूँ। उसके ऊपर—उः! नहीं जानते, मेरे जीमें कैसा खटका समाया है।—वह क्या है!!!

देवी०—क्या?

भग०—मा–मा!—इस–इस तरह क्या मेरी ओर देख रही हो! वह मुर्देका मुख—वे खुले हुए ओठ—वह स्थिर पत्थरकी ऐसी मूर्ति, वह एकटक फीकी दृष्टि—मा–मा, इस तरह न देखो, इस तरह न देखो। बल्कि शाप दे दो—शाप दे दो।

देवी—यह क्या बक रहे हो!—किससे बातें कर रहे हो?

भग०—मा! मा!—मैं—ऐ—ऐ—

नन्द०—रतनलाल!—(भगवानदासका हाथ पकड़कर हिलाता है।)

भग०—ओ—ओ—ओ—(मूर्छित हो जाता है।)

(सब घबराकर उसकी सेवा करने लगते हैं।)

नन्द०—रतन! रतन!

भग०—(उठकर) कौन रतन?—ओ! मैं!—ना—अब नहीं रहा जाता। तो प्रकट कर दूँ। बन्धुओ! मेरा नाम रतन नहीं है, मेरा नाम है भगवानदास—जिसने स्त्रीके लिए माताको छोड़ दिया; वेश्याके लिए स्त्रीको छोड़ दिया; प्रतिहिंसाके कारण वेश्याकी हत्या की—

देवी०—यह तुम क्या कह रहे हो रतन!

भग०—कहाँ? क्या कह रहा हूँ? हाँ—ना, सब गलत है। मैंने कुछ नहीं किया। मैं पापी नहीं हूँ। मैं परम पुण्यात्मा हूँ। माकी पूजा करता था। स्त्रीको प्यार करता था। वेश्या कभी रक्खी नहीं। जो कहा था, सब गलत है—सब गलत है!

देवी०—क्या कह रहे हो?

भग०—मैं शिक्षित मनुष्य हूँ। अच्छा—सज्जन—हो सकता था, अगर पहलेकी सी माता पर भक्ति रहती! मेरी माको मुझे लौटा ला

दो, मेरी माको लौटा ला दो, वह पहला पाप धो दो—फिर सब पा सकता हूँ।

नन्द०—क्या कह रहे हो?—तुम्हारा नाम भगवानदास है?

भग०—ना—ना—गलत कह रहा हूँ। मैं सोऊँगा।

[नौकरका प्रवेश।]

नौकर०—बाबूजी!

नन्द०—क्या!

नौकर—पुलिस आई है!

नन्द०—पुलिस!—क्यों आई है, जाकर पूछ।

(नौकरका प्रस्थान।)

नन्द०—एकाएक इतनी रातको पुलिस? बागमें।

देवी०—रतनके मुँहकी ओर तुम लोग जरा देखो—एकदम जर्द पड़ गया है।

भैरों०—देखो, वह इधर ही देख रहा है!

सुखराम—नन्दकिशोरजी, तुम्हारी दावतमे आकर अन्तको गवाही न देनी पड़े।

नन्द०—रतन! रतन!

[नौकरका प्रवेश।]

नौकर—दारोगा साहब पूछते है कि यहाँ भगवानदास नामका कोई आदमी है। लीजिए, वे आही गये।—

भग०—अरे पकड़ लिया!—(भागना।)

नन्द०—रतन! रतन! (पीछे जाना, और लोग भी पीछे पीछे जाते है।)

[दो सिपाहियोंके साथ दारोगाका प्रवेश ।]

दारोगा——कहाँ ! यहाँ तो कोई नहीं है ! वहाँ पर इतनी गड़बड़ काहेकी है ? देखूँ——(जानेको उद्यत होता है ।)

[भगवानदासके सिवा और सबका प्रवेश ।]

भैरो०——छत परसे फाँद पड़ा ।

सुख०——उठते ही भागा——

दारोगा——कौन ?

भैरों०——रतन ।

दारोगा०——रतन या भगवानदास ?

नन्द०——हाँ यही नाम उसने कहा था ।

भैरों०——तुमने देखा कि भागा था ?

सुख०——अपनी आँखोंसे देखा था ।

भैरों०——हाथ–पैर नहीं टूटे ?

सुख०——ना । छत परसे पीपलके पेड़ पर जाकर उलटता-पलटता नीचे जाकर गिरा ! उसके बाद उसी दम उठकर भागा ।

दारोगा——किधर !

सुख०——पश्चिमकी तरफ ।

दारोगा०——महावीरसिंह ! जाओ——पीछा करो ।

[एक सिपाहीका प्रस्थान ।]

दारोगा——जनाब ! माफ कीजिएगा, मैं जरा आपके घरकी तलाशी लेना चाहता हूँ ।

नन्द०——क्यों दारोगा साहब ! मामला क्या है ?

दारोगा——विशेष कुछ नहीं । भगवानदासके विरुद्ध हत्याके अपराधमें गिरफ्तारीका वारंट है । आप अनुमति दें तो मैं घरकी तलाशी लें ।–शायद किसी जगह वह छिपा रक्खा गया हो ।

दो, मेरी माको लौटा ला दो, वह पहला पाप धो दो—फिर सब पा सकता हूँ।

नन्द०—क्या कह रहे हो?—तुम्हारा नाम भगवानदास है?

भग०—ना—ना—गलत कह रहा हूँ। मैं सोऊँगा।

[नौकरका प्रवेश।]

नौकर०—बाबूजी!

नन्द०—क्या!

नौकर—पुलिस आई है!

नन्द०—पुलिस!—क्यों आई है, जाकर पूछ।

(नौकरका प्रस्थान।)

नन्द०—एकाएक इतनी रातको पुलिस? बागमें।

देवी०—रतनके मुँहकी ओर तुम लोग जरा देखो—एकदम जर्द पड़ गया है।

भैरो०—देखो, वह इधर ही देख रहा है!

सुखराम—नन्दकिशोरजी, तुम्हारी दावतमे आकर अन्तको गवाही न देनी पड़े।

नन्द०—रतन! रतन!

[नौकरका प्रवेश।]

नौकर—दारोगा साहब पूछते हैं कि यहाँ भगवानदास नामका कोई आदमी है। लीजिए, वे आही गये।—

भग०—अरे पकड़ लिया!—(भागना।)

नन्द०—रतन! रतन! (पीछे जाना, और लोग भी पीछे पीछे जाते हैं।)

[दो सिपाहियोंके साथ दारोगाका प्रवेश ।]

दारोगा—कहाँ! यहाँ तो कोई नहीं है! वहाँ पर इतनी गड़बड़ काहेकी है? देखूँ—(जानेको उद्यत होता है ।)

[भगवानदासके सिवा और सबका प्रवेश ।]

भैरो०—छत परसे फाँद पड़ा ।

सुख०—उठते ही भागा—

दारोगा—कौन?

भैरों०—रतन ।

दारोगा०—रतन या भगवानदास?

नन्द०—हाँ यही नाम उसने कहा था ।

भैरो०—तुमने देखा कि भागा था?

सुख०—अपनी आँखोंसे देखा था ।

भैरों०—हाथ-पैर नहीं टूटे?

सुख०—ना । छत परसे पीपलके पेड़ पर जाकर उलटता-पलटता नीचे जाकर गिरा! उसके बाद उसी दम उठकर भागा ।

दारोगा—किधर!

सुख०—पश्चिमकी तरफ ।

दारोगा०—महावीरसिंह! जाओ—पीछा करो ।

[एक सिपाहीका प्रस्थान ।]

दारोगा—जनाब! माफ कीजिएगा, मै जरा आपके घरकी तलाशी लेना चाहता हूँ ।

नन्द०—क्यों दारोगा साहब! मामला क्या है?

दारोगा—विशेष कुछ नहीं । भगवानदासके विरुद्ध हत्याके अपराधमें गिरफ्तारीका वारंट है । आप अनुमति दें तो मै घरकी तलाशी ले ।—शायद किसी जगह वह छिपा रक्खा गया हो ।

नन्द०—दारोगा साहब! मैं आनेरेरी मजिस्ट्रेट हूँ।

दारोगा०—माफ कीजिएगा। मुझे अपने कर्त्तव्यका पालन करना ही होगा। आप तो सब जानते है।

नन्द०—तो आइए। तलाश करके देख लीजिए।

(सब जाते हैं।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—भोलानाथके घरका बाग।

समय—सन्ध्या।

[सरस्वतीके सामने तोतेका पिंजडा रक्खा है। वह उसे पढा रही है। भोलानाथ टहल रहे हैं।]

भोला०—सरस्वती! एक बात कहूँगा!

सर०—एक क्यो! दस बाते सुना दीजिए न।

भोला०—तेरा चेहरा सदा क्यो उदास रहता है?

सर०—इतनीसी बात कहनेके लिए इतनी बडी भूमिका! इस बातमें तो मै कुछ नयापन नही देखती। दो महीनेसे बराबर आप यही बात कह रहे है।

भोला०—क्या कहनेकी मुझे साध है! तू सदा सोचा करती —चल, गाड़ीपर बैठकर जरा मैदानकी हवा खा आवें।

सर०—ना दादाजी! मेरा जानेको जी नहीं चाहता।

भोला०—तो यहाँ तू इस तरह मुँह लटका कर न बैठने पावेगी।

सर०—(हँसकर) कहाँ मुह लटकाये मै बैठी रहती हूँ दादाजी!

भोला०—मगर तुझे ही दोष किस तरह दूँ?—जिसका स्वामी हत्या करके भागा हुआ है!—यह भी तेरे नसीबमें था!

सर०—वे इस समय अज्ञातवास कर रहे है। मालूम पड़ता है, आपने पाण्डवोकी कथा नहीं सुनी! आः! मै आपको कहाँतक सिखाऊँ। आप तो कुछ भी नहीं जानते।

भोला०—जिस दिन सुना, भगवानदासने तुझे लातसे मारा, उस दिन मालूम पड़ा—क्या कहूँ सरस्वती—मालूम पड़ा कि यह हरीभरी शस्यश्यामला पृथ्वी मेरे सामने ही सूखकर फूलकी तरह शून्यमे झड़ पड़ी और नीचेसे नरक उछल पड़ा, और शैतानोका दल व्याहको टिटकारी देकर हँसने लगा।—ओः!

सर०—यह क्या दादाजी! पतिकी लात पतिव्रताकी छातीमे—कौस्तुभ मणि क्या चीज है—मुझे ठीक जान पड़ा, जैसे स्वर्गसे कल्पवृक्षके फूलोकी वर्षा हो रही है।

भोला०—यह क्या सरस्वती!

सर०—प्रेमके गूढ़ तत्त्वको आप कहाँसे जानते?

भोला०—सो क्या!—तुम दोनोंमे प्रेम हुआ था?

सर०—प्रेम! ओ! कैसा प्रेम हुआ था सो क्या कहूँ दादाजी! वह प्रेम बहुत अधिक और भयानक था!

भोला०—किस तरह?

सर०—हम अपने प्रेमका शुमार नही कर पाते थे, उसका अन्त नहीं पाते थे। पूरी तौरसे—क्या कहूँ दादाजी—प्रेमकी मिथ्या कहानीमे पडकर—यहाँतक कि अकसर खानापीना भी न होता था। दिन भर विना भोजनके ही वीत जाता था।

भोला०—तो फिर किया क्या करती थी?

सर०—बैठे बैठे उपमा दिया करती थी।

भोला०—क्या उपमा देती थी ? नमूनेके तौर पर एकाद वता तो सही।

सर०—यही मान लीजिए, वे कहते थे, तू मेरे गलेका हार है; मैं कहती थी, मैं तुम्हारे पैरोंकी जूती हूँ।

भोला०—ओ: ! मुझे जान पडता है—तू व्यंग्य कर रही है—क्या सचमुच ही तुम दोनोमे कभी प्रेम नही हुआ—

सर०—क्यो ?

भोला०—क्या यही प्रेम है ! इसे तो प्रेम नहीं कहते।

सर०—तो फिर किसे प्रेम कहते है ? कहिए न दादाजी प्रेम किसे कहते है !

भोला०—सुनेगी, यही मान ले—किसीका किसीके साथ प्रेम हुआ है—मान ले।

सर०—अच्छा मान लिया—यद्यपि उसे मान लेना वहुत कठिन है। खैर, तर्कके लिए मान लिया। उसके वाद ?

भोला०—लेकिन एकने दूसरेको देखा नहीं, उसका नाम भी नहीं सुना—तो भी प्रेम होगा ?

सर०—सो किस तरह होगा ?

भोला०—किस तरह होगा, यह नहीं जानता। लेकिन होगा —र। कविताकी भाषामे इसे पूर्वानुराग कहते है।

सर०—(विस्मयके साथ) अच्छा !

भोला०—उसके वाद एक दिन—किसी सुलग्नमे, शुभ घडीमे, हरसिंगारके फूलोंकी महकसे मनोहर हवाके झोकोमे, किसी स्वप्न-सरीखी सन्ध्यामे, किसी निभृत निस्तब्ध निकुंजवनमे—दोनोकी चार ऑखे होना। चार ऑखें होते ही प्रेमकी उत्पत्ति।

सर०—चार आँखे होते ही प्रेमकी उत्पत्ति !

भोला०—चार आँखे होते ही प्रेमका होना—याद रखना, अव मै यहाँसे नाटककी भापामे वार्तालाप करूँगा ।

सर०—अच्छा । उसके वाद ?

भोला०—उसके वाद प्रेमिककी स्वगतोक्ति; प्रेमिकाका व्याकुलभाव दिखाना; प्रेमिकका कवितायें रटना और प्रेमिकाका पतन तथा मूर्च्छा ।

सर०—उसके वाद ?

भोला०—सखीका प्रवेश—सब विरहिणियोके पास कमसे कम एक सखी रहनी चाहिए ! नहीं तो प्रेम नहीं हो सकता ।

सर०—नहीं तो प्रेम नहीं हो सकता ?

भोला०—(सिर हिलाकर) होनेकी कोई सूरत ही नही है । सखी न होगी तो वह गान किसके आगे गावेगी ? गानके विना प्रेम जमता ही नहीं ।

सर०—हाँ ।—उसके वाद ?

भोला०—सखीका प्रवेश और हवा करना । प्रेमिकाका होशमें आना और धीरे धीरे चले जाना ! जाते जाते प्रेमिकाकी साड़ीका पेडकी डालीमे उलझ जाना और प्रेमिकको फिरकर देखना ! प्रेमिकाका लवी सोस छोडना और प्रेमिकका—‘ हा हतोऽस्मि ’ कहकर पछाड़ खाना । प्रेमिकाका प्रस्थान और प्रेमिकका—प्रेमिकका क्या ?

सर०—मै क्या जानूँ ! वर्णन तो आप कर रहे है ।

भोला०—ठीक है ! लेकिन इस जगह पर क्या होना चाहिए—कुछ नही सूझता । कुछ मेल नहीं खाता ! तू ही न मेल मिला दे वेटी !

प्रेमिकका ?—बोल। जल्दी बोल। नहीं तो प्रेम ठंडा हुआ जाता है। प्रेमिकका ?

सर०—प्रेमिकका घर जाकर खूब पेटभरकर रोटी खाना और फिर प्रेमके पीछे पड़ जाना।

भोला०—आः ! सब मिट्टी कर दिया !

सर०—क्यो ?

भोला०—यही एक रोटी खानेसे सब मिट्टी हो गया ! मेरा इतना परिश्रम वृथा ही गया। अन्तको रोटी खाना ! आः छिः !

सर०—तो फिर क्या खाना ?—पूरी ?

भोला०—खाना बिलकुल नहीं। निराहार निर्जल रहना।

सर०—उँहुः। खाली पेटसे प्रेम नहीं होता। यह बड़े कड़े परिश्रम-का काम है। रोटी न खाकर पूरी खा सकते है। लेकिन खाना जरूर चाहिए !—अच्छा, उसके बाद ?

भोला०—ठहर जा, पहले विपयको फिर खींच खाँचकर खड़ा कर लूँ।—इस रोटी खानेकी बातने मुझे एकदम बेदम कर दिया है। जरा सँभाल लूँ—ठहर जा।

सर०—सँभाल लीजिए। कुछ जल्दी नहीं है।

भोला०—कितना कह चुका हूँ !—हाँ उसके बाद प्रेमिकका ध्यान। उसके बाद एक दिन आँधी उठना, प्रेमिकका नाव न पाना, [illegible] फाँद पडना, नदी पार होकर उसी दम दौड़ते जाकर प्रेमिकाकी दीवार पर चढकर भीतर फाँद पड़ना।

सर०—उँहुः ! ठीक नही हुआ !—कुछ छूट गया।

भोला०—क्या ?

सर०—मुर्दा और साँप।

भोला०—तुझे कुछ शऊर नही है—तू अकवि है । नही तो क्या प्रेमके वीचमे भी मुर्देको ले आती ।

सर०—मै क्यो ले आई ? भक्तमालमे—विल्वमंगलकी कथामे—मौजूद है ।—अच्छा उसके वाद !

भोला०—उसके वाद और क्या ! प्रेमिक और प्रेमिकाकी भेट । प्रेमिकाका लज्जाका भाव प्रकट करना । फिर सखीका प्रवेश । उसके वाद दोनोंका गुप्तरूपसे ब्याह होना । परस्तानका पर्दा दिखाना । यवनिका पतन ।

सर०—यह क्या ! यही पर प्रेमका अन्त हो जायगा ?

भोला०—अन्त नहीं तो और क्या होगा ! ब्याह हो गया । और क्या चाहती है ?

सर०—उसके वाद और कुछ नही ?

भोला०—अच्छा तू ही कह उसके वाद !

सर०—उसके वाद प्रेमिकाका सुसराल जाना । प्रेयसीका रसोई वनाना, भडारेसे सीधा निकालना, प्राणनाथका रोटी खाना और आफिस जाना ।

भोला०—यह वात किसी नाटककार या कविने नही लिखी ।

सर०—इतनी सत्य वातको काव्य वर्दाश्त नहीं कर सकता । जहॉं असल और सत्य वातका शुरू होना, वही पर नाटकका अन्त होजाना ।

भोला०—हा: हा: हा: ! अच्छा, उसके वाद ?

सर०—उसके वाद यथासमय पुत्र-कन्या होना ।

भोला०—वस अव नाटककी भाषामे नही । तू आप ही कह चुकी है कि यहो पर नाटकका अन्त होना ।

सर०...,अच्छी वात है ! अव यहाँसे प्रचलित भाषामें कहूँगी । उसके वाद 'पुं' नरकसे त्राण (रक्षा) करनेके लिए पुत्ररत्नने आकर दर्शन दिये । अव क्या पूछना है ! उस पुत्रकी सेवा और लालनपालनमें माताको न सोनेकी सुध है और न खानेकी सुध है । माकी जरा आँख लगी, इतनेमे वच्चेने जरा 'ऍं ऍं' किया, माकी आँख खुल गई, वह चट वच्चेको छातीसे लगाकर—"ओ—ओ—ओ—मेरा लाल, मेरा वच्चा ! ओ—ओ—ओ—आरे चंदा" करने लगी ।

भोला०—तू ठीक कहती है ।

सर०—लड़का जरा वड़ा हुआ तो गोदसे गर्दन पर चढ़ने लगा । वुखार है—डाक्टरको वुलाओ । पाठशालासे लडका 'क' लिखकर घर आया, तो घरमे माता मिठाई और जल लिये दासीकी तरह हाजिर है। रातको लड़केने कहा अम्मा, वडी गर्मी है, माता पखा लेकर डुलानेके लिए दौड़ी । माता उस लड़केके लिए कितने ही वडे दिन विना कुछ खाये-पिये, कितनी ही वडी रातें विना आँख लगाये, विता देती है। मरते दम तक माताके मुखमे पुत्रकी वातोके सिवा और वात नहीं रहती, ध्यानमे और चिन्ता नही रहती । वह सोतेमे और स्वप्न नहीं देखती । लड़का लड़का लडका ! मरनेके वाद मुँहमे लुकुआ लगावेगा कि नही ! वह भी कहाँ नसीव होता ! एकदिन माताकी गोद खाली करके, उसकी [illegible] तोडकर, उसके जीवनको सूना वनाकर, वही लड़का, इतने यत्न त[illegible] आदर—इतने स्नेहको तुच्छ करके न-जाने कहाँ चला जाता है । [illegible] वह देख नही पड़ता ।

भोला०—फिर वही वात !

सर०—ना दादाजी ! मै चुप हूँ !—आहा वह चेहरा ! कैसे टुकुर टुकुर मेरी ओर देखता था । वे दोनो छोटे छोटे हाथ—वे नन्हीं नन्हीं उँगलियाँ !—अगर आप देखते दादाजी !—जैसे मोमका पुतला था ।

भोला०—वह पुण्यात्मा स्वर्गको गया। लेकिन तेरा पुत्र—मेरी पोतीका पुत्र—अन्तको दारिद्र्यके कोड़े खाकर, आहारके विना—

सर०—यह क्या! आप रो रहे है दादाजी! इतना समझाया बुझाया, पर मै आपको सुधार नहीं सकी!—उधर देखिए, केलेके पेड़ोपर सूर्यकी किरणे आकर पड रही है। जैसे सन्ध्याकी जय-पताका फहरा रही है।

भोला०—यह वात तूने पत्रमे लिखकर मुझे जताई क्यो नही सरस्वती!—मै तुझे इतना प्यार करता हूँ।

सर०—फिर वही वात!—अच्छा दादाजी! काव्योमे प्रेमीका प्रेममे मूर्च्छित होना लिखा है। सो क्या वात है दादाजी! सत्य ही क्या प्रेममे मूर्च्छा आती है?

भोला०—कहाँतक वहलावेगी वेटी! और मै कहाँतक टालूँगा! यह शोक कही टाला या वहलाया जा सकता है!—यह गेरूके झरनेकी तरह पत्थरको फोडकर उछल रहा है। आ वेटी, इससे यह अच्छा होगा कि हम दोनो रोवे, एकसाथ चिल्लाकर रोवे और वह हमारा रोना आकाशमे जाकर किनारेसे टकराई हुई सागरकी लहरकी तरह दयामयके चरणोतक पहुँचे। देखूँ, उन्हे दया आती है कि नही।

सर०—रोऊँ क्यो दादाजी! भगवानने जो दिया है उसे सिर झुकाकर स्वीकार करूँगी।

भोला०—यह तुझसे हो सकेगा?

सर०—हो सकेगा! भवानीदादाने मुझे ईश्वरका भजन सिखा दिया है। उन्होने कहा है कि भगवान जिस पर वहुत कृपा करते है उसीको दु:ख देते है। दुःख देकर अपने हृदयसे लगा लेते है, और भी अपना लेते है। वह देखो, भवानी दादा गा रहे हैं। क्यो?

भोला०—हाँ चुप होकर सुन।

(नेपथ्यमे भवानीप्रसादका गीत ।)

वार वार जो दुःख दिया या देती तारा।
सो तेरा तारिणी अनुग्रह ही है सारा॥

भोला०—रुक क्यो गये !—गाओ भवानीप्रसाद !—वह ! गाते गाते उस ओर चले गये ।—भवानी ! भवानी !—तू यहाँ ठहर । मै वुला लाऊँ । (प्रस्थान ।)

सर०—वादल ऑसू होकर हलका हो गया ।—ईश्वर ! क्षमा करो । मैं अवोध वच्ची हूँ । इस ससारमे आकर खिलौनोका खेल कर रही हूँ । मै ही क्यों ! सभी यही कर रहे है । वच्चेका खिलौना खिलौना है । माताका खिलौना वच्चा है । जवानका खिलौना धन है । वूढेका खिलौना यश है । ये सभी खेल एक दिन खतम हो जायँगे ।—वह चन्द्रमा निकल रहा है । वह तालावके पानीमें चन्द्रमाका प्रतिविम्व झिलमिला रहा है । कोयल वोल रही है । कैसी सुन्दर यह पृथ्वी है ! इसे तो कोई छीन नहीं ले जा सकता ।—

(टहल टहलकर गाती है ।)

गीत।

ठुमरी–पजावी ठेका ।

दो दिनका है खेल, अरे क्यों मूरख मन भटकावे ।
नींद छोड़कर, ऑख खोलकर, नही सँभलने पावे ।
इधर उधर देखते देखते अवसर वीता जावे ॥ दो० ॥
आशामें ऊपर उठता है, गिरता है, फिर धावे ।
हँसता, रोता, महल कामनाओंका रचे, गिरावे ॥ दो० ॥
वेच-खरीद न सकती कुछ भी, मेला यह उठ जावे ।
दोनों हाथ मले मुफलिस मन, क्यो पीछे पछतावे ॥ दो० ॥
जीव जगतमें जो कुछ सुख दुख समय समय पर पावे—
जीवन-मरण-विधाताका है खेल; वृथा घवरावे ॥ दो० ॥

—कैसी सुन्दर हवा चल रही है ।

[छद्मवेषसे भगवानदासका प्रवेश ।]

भग०—सरस्वती !

सर०—(चौंककर) कौन!—ओ!—तुम!—यहाँ!—इस तरह! —इस वेषमे !

भग०—पुलिसने मेरा पीछा किया है ! इसीसे मै दीवार फाँदकर यहाँ आया हूँ ! मुझे क्या आश्रय दोगी !

सर०—इतने दिनोसे कहाँ थे ?

भग०—गढ़ोमे, मसानोमे, जगलोमे, बीहड रास्तोमे फिरता रहा हूँ। कभी वैरागी, कभी कुली, कभी नाम बदलकर भला आदमी बना हूँ । अन्तको तुम्हारे पास आश्रयकी भिक्षा माँगने आया हूँ ।—क्या आश्रय दोगी ?

सर०—ओः ! (पसीना पोंछती है) ना—तुम चाहे जैसे हो, मेरे स्वामी हो । मै स्त्रीके कर्त्तव्यका पालन करूँगी ।—आओ । मै तुम्हे अभय दूँगी ।

[भोलानाथका फिर प्रवेश ।]

भोला०—सरस्वती ! वह भवानी—(चौंककर) यह कौन ?

(सरस्वती लज्जाके मारे दोनों हाथोंसे मुँह ढँक लेती है ।)

भोला०—(आश्चर्यसे) भगवानदास है क्या ?

भग०—हाँ दादाजी—

भोला०—चुप रह ! मै खूनीका दादा नही हूँ । यहाँ क्यो आया है ?

भग०—आश्रयके लिए ।

भोला०—हूँ !—हिम्मत तो कम नहीं है ! निकल यहाँसे ।

सर०—दादाजी ।

भोला०—चुप सरस्वती !—(भगवानदासकी ओर उँगली उठा कर) जो व्यक्ति नारीकी हत्या करनेवाला है, यहाँ उसके लिए जगह नही है ।—निकल यहाँसे ।

सर०—(हाथ जोड़कर घुटने टेककर) दादाजी ।

भोला०—सरस्वती ! समझता हूँ । सब समझता हूँ । लेकिन यहाँ चोरी-छिप्पा कुछ न होगा । मैं सदा सीधी राहसे चलता आया हूँ । इस समय स्नेहके वश होकर टेढ़ी राह नहीं चलूँगा । मेरा घर हत्या-रोका अड्डा नहीं है ।—निकल स्त्रीघातक !—तेरा मुँह भी देखकर प्रायश्चित्त करना चाहिए ।

सर०—(उठकर) तो मुझे भी विदा कर दीजिए दादाजी !

भोला०—यह क्या !

सर०—वे जैसे जो हो—मेरे स्वामी हैं ।

भोला०—ओ !—समझ गया !—अच्छी बात है !—तूने सोचा होगा बेटी कि तुझे मैं प्राणोंसे भी बढ़कर चाहता हूँ, इस कारण तेरे लिए कर्त्तव्यकी राह छोड़ दूँगा ! यह सोचना भी नहीं । कर्त्तव्यके लिए मैंने बहुत कुछ छोड़ दिया है । तुझे छोड़ना पड़ेगा तो तुझे भी छोड़ दूँगा । यद्यपि तुझे छोड़नेमें मेरी छाती फट जायगी, सब अंग शिथिल हो जायँगे, शायद पागल भी हो जाऊँगा; लेकिन—जबतक जियूँगा अपना कर्त्तव्य किये जाऊँगा । अपराधीको—विशेषकर हत्या-कारीको—न्यायके हाथसे नहीं बचाऊँगा । न्यायकी आँखोंमें धूल डालूँगा ।—जा बेटी ! मैं तुझे भी विदा करता हूँ ।

भग०—इसकी जरूरत नहीं है । मैं खुद जाता हूँ । खुद विप-।। लहरोंमें पड़कर डूब रहा हूँ—स्त्रीको भी लेकर उसमें क्यों डूबूँ !—मैं पुलिसको आत्मसमर्पण कर दूँगा ।

सर०—ठहरो, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी । जहाँ तुम्हारा स्थान है, वहीं मेरा स्थान है; वह चाहे पेड़के नीचे हो, चाहे जेलखानेमें हो, और चाहे वध्यभूमिमें हो । तुम यदि आज ऐश्वर्यके गर्वसे गर्वित होकर

मुझको लेने या ग्रहण करने आते तो मै उधर ध्यान भी न देती, लेकिन आज तुम भिक्षुक निराश्रय हो !—दादाजी, तो आज्ञा दीजिए।

भोला०—अच्छी बात है ! अगर जासके तो जा सरस्वती !—ऑखो ! अगर ऑसू गिराओगी तो तुम्हे निकाल कर फेक दूँगा। अन्धा तो यो भी होजाऊँगा। पहलेहीसे सही। जा सरस्वती—गलेमे क्या रुँधासा आता है—जा सरस्वती। मुझे छोड़कर हत्याकारीके साथ जा।

सर०—दादाजी—

भोला०—इधर देख सरस्वती ! ये सफेद बाल—जिनके ऊपरसे साठ वरसका ऑधी—पानी निकल गया है। इधर देख यह चचल वक्ष—जिसके भीतर एक स्नेहका सागर लहरा रहा है। इधर देख यह बूढ़ा मरनेके किनारे—ना। जा सरस्वती।

सर०—एक ओर स्नेह है, और दूसरी ओर कर्तव्य है—

[अदृश्यभावसे भगवानदासका प्रस्थान ।]

भोला०—जा सरस्वती ! खडी क्यो है ! मुझे छोड़कर जासके तो जा। देख, मै खड़ा खड़ा तेरा जाना देख सकता हूँ या नहीं।—ऑखो ! फिर !—ना, निकालकर फेक दूँगा। (ऑखें निकालनेको उद्यत होता है।)

सर०—यह क्या ! यह क्या ! दादाजी ! (हाथ पकडती है) आप करते क्या है ! करते क्या है ! (घुटने टेककर) दादाजी !

भोला०—जा सरस्वती !

सर०—(फिर कर) मेरे स्वामी कहॉ है ?—चले गये !

भोला०—गया ?

सर०—(कुछ देर चुप रह कर) दादाजी ! आपने मेरे स्वामीको आश्रय नहीं दिया !

भोला०—हरएक व्यक्तिको यही उचित है कि हत्याकारीको न्यायके हाथमे सौप दे। मैने उसे केवल यहाँसे भगा दिया। जब मैंने उस अधमके हाथमे तुझे सौप दिया था तभी क्या मैने उसे अपना सर्वस्व नही सौप दिया था? अपना हृदय निकालकर उसे नहीं दे दिया था?—लेकिन मेरी सरस्वतीको उसने लात मारी—उसने स्त्रीकी हत्या की—ना, यहाँ हत्याकारीके लिए स्थान नहीं है।

सर०—वह हत्याकारी अगर आपका बेटा होता?

भोला०—उसे भी इसी तरह त्याग कर देता।

तीसरा दृश्य।

स्थान—अदालत।

समय—तीसरा पहर।

[अपने अपने स्थानमें जूरी, वकील–बैरिस्टर और जज बैठे है। दूरपर भगवानदास और दर्शक लोग उपस्थित है। वकील अपनी बहस कर रहा है।]

वकील—जूरर महाशयो! इस समय आसामीके विरुद्ध प्रमाण यह है कि आसामीके साथ वेश्याकी कहा सुनी हुई; उसके बाद ही एक पिस्तौलकी आवाज सुनाई पड़ी, बादको असामीके नौकरो और परोसियोने उस घरमे प्रवेश करके देखा कि मुन्नीकी खूनसे लथपथ लाश जमीन पर पड़ी हुई है। आसामीकी स्त्री कुछ दूरी पर मूर्च्छित अवस्थामे पड़ी हुई है, और आसामी पिस्तौल हाथमे लिए खडा है। लोगोको देखते ही आसामी पिस्तौल फेककर भाग खडा हुआ। ये सब बाते आसामीके नौकरो और परोसियोकी गवाहीसे प्रमाणित हो गई है। पुलिसमे खबर भेजी गई। आकर देखा लाश मौके पर नहीं है! इसी बीचमे निश्चय ही वह लाश किसीने वहाँसे हटा दी। किसने से हटा दी, यह बेशक अभी-

तक साबित नही हुआ। लेकिन यह साबित हो चुका है कि इसी समयमे एक किरायेकी गाड़ी उस घरसे मुन्नीके घरकी तरफ गई थी। दस दिन वाद वहीं लाश मुन्नीके घरके कुऍमे अधसड़ी अवस्थामे पाई गई। वह लाश मुन्नीहीकी थी, इसका प्रमाण यह है कि उस लाशकी उँगलीमे एक अँगूठी थी; उसमे मुन्नीका नाम खुदा हुआ है।—

यह जरूर है कि आसामीकी स्त्रीने इस वारेमे आसामीके खिलाफ गवाही नहीं दी। मगर कौन हिन्दू जातिकी सती स्त्री अपने स्वामीके विरुद्ध गवाही देगी?—

तभीसे आसामी भागा हुआ था। यह भी उसके खिलाफ सुबूतमे कहा गया है।

पिस्तौल असामीका ही है, यह वात शिनाख्त की जा चुकी है।—

अव इससे वढ़कर सन्तोषजनक और प्रमाण क्या हो सकता है?—

इन वातो पर विचार करनेसे स्पष्ट कहा जा सकता है कि इस मुन्नीकी हत्याका जिम्मेदार यही आसामी है। जिस कमरेमे हत्या हुई वहॉ उस समय आसामी, आसामीकी स्त्री और इस लाशके सिवा और किसीको किसीने देखा नहीं। अतएव यह हत्या—या आसामीने की है, और या आसामीकी स्त्रीने की है। लेकिन आसामीकी स्त्रीका यह हत्या करना क्या सभव है? मुन्नीसे झगडा आसामीसे हुआ था, आसामीकी स्त्रीके साथ नही। इसके सिवा हत्या करके स्वामीके हाथमे पिस्तौल देकर क्या कोई कभी मूर्च्छित हो जा सकता है! और आसामीकी स्त्री अगर हत्या करती तो आसामी क्यो छिपकर भागा भागा फिरता!

इस लिए जूरर महोदयो! इस हत्याके सम्बन्धमे जहॉतक सम्भव था, प्रमाण पाये गये है। अव आप लोग विचार करे। अगर आसामीके अपराधके सम्बन्धमे कोई सगत सन्देह हो, तो आसामीको

निर्दोष प्रमाणित करना होगा । और अगर सन्देह न हो तो आसामीको हत्याके अपराधका अपराधी समझना होगा; कोई उपाय नहीं है । हत्याके अपराधका दण्ड फाँसी तक हो सकता है । इन्हीं सब बातोंको सोच समझकर आप विचार करें । (बैठ जाता है ।)

जज—आसामी भगवानदास, तुमको कुछ कहना है ?

भग०—धर्मावतार ! मै निरपराध हूँ ।

जज—सो तो पहले ही कह चुके हो ! और कुछ कहना है ?

भग०—धर्मावतार ! यदि मुझसे अपराध बन ही पडा हो तो मुझे मृत्युका दण्ड न दीजिएगा । मै अभी जवान हूँ । पृथ्वी मेरे लिए अभी-तक नई चीज है । अभी संसारमें मुझे आशा है, देहमे शक्ति है, मनमें बल है । मै पापी हूँ, पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए अवकाश दीजिए । मरनेसे मै बहुत डरता हूँ ।

जज—इस प्रकारकी प्रार्थना अदालतमे बेकार है । न्याय तर-वारकी तरह पैना, कठिन और निर्मम है । तुम अगर निर्दोष हो तो वह तुमको छूयेगा नहीं—बल्कि सम्मान करेगा । लेकिन जो तुम अपराधी हो तो वह 'होनी' की तरह कठोर है—दया नहीं करता । प्रमाणके सम्बन्धमे तुम्हें कुछ कहना है ?

भग०—मैंने हत्या नहीं की ।

जज—तो किसने हत्या की ?

भग०—मेरी स्त्रीने ! (भगवानदासको अन्तरिक्षमें मानों सुन पडा—'सावधान !') यह क्या ! किसकी आवाज है !—ईश्वर ईश्वर !—रक्षा करो–रक्षा करो ! (फिर 'सावधान' का शब्द सुन पडता है) ना, ना, निरपराधिनी सतीको इस मामलेमे नहीं फँसाऊँगा ।—ना धर्मा-वतार ! मेरी स्त्रीने नहीं हत्या की—लेकिन—लेकिन—मरनेसे मै बहुत डरता हूँ—मरनेसे मै बहुत डरता हूँ ।—मैंने हत्या नहीं की ।

जज—किसने हत्या की है ? सच कहो, किसने हत्या की है ?

भग०—मेरी स्त्री—

[दर्शकोंकी भीड़ फाड़कर सरस्वतीका प्रवेश]

सर०—सच है धर्मावतार !—हत्या मेरे स्वामीने नही की। हत्या मैने की है।

जज—तुम कौन हो ?

सर०—मै आसामीकी स्त्री हूँ—

सब लोग—आसामीकी स्त्री !

सर०—मुन्नी मेरे स्वामीके पास नौकर थी। उसी डाहके मारे मैने उसे मार डाला। हत्या करते ही मै खौफसे बेहोश होकर गिर पड़ी। जान पड़ता है, मेरे स्वामीने उस समय छिपा देनेके अभिप्रायसे पिस्तौल उठा लिया होगा।

(वकील गर्दन हिलाता है।)

सर०—वकीलसाहब ! मेरी बात पर अविश्वास करनेका कारण क्या है ? आपहीकी युक्ति है कि हत्या या आसामीने की है, या आसामीकी स्त्रीने। मेरे स्वामी अस्वीकार कर ही रहे है। मै स्वीकार करती हूं।

जज—अबतक यह बात क्यो नहीं प्रकट की ?

सर०—प्राणके भयसे। लेकिन जब देखा कि एक निरपराधको फांसी हो रही है तब मुझसे नही रहा गया।

जज—(वकीलसे) What do you say ? (आप क्या कहते है?)

वकील—I do think that the matter requires further enquiry, specially as the prisoner denies his guilt and this lady corroborates him. (मैं समझता हूं, इस मामलेकी

और भी जाँच होनी चाहिए। क्योंकि आसामी अपराध करना अस्वीकार करता है और यह महिला उसका समर्थन करती है।)

जज—Very well, officer of the court you may arrest this wo—I mean lady. (बेहतर है, न्यायालयके कर्मचारी, इस औरत—मेरा प्रयोजन है, औरतको गिरफ्तार कर लो।)

कर्मचारी—As your worship pleases. (सरस्वतीसे) मैं आपको आपकी स्वीकृतिके अनुसार गिरफ्तार करता हूँ।

सर०—कीजिए।

(यों कहकर बाँधनेके लिए अपना हाथ बढ़ा देती है। उस समय उसका सिर और भी ऊँचा हो जाता है। उसके सिर परसे दुपट्टेका आँचल खिसक जाता है। सब लोग सहसा उठकर उसकी ओर भक्तिपूर्ण विस्मयके भावसे ताकने लगते हैं।)

चौथा दृश्य।

स्थान—भोलानाथका घर।

समय—सबेरा।

[भोलानाथ, प्रेमशंकर और दीनानाथ।]

भोला०—रुपये चाहिए, रुपये चाहिए, जिस तरहसे हो।

प्रेम०—सो तो मैं भी देख रहा हूँ, लेकिन रुपये आवें कहाँसे!—तब तो जो कुछ था, वह दोनों हाथों लुटा दिया।

भोला०—लुटा तो दिया—ठीक है। लेकिन रुपये चाहिए।

प्रेम०—जिसने उधार माँगा, आपने दे दिया। देकर फिर कभी पाया नहीं। उसको पिताकी गया करनी है, इसको कन्याका व्याह करना है, किसीको महाजनके चुगलसे छुड़ाना है—तब तो सबकी सब मुसीबत आपने अपने सिर ले लीं—अब!

भोला०—इस समय मुझ पर विपत्ति पड़ी है, वे लोग क्या सहायता नहीं करेंगे—मेरी मुसीबतमें शरीक न होंगे ?

दीना०—तुम मनुष्यको नहीं पहचानते भोलानाथ! इसीसे उपकारका बदला पानेकी आशा करते हो!

भोला०—जब उपकार किये थे तब यह नही सोचा था कि इनका बदला पाऊँगा। आज—पहले पहले यह खयाल मनमे पैदा हुआ है। वे नहीं देगे ? इस विपत्तिके समय उनमेसे कोई १०००० रु० उधार न देगा ?

प्रेम०—माँगकर देखिए न!

भोला०—कहते क्या हो प्रेमशङ्कर! जगतमे प्रत्युपकार नहीं है ? उपकारका बदला—

दीना०—गालीगलौज—इतनेहीमे अगर वह चुप रह जाय तो गनीमत समझो।

भोला०—क्यो ?

दीना०—मनुष्य अधम है!— जितना दो उतना ही माँगता है। जितना उसका उपकार करो उतना ही मानो तुम उसका उपकार करनेके लिए बाध्य हो, अगर न कर सके तो गालियाँ सुननेको मिलेगी!

भोला०—मनुष्य इतना नीच है!—ना ना। यह हो नहीं सकता। यह हो नहीं सकता।

प्रेम०—वह देखो, उन्हींमेसे एक आदमी, सिरपर छाता लगाये जा रहे हैं। पुकारूं ?—जरा माँगकर देखिए न। ओ कामताप्रसाद!

कामता०—(नेपथ्यमें) क्या है ?

प्रेम०—जरा इधर आइए तो।

कामता०—(नेपथ्यमें) बड़ी जरूरतसे जा रहा हूँ।

प्रेम०—दो मिनटके लिए चले आइए।

कामता०—(नेपथ्यमें) आः ?

दीना०—वह आ रहा है ! लेकिन मुखका भाव देखते हो !

[कामताप्रसादका प्रवेश।]

कामता०—क्या कहते हो !—मुझे फुरसत नहीं है।

प्रेम०—चाहनेसे फुरसत हो सकती है; न चाहनेसे नहीं। एक दिन था, जब तुम यहाँ हत्या दिये पड़े रहते थे।

भोला०—सचमुच फुरसत नहीं है ?

कामता०—जी हाँ !

भोला०—सच ?

कामता०—सच।

भोला०—अच्छा—जाओ।

(कामताप्रसाद जाना चाहता है।)

प्रेम०—ठहरो। तुम्हारा अधिक समय नहीं नष्ट करूँगा। याद है, आपने दादाजीसे पाँच हजार रुपये उधार लिये थे ?

कामता०—कहाँ ?—नहीं तो।

प्रेम०—लेकिन आपने रुपये लिये थे।

कामता०—कुछ लिखा पढ़ी है ?

प्रेम०—शायद नहीं है। मूर्ख दादाजीने लिखाया नहीं। तो भी आपने रुपये लिये थे ?

कामता०—किसी जन्ममें नहीं।

प्रेम०—अजी इसी जन्ममे ।

कामता०—ना ।—मुझे अव समय नही है । (जाना चाहता है।)

भोला०—तुम्हें मेरा कुछ नही देना है भैया। मुझे तुम्हारा देना है।

कामता०—(घूमकर) सो हो सकता है । सो हो सकता है।—कितने रुपये ?—ठीक याद नहीं पड़ती ।—अनेक कामोमे लगे रहना पड़ता है, याद भी नही रहता ।—कितने रुपये देना है ?

भोला०—सो तो नही मालूम । मगर यह जानता हूँ कि मनुष्यके निकट मनुष्य अवश्य ही ऋणी है भैया ।—कोई उस ऋणको स्वीकार करता है, कोई नहीं करता । भैया ! तुम्हे मेरा कुछ नही देना ! इस समय जो तुम मुझे दोगे वह मानो दान दोगे । मुझे दान करो । मुझ पर वड़ी भारी विपत्ति आ पड़ी है ।

कामता०—मुझे अव समय नही है । मै जाता हूँ । (प्रस्थान।)

दीना०—क्यों भोलानाथ ! क्या सोच रहे हो !

भोला०—भवानीप्रसाद—अजी भवानीप्रसाद—

दीना०—भवानीप्रसाद क्या करेगा !—

प्रेम०—वह देखिए, श्यामलाल जा रहा है ।

भोला०—कौन श्यामलाल ?

प्रेम०—जिसे लडकीका व्याह करनेके लिए पाँच हजार रुपये आपने दिये थे—वावू श्यामलाल !—ओ वावू श्यामलाल !—चला गया । उत्तर भी नहीं दिया । मालूम पड़ता है, मानो वह कभी आपके पास आया ही नहीं । मैं जानता हूँ, वह अव आपके पास कभी न आवेगा ।

भोला०—क्यो ! मै क्या पागल कुत्ता हूँ ! लोग मेरे पास आनेमें इतना डरते क्यों हैं ?—

दीना०—या तो वे अपने साथ उपकार करनेवालेको पहचान नहीं सकते, और या उनको देख ही नहीं पड़ता।

प्रेम०—वह रामनाथ जा रहे हैं। रामनाथ ! अजी रामनाथ !

राम०—(नेपथ्यमें) क्या—

प्रेम०—जरा इधर आइए तो।

राम०—(नेपथ्यमें) आता हूँ।

भोला०—यह तो पुकारते ही चला आया। मनुष्य कहीं इतना खराब हो सकता है। दो एक जरा विगड़ जाते हैं।—वह देखो आ रहा है।

प्रेम०—कुछ समझमें नहीं आता। उसे महाजनकी डिक्रीके संकटसे बचानेके लिए आपने पन्द्रह हजार रुपये दिये थे।

भोला०—वह मेरी वहिनका दामाद है।

दीना०—ठीक है।

[रामनाथका प्रवेश ।]

भोला०—आओ भैया !

राम०—बाबूजी ! यह अच्छा है !—बुढापेमे यह बदनामी ! मै ५ ही आ रहा था।—यह बदनामी !—एक वेश्याके चरणोमे इतना : अर्पण कर दिया। और, मैने कल अपनी लड़कीके व्याहके लिए च हजार रुपये मँगाये तो कहला भेजा कि इस समय रुपये मौजूद ें है। मै आपकी वहिनका दामाद हूँ—मेरा कुछ भी खयाल नहीं !

दीना०—तुमने सिर खरीद रक्खा है भैया, सिर पर चढ़ो।

भोला०—ना ना। सुनो भैया, मुझे खुद ही इस समय रुपयोंकी जरूरत है। दूँ कहाँसे।

राम०—लेकिन वेश्याको आप इस समय भी काफी रकम दे सकते है। अच्छी बात है—

भोला०—वेश्याको !—

राम०—विशेष कहनेकी जरूरत नही है—धूर्त, शराबी, लंपट—

प्रेम०—चुप रह उल्लू—(जाकर गर्दन पकड़ता है)

भोला०—अरे यह क्या करते हो ! क्या करते हो !

प्रेम०—निकल यहाँसे ।

राम०—अच्छी बात है !—इस घरमे अब कौन साला पैर रक्खेगा। (प्रस्थान।)

दीना०—अरे बापरे, यह तो भीष्मकी प्रतिज्ञा है।

भोला०—यह क्या ! तो क्या सचमुच ही मनुष्य इतना अकृतज्ञ हो सकता है ! इसकी—इसकी तो मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सका।—भवानीप्रसाद ! एक—ना, कुछ मेरी समझमें नहीं आता। कुछ समझमें नहीं आता। मेरा सिर घूमा जा रहा है। ऑखोके आगे अँधेरा छा रहा है।—ईश्वर ! रुपये न पाऊँ, भूखों मरूँ, सरस्वती फॉसी पर लटक जाय—लेकिन मनुष्य पर, तुम पर, मेरा विश्वास अटल बना रहे।

दीना०—भोलानाथ ! मै इन रुपयोंका प्रबन्ध करने जाता हूँ। तुम निश्चिन्त रहो।

भोला०—वह क्या है ! आकाशमें नक्षत्र हिल रहे है—इन्होंने शराब पी है क्या ! पृथ्वी पैरोंके नीचेसे निकली जा रही है। चन्द्रमा अग्निकी वर्षा कर रहा है। हवा एक जगह खड़ी होकर अपना पसीना पोंछ रही है। दीनानाथ ! मुझे सँभालो। गिर पड़ूँगा।

दीना०—धैर्य न छोड़ो। मैं इन रुपयोंका प्रबन्ध करता हूँ।—मै प्रबन्ध करके रुपये लाता हूँ।

भोला०—लाते हो! लाते हो! 'हाँ ले आओ! भिक्षा माँग करके हो, चोरी करके हो—जिस तरह हो, ला दो। सरस्वती बच जाय, उसके बाद प्रलय हो जाय! मेरी कुछ हानि नहीं।

दीना०—भोलानाथ, शोकसे पागल न होजाना।

भोला०—ना ना। पागल न होऊँगा। अभीतक सरस्वती जेलमें पड़ी सड़ रही है। वह सोनेकी प्रतिमा, साक्षात् उषा, वह मक्खनसे मुलायम अगोंवाली बेटी जेलमें सड़ रही है। वह सती, वह योगिनी, वह दुखिया, वह आनन्दमयी, वह सुन्दरी, वह देवी, मेरी पोती मरने जा रही है। मेरे शरीरकी शक्ति, मेरी आँखोंकी ज्योति, मेरे जीवनका सुख, मेरे परलोकका स्वर्ग—मेरे इस लोकका सर्वस्व, मेरी प्राणोंसे प्यारी पोती—मुझे छोड़ कर चली जा रही है। मै जाने न दूँगा।—रुपये चाहिए, रुपये चाहिए। समझे दीनानाथ?—रुपये चाहिए।

दीना०—अच्छा, मै इसी घड़ी जाता हूँ; चाहे जहाँसे जैसे हो—रुपये लिये आता हूँ। तुम निश्चिन्त होओ। (प्रस्थान।)

भोला०—निश्चिन्त होऊँ! हाँ, डर क्या है! दस हजार रुपये कोई उधार न देगा!—ससारमें सभी क्या कृतघ्न हैं!—अरे, मैं तुम लोगोंको अपना सर्वस्व देकर, खुद कगाल होकर, राहमें भीख माँगनेवाला फकीर होकर, द्वार द्वार पर रोता फिरता हूँ!—दया नहीं है? कृतज्ञता भी नहीं है?—ना, यह भी क्या हो सकता है।—ये नक्षत्र फिर स्थिर, शान्त, ज्योतिर्मय देख पड़ने लगे। फिर स्निग्ध पवन डोलने लगा। वह शुभ्र चाँदनी शस्यश्यामला धरतीके स्नेहसे लिपट रही है!—

ना ना ! यह भी क्या हो सकता है ! सृष्टि इतनी सुन्दर है, सृष्टिकी सबसे बढ़कर सृष्टि मनुष्य क्या इतना कुत्सित हो सकता है ! हो सकता है !—ना, इस बात पर विश्वास नही कर सकता, नही करूँगा।

[गौरीनाथका प्रवेश ।]

भोला०—वह लो गौरीनाथ आगये ! गौरीनाथ—मुझे दस हजार रुपये उधार दो ।

गौरी०—मै ?—उधार दूँ ?—आपको ? आप कहते क्या है !

भोला०—क्यो ! क्यो ! तुमने मेरी जमींदारी नीलाम पर चढ़वाकर खरीद ली है । तुमने मुझे मोहताज फकीर बना दिया है—ना ना, तुमने कुछ नहीं किया । मैने खुद अपनी यह दशा की है—लोगोको सर्वस्व देकर,—ना, मैने किसीको कुछ नहीं दिया। केवल औरोंका ही लिया है—लूट की है ! किसीका दोष नहीं है । दोप मेरा है । इतना विश्वास, इतना स्नेह, इतना—नहीं कहाँ ! मैने किसीको प्यार नहीं किया; किसीसे कोई सलूक नहीं किया ।—केवल दगाबाजी, जुआ-चोरी, हत्या करता फिरा हूँ । मुझे दस हजार रुपये दो ।

गौरी०—मै रुपये दूँगा आपको । आप बड़े भारी जमींदार है, आप बड़े भारी दाता है, आप बडे आदमी है । हम सब छोटे लोग हैं ।

भोला०—ना, किसने कहा ! छोटा आदमी मै हूँ, नीच मै हूँ, घृणाके योग्य मै हूँ, पापी मै हूँ । तुम सब धार्मिक हो, तुम सब पुण्यात्मा हो, तुम सब देवता हो—रुपये उधार दो ! मैं एक ही महीनेमें यह ऋण चुका दूगा ।

गौरी०—उसका जमानतदार कौन है !

भोला०—मैं अपनी जमींदारी रेहन रखता हूँ ।

गौरी०—सारी सम्पत्ति ?

भोला०—मेरा जो कुछ है—मेरी जमींदारी, मेरा घर, मेरा यह लोक, मेरा परलोक—सब ले लो। मुझे दस हजार रुपये दो। मै अपनी पोतीको बचाना चाहता हूँ। मेरा सब चला जाय, पर वह बच जाय।

गौरी०—मुंशीजी—तमस्सुक दीजिए तो। दादाजी दस्तखत कीजिए!—दादाजी, आपकी विपत्तिका हाल सुनकर मै तमस्सुक लेता आया हूँ। यह भी जानता था कि मुझे ही यह रकम उधार देनी होगी। इसीसे एकदम तमस्सुकका मजमून भी लिखाकर लेता आया हूँ। आपने एक दिन मेरी विपत्तिमें सहायता की थी—खुद रुपये ले जाकर घर पहुँचा दिये थे। आप देखते है, उस उपकारको मै भूला नहीं।

भोला०—तुम्हारी जय हो।

गौरी०—मुशीजी—

(मुशी तमस्सुक देता है।)

गौरी०—तो दस्तखत कीजिए।

भोला०—कहाँ पर दस्तखत करूँ?

गौरी०—इस जगह पर।

भोला०—दो। (दस्तखत कर देते हैं।)

गौरी०—अच्छी बात है। (तमस्सुकको लपेट कर जेबमें रखता है।)

भोला०—रुपये?

गौरी०—घर जाकर भेजता हूँ।—

भोला०—भगवान् तुम्हारा भला करें!—मै दीनानाथसे कह रहा था कि यह भी कही हो सकता है कि मनुष्यकी जाति कृतघ्न हो!—

फिरसे मनुष्यका विश्वास मैने पाया । मानो मेरी जान बची । तुम्हारी जय हो गौरीनाथ ।—और सरस्वती ! मै तुझे बचाऊँगा, मै सावित कर दूँगा, ससारको दिखा दूँगा कि तू कितनी बड़ी सती है—कितनी बड़ी मिथ्यावादिनी है ! तू संसारकी आँखोमें धूल डाल सकती है, मगर मेरी आँखोमे नहीं डाल सकती । तू मुझे छोड़ जायगी ! मै जाने न दूँगा । (प्रस्थान ।)

गौरी०—समझे मुशीजी !

मुशी—जी हाँ, समझ गया ।

[कामताप्रसाद और रामनाथका प्रवेश ।]

गौरी०—तुम लोग आ गये !—जरा दस्तखत करने होगे । यह लो ।

कामता०—दस्तखत ? कैसे !

गौरी०—देखो न ।—गवाह होना होगा ।

कामता०—(पढकर) ओ !—रुपये दे चुके ?

गौरी०—विना दिये कहीं कोई राजीसे दस्तखत कर देगा !—उसके दस्तखत नहीं देखते हो !

कामता०—ओ ! समझ गया ।—खूब !—लाओ कलम । (दस्तखत करता है ।)

गौरी०—रामनाथ तुम भी दस्तखत करो ।

राम०—क्या कहते हो कामताप्रसाद !

कामता०—कुछ परवा नही है ! दस्तखत कर दो ।

(वह भी दस्तखत करता है ।)

राम०—लेकिन रजिस्ट्रीके समय ?

गौरी०—तुम लोग गवाह हो।

कामता०—जीते रहो। तुम पक्के बदमाश हो। लेकिन यह बूढ़ा—एकदम घोर मूर्ख है।

(तीनों जने और मुंशीजी जोरसे ठहाका मारकर हँसते हैं।)

पाँचवाँ दृश्य।

स्थान—वध्यभूमि।

समय— प्रात काल।

[दोनों हाथ बँधे रहनेकी हालतमें सरस्वती खडी है।
सामने जेलर साहब हैं।]

सर०—अब और कितनी देर है जेलर साहब ?

जेलर०—आध घंटेके लगभग। सिविलसर्जन अभी नहीं आये।—ऊपरकी ओर क्या तक रही हो मैया ?

सर०—एक बार, अन्तिम बार, पृथ्वीको देखे लेती हूँ।—कैसा सुन्दर स्वच्छ आकाश है!—कैसा नीला रंग है! कैसा सर्वत्र सन्नाटा है!—चिड़ियाँ बोलती नहीं है। वे अभीतक नहीं जगीं!—वह सूर्य निकल रहा है—क्यो न ?

जेलर—हाँ मैया।

सर०—कैसी सुन्दर है यह पृथ्वी! मुझे पहले तो यह कभी ऐसी सुन्दर देख नही पड़ी। आज इसे छोड़े जाती हूँ, इसीसे शायद यह इतनी सुन्दर देख पड़ रही है।—मै नित्य इस सौन्दर्यका उपभोग कर सकती थी। त्रिभुवनेश्वर! मै मोक्ष नहीं चाहती। मै फिर इस सुन्दर जगतमे जन्म लेना चालती हूँ। मै फिर आकर सूर्योदय देखना चाहती हूँ, फिर पक्षियोका चहचहाना सुनना चाहती हूँ, फिर

सुवासित मलय-पवनके हिलकोरोमे गोते लगाना चाहती हूँ, फिर प्यार करना चाहती हूँ। उस बार आकर जन्मके सुखका उपभोग कर लूँगी—अबका जन्म निष्फल गया—इसका उपभोग नही कर सकी!—जेलर साहब! मरनेसे पहले एकबार अपने दादाजीसे मिलनेकी इच्छा थी। वे आये नहीं?

जेलर—नहीं भैया।

सर०—तो फिर मै उनसे यह नही कह सकी कि मै उन्हे कितना चाहती थी। हम दोनो—पोती और दादा—एक दूसरेको बहुत ही चाहते थे जेलर साहब! शायद उस तरह और उतना किसीने जगतमे किसीको नहीं चाहा! सामने बैठकर कभी वे एकटक मेरी ओर ताकते रहते थे, मैं उनकी ओर ताकती रहती थी। वे मुझे छातीसे लगा लेते थे और मै आनन्दमें सारे ससारको भूल जाती थी। ओः! उन्हे छोड़ जाना होगा!—जेलर साहब!

जेलर—क्या करूँ भैया, कोई उपाय नहीं है!

सर०—ना। उपाय नहीं है। मैने हत्या की है।

जेलर—तुमने हत्या नही की। मै कसम खाकर कह सकता हूँ भैया।

सर०—वे मेरे स्वामी आ रहे है। मेरे जरा हाथ खोल न दीजिए जेलर साहब।—फिर अभी बाँध देना।

(जेलर हाथ खोलकर द्वार पर जाकर खडा होता है।)

[भगवानदासका प्रवेश।]

सर०—आओ, मैंने एकबार आखरी भेटके लिए तुमको बुलाया था—चरणोकी रज दो। (चरणोंकी रज मस्तकसे लगाना) जन्मभरके लिए जाती हूँ। आज्ञा दो।

भग०—सरस्वती ! तुमने यह काम क्यों किया ?

सर०—(हँसकर) क्या काम ?

भग०—झूठ कहकर व्यर्थ ही हत्याका अपराध अपने सिर ले लिया ! क्यों ले लिया !

सर०—जानते नहीं हो क्यों ?

भग०—इस नराधमको बचानेके लिए ? मेरा यह निन्दित कलुपित जीवन जगतके किस उपकारमें लगेगा सरस्वती ?

सर०—जगतके उपकारके लिए मैंने यह काम नहीं किया, अपने उपकारके लिए किया है ।

भग०—तुम्हारा क्या उपकार हुआ इसमें ?

सर०—सुख मिला । गलेमें फाँसी लगाली ही । लेकिन इस फाँसीके समान उस फाँसीमें सुख न होता । यह एक कर्त्तव्य करके मैं मरती हूँ ।

भग०—प्राण देकर सुख !

सर०—बड़ा सुख है ! मरते सभी है । कोई डूबकर मरता है, कोई जलकर मरता है, कोई साँपके काटनेसे मरता है, और बहुतसे लोग रोगमें कष्ट भोगकर मरते हैं । मरना तो होगा ही । दो दिन पहले या दो दिन पीछे । भाग भाग कर मरनेकी अपेक्षा हँसते हँसते मृत्युके गले लग जाना क्या अधिक सुखकी बात नहीं है !

भग०—लेकिन संसारके भोग छोडकर सदाके लिए यहाँसे चले जाना—मुझे बड़ा डर मालूम होता है—बहुत डर लगता है ।

सर०—इतना डर लगता है, इसीसे तो मृत्युकी जय है । और अगर डरूँ नहीं !—बस मैं मृत्युंजयिनी हो गई । यह क्या कम लाभकी बात है ?

भग०—मरनेसे क्या तुम सचमुच नहीं डरती हो?

सर०—ना! (छाती फुलाकर) मैने दादाजीसे सुना है कि जब युद्धका बाजा बज उठता है तब सिपाही स्थिर नही रह सकते; नाचते हुए तरवारों और तोपोंकी बाढ़ पर आगे बढ़ने लगते है। मैंने आज कर्त्तव्यके डकेका गंभीर आह्वान सुना है। उसीको सुनकर मै सिर ऊँचाकर, निःशंकचित्तसे, विजयगर्वके साथ मरने चली हूँ।

भग०—क्या, कहाँ चली हो?

सर०—यह नहीं जानती। यदि सब इसी जन्ममे समाप्त हो जाता है—यदि परलोक नहीं है तब तो कुछ दुःख ही नहीं है। परजन्ममें मैं ही अगर नहीं रहूँगी तो दुःखका अनुभव कौन करेगा।—

भग०—और अगर परलोक हो?

सर०—तो वह इस लोककी अपेक्षा बुरा नहीं हो सकता। इसी जन्मकी तरह वह जन्म भी सुख-दुःखसे गढ़ा हुआ होगा। खास कर ज्ञानके अनुसार अगर मैं अपना कर्त्तव्य किये जाऊँ तो यह ध्रुव सत्य है कि उसका परिणाम बहुत बुरा नहीं हो सकता। मै विश्वास करती हूं कि परकाल है—वह चाहे इसी दुनियामे हो, और चाहे किसी और दुनियामें हो। इस बुद्धि, इस विवेक, इस अनुभव—इतने बड़े आयोजनकी क्या इसी जगह—इन पचीस-तीस वर्षोंमें ही समाप्ति हो जायगी? यह आकाक्षा निश्चय ही रक्तमासमें अस्थिमज्जासे आवृत होकर फिर मूर्त्तिमती होकर आवेगी। इस सुनहले रंगसे रंजित नीले आकाशकी तरफ ऑख उठाकर देखो, इस हास्यमयी धरतीकी ओर निहारो, इन पक्षियोंका कलरव सुनो, यह गऊका गभीर रँभाना सुनो, यह मनुष्यकी स्वर्गीय कण्ठध्वनि सुनो—इस अनुपमा सृष्टिकी अपूर्व सुशृंखलाको मनमे विचार कर देखो! यह क्या किसी लड़केका खेल है! यह

क्या पागलका प्रलाप है! यह क्या मदोन्मत्त ब्रह्माण्डपतिका अट्टहास है! इसका एक महान्से भी महान् परिणाम अवश्य ही है!—ना स्वामी, मरनेसे मैं बिलकुल नहीं डरती—बस मुझे आज्ञा दो।

भग०—सरस्वती! उससे पहले मुझे क्षमा किये जाओ।

सर०—किस लिए?

भग०—मैंने तुमको गालियाँ दी हैं, मारा है, और अन्तको मैं तुम्हारे फाँसी पर चढ़नेका कारण हुआ हूँ।

सर०—(हँसकर) अच्छा, लेकिन अब अपनेको सुधारनेकी चेष्टा करो। तुम्हारे ही भलेके लिए कहती हूँ। नहीं तो जान रक्खो, तुम्हारा भविष्य बड़ा ही भीषण है!—अच्छा आज्ञा दो!

भग०—ईश्वर, और एक बार सुयोग दो, सरस्वतीको बचाओ, मुझे बचाओ। फिर घरगिरिस्ती सँभालूँ। मेरी माको लौटा दो, पूजा करूँ, स्त्रीको लौटा दो, उसे चाहूँ—आदर करूँ।

सर०—दूसरे जन्ममे आकर देखूँगी कि तुम कितना चाहते और आदर करते हो।—अच्छा जाओ। मै मरनेके लिए तैयार हूँ।

(भगवानदास जाना चाहता है।)

सर०—खड़े रहो, और एक बार चरणोकी रज ले लूँ। (चरण छूती है) जाओ।

(भगवानदासका प्रस्थान।)

जेलर—मै जानता हूँ भैया, तुमने हत्या नहीं की!

सर०—यह बात नहीं है जेलर साहब! ऐसा होता तो मुझको फाँसी क्यो होती!

जेलर—तुमसे पहले भी अनेक निरपराध लोग फाँसी पर लटक चुके है। मनुष्यका न्याय और क्या होगा भैया!—लो जान पड़ता है, वे तुम्हारे दादा आ रहे हैं।

(प्रेमशंकर, दीनानाथ और भोलानाथका प्रवेश।)

भोला०—यही मेरी स्नेहकी पुतली है!

सर०—दादाजी! दादाजी! (छातीसे लगाकर रोती है।)

भोला०—बचा नहीं सका बेटी। स्वप्नमे भी मैने कभी नही सोचा था कि मुझे बुढापेमे अन्तको यह देखकर मरना होगा। इसीके लिए क्या इतने दिन जीता रहा हूँ ईश्वर! जो मेरे प्राणका प्राण है, आत्माकी आत्मा है—उसी निरपराधिनीकी फाँसी देखनेके लिए क्या मै जीता रहा हूँ!

सर०—दादाजी यह क्या आप कह रहे है! मैने हत्या की है।

भोला०—ना बेटी, तूने हत्या नहीं की। तू यह काम कर नही सकती! मै जानता हूँ, मेरा अन्तरात्मा जानता है, ईश्वर जानते है, तूने हत्या नहीं की। तू हत्या कर ही नही सकती। सतीके गर्भसे तेरा जन्म है, सती-सावित्रीके देशमे तेरा निवास है—तू हत्या करेगी! आज अगर वह दिन होता, न्यायका युग न होकर अगर आज अग्नि-परीक्षाका युग होता, तो—मैं चिल्लाकर कह सकता हूँ कि तू सीता देवीकी तरह, अपने पुण्यकी ज्योतिसे अग्निकी ज्वालाको मलिन करके हँसते हँसते उस आगके भीतरसे निकल आती। लेकिन क्या करूँ बेटी—आज यह आईनका युग है, इजलासका युग है, गवाहीका युग है, जिरहका युग है।

सर०—मै स्वीकार करती हूँ—वे लोग क्या करें!

भोला०—क्या करे! उन्हें केवल इस चन्द्र-मुखकी ओर देखना होगा. और कुछ न करना होगा। गवाही मिलनेसे ही क्या यह सिद्ध हो गया कि चन्द्रमा जलाता है, अग्नि शीतल करता है, वायु स्थिर है, पर्वत चचल है, बच्चे पिशाच है, माता राक्षसी है! इस शान्त सजल

दृष्टिमें क्या विष मिला रह सकता है? इस मृदु हँसीके नीचे क्या छुरा छिपा रह सकता है?—वे मूर्ख हैं, वे अन्धे हैं।

सर०—जो होना था सो तो हो गया दादाजी! अब विदा माँगती हूँ।

भोला०—स्वामीको मृत्युसे बचानेके लिए तू आज यह फाँसीकी जयमाला गलेमे पहनती है। पृथ्वी आज अपना श्रेष्ठ रत्न स्वर्गको देकर धन्य होगी, शून्य होगी! और मैं—मैं—ओः! जला जा रहा हूँ, खाक हुआ जा रहा हूँ।

जेलर—वह डाक्टरसाहब आ रहे है।

सर०—तो अब मेरे जानेका समय हो गया। विदा कीजिए दादाजी! दुःख न कीजिएगा। यह बिछड़ना तो एक दिन होता ही। मुझे जो स्नेह आपने दिया था, उसे आज लौटाकर—संपूर्ण विश्वको बाँट दीजिए—पृथ्वी उससे सम्पत्तिशालिनी होगी। अपने अपार कर्त्तव्य-ज्ञान और स्नेहके साथ अतुल सहनशीलताको मिला दीजिए। जगतको विस्मित कर दीजिए। विदा कीजिए दादाजी! (प्रेमशकर और दीनानाथको प्रणाम करना।)

भोला०—विदा करूँ! विदा करूँ! नहीं! मुझसे न हो सकेगा ... ! मेरी बेटी! (लिपट जाता है।)

दीना०—आओ भोलानाथ! (हाथ पकडता है।)

भोला०—जाओ, मै नहीं जाऊँगा!

सर०—जाइए दादाजी—मेरे दादा (रो देती है।) ले जाइए मामाजी।

भोला०—मै नहीं जाऊँगा। मैं भी तेरे साथ फाँसी पर लटकूँगा। मैं नहीं जाऊँगा।

सर०—खींचकर ले जाइए मामाजी ।

(दीनानाथ और प्रेमशकर भोलानाथको जबर्दस्ती खीच ले जाते हैं । भोलानाथ "छोडो, मैं नहीं जाऊँगा" कहकर छुडानेकी चेष्टा करता करता बाहर चला जाता है। सरस्वती सिर झुकाकर रोने लगती है । फिर अपनेको सँभाल कर कहती है—)

सर०—ओ ! जाने दो, मैं तैयार हूँ जेलर साहब !

(पहरेदार लोग सरस्वतीका मुँह ढँक देते हैं; दोनों हाथ पीछे बाँध देते हैं । जेलर साहब उधर पीछे फिरकर सिर झुकाकर खडे रहते हैं । कर्मचारी सरस्वतीको फाँसीके तख्ते पर चढाता है ।)

[डाक्टर साहब और मजिस्ट्रेटका प्रवेश । दोनों घडी देखते हैं मजिस्ट्रेट मृत्युकी आज्ञा पढ़ते हैं ।]

" वन्दिनी ! मुन्नी वेश्याकी हत्याके लिए तुमको फाँसीकी आज्ञा हुई है । मैं उसी आज्ञाका पालन करता हूँ । ईश्वर तुम्हे क्षमा करें । —जल्लाद ! अपना काम करो ।"

(जल्लाद सरस्वतीके गलेमें फांसीका फंदा डाल देता है।)

मजि०—तो—(मुँह फेर कर) one two—

तेजीसे मुन्नीका प्रवेश ।]

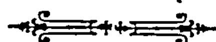
मुन्नी—खबरदार ! निरपराधिनीको फाँसी न देना । निरपराधिनीको फाँसी न देना । मुन्नीको किसीने नहीं मारा । मुन्नी जिन्दा है ।

मजि०—तुम कौन हो ?

मुन्नी—मै ही वह मुन्नी हूँ ।



पाँचवाँ अङ्क ।



पहला दृश्य ।

स्थान—काशी; गंगातटपर एक कुटी ।

समय—रात; बदली घिरी हुई है ।

[भोलानाथ और दीनानाथ ।]

भोला०—मेघ ! रक्तकी वर्षा करो । हवा ! भीमवेगसे गरज उठ। समुद्र ! जल उठ । पृथ्वी ! वीचसे चार-फाँक होकर चिनगारियाँ बरसाती हुई चारों ओर छिटक पड़ । और मैं, महाशून्यमें अकेले खड़े होकर वही देखूँ ।—मनुष्य इतना अकृतज्ञ होता है ।

दीना०—घर लौट चलो ।

भोला०—चलूँगा । ठहर जाओ । पहले प्रलयका पूर्ण होना देख लूँ। पहले चन्द्र-सूर्यका बुझना और पृथ्वीकी श्यामशोभाका जलकर खाक होना देख लूँ। एक धूमकेतुकी टक्करसे महाज्वालामय विध्वंस हो जाय।

दीना०—तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है ।

भोला०—पृथ्वी अगर रहे, तो उसके ऊपरसे मनुष्यजाति लुप्त हो और उसके बदले केवल काले साँप ही घूमते फिरें ।—मनुष्य अकृतज्ञ है !

दीना०—चलो भोलानाथ—

भोला०—मनुष्य अगर रहें तो जो लोग चोर, लपट, धोखेबाज हैं वे ही केवल बच रहें, और सब मरकर सड़-गलकर नष्ट हो जायँ ! तो फिर यह ब्रह्माण्ड बहुत अच्छी तरह चलेगा !—उः !

दीना०—रात कितनी है—जानते हो ?

भोला०—प्रेम, दया, स्नेह, पातिव्रत्य, वात्सल्य सब पृथ्वीपरसे उठा ले जाओ दयामय ! प्रेममे केवल कामवासना रहे; बन्धुत्वके ऊपर ईर्ष्या राज्य करे; उपकारके सिरहाने कृतघ्नता पहरा दे ! आहारमें विष रहे, शरीरमे व्याधि रहे, ऐश्वर्यमे अहकार रहे, दारिद्र्यमे घृणा रहे !—खूब चलेगा ।

दीना०—ना ! तुम्हे जबर्दस्ती लेजाकर सुलाये बिना तुम न सोओगे ! आओ ।—(हाथ पकडता है ।)

भोला०—छोड़ दो (हाथ छुडाकर) ओ ! तुम हो !—तुम अब क्यो हो दीनानाथ ! स्नेहमय बन्धु,—ब्रह्माण्डके अनियम, बीती हुई गरिमाके ध्वंसावशेष, तुम अकेले क्यो पीछे पड़े हो ? सब गया । तुम भी जाओ । जिस पृथ्वी पर आज दाक्षिण्य भिक्षुक है, उपकार सताया जा रहा है, स्नेहको लात मारी जा रही है, वहाँ तुम क्यों हो ! सब चोर और धोपेवाज हैं !—कैसी सृष्टि की थी मैया जगदम्बा ! ले अपनी सृष्टि लौटा ले ।—दीनानाथ !

दीना०—भोलानाथ !

भोला०—अब मैया कहकर मत पुकारो । वह सन्तानको विष खिलाती है; सन्तान मृत्युकी यन्त्रणासे छटपटाती है, और वह पाषाणी उसे देख तालियाँ बजाकर अट्टहास करती है । कहीं ऐसी भी मैया होती है ! उसे मत पुकारो ।

दीना०—तो फिर किसे पुकारूँ ?

भोला०—क्यों—क्यों !—मगर हाँ तुम्हारा कहना भी ठीक है । किसे पुकारूँगा ? मैयाको छोड़कर और कहाँ जाऊँगा ? और है ही कौन ? माताके अत्याचारकी नालिश उसी माताके निकट है । और है कौन ? है कौन ?

दीना०—मैयाके विचारको मैया ही जाने। तुम कौन हो!

भोला०—ठीक कहा दीनानाथ। मैया कहकर पुकारो, मैया कहकर पुकारो!—लेकिन सारे शब्दो, सारी प्रार्थनाओं, सारे संगीतोको दबाकर यह मनुष्यकी कृतघ्नताकी विजय-भेरी बज उठी है। सब दु:ख, यन्त्रणा और अन्तर्दाह इसी महादु:खमें डूब जाता है कि मनुष्य अकृतज्ञ है! मेरे हृदयकी अधीश्वरी, स्नेहकी अधिष्ठात्री, सरस्वतीकी आत्महत्या भी इस दु:खके महावनमें खो जाती है।

दीना०—सरस्वतीकी आत्महत्या मत कहो भोलानाथ।

भोला०—तो क्या कहूँ!

दीना०—आत्मोत्सर्ग कहो। हिन्दुओंके घर घर सावित्रीकी पूजा होती है। लेकिन हिन्दुओंके हर घरमे सावित्री सरीखी देवियाँ मौजूद है! अपनी चीजका कोई ठीक ठीक आदर करना नहीं जानता।

भोला०—ठीक कहा दीनानाथ। सरस्वतीने स्वामीके प्राण बचानेको अपने प्राण दिये हैं। वह गई है—और जगतके लिए छोड़ गई है एक अखण्ड ज्योति। उसका मुझे दु:ख नहीं है।—लेकिन उसने गलेमे फाँसी लगाई! गलेमें फाँसी लगाई! मुझसे रूठकर गलेमें फाँसी [illegible]ई।—और मै वहीं खड़े खड़े देखता रहा।

दीना०—तुमने तो देखा नही।

भोला०—देखा है। उस गोरे गलेके चारो ओर उन लोगोंने रस्सीका फंदा डाल दिया—उसे खींचकर फाँसी दे दी!—अच्छा दीनानाथ! कैसे उन्होने उसको फाँसी दी!

दीना०—कैसा विचित्र भ्रम है!—तुम स्मृति और कल्पनाके अन्तरको नहीं समझते।

भोला०—वही रस्सी गलेमे पहन कर मेरी पोती झूल पड़ी, पृथ्वी काँप उठी, ससार अन्धकारसे छिप गया ।

दीना०—फिर वही पागलपन शुरू हुआ ।

भोला०—उस झूलते हुए शरीरमें सबेरेकी हवासे रूपकी लहर उठी। उसके बाद एकदम सब स्थिर होगया ! स्नेहसे स-जल नीली दोनो ऑखे आकाशकी ओर ताकती रह गई । श्वेत मोती ऐसे दाँतोके ऊपर, दोनो रंगीन लाल ओठोके ऊपर, फेन छागया । वह मक्खनसे मुलायम शरीर सूखी लकड़ीकी तरह सख्त और निश्चेष्ट हो गया। मै खड़े खड़े वही देखा किया ।—ओ हो हो हो !

दीना०—धैर्य न छोड़िए ।—छिः ।

भोला०—उसके बाद उसके शरीरसे निकला हुआ ज्योतिर्मय आत्मा स्वर्गको उड़ गया ।—वह कैसा सुन्दर था !

दीना०—अब इन बातोको सोचनेसे क्या होगा ?

भोला०—ना ना ! मनुष्यकी कृतघ्नता आकर इस दृश्यको छा ले; बिजलीकी कड़कड़ाहट आकर इस रोनेको थँभा दे; रक्तपात उतर आकर इस सुन्दर ध्वंसको डुबा दे ।

दीना०—एकदफा यह चिन्ता, और एकदफा वह चिन्ता—ऐसा करनेसे तुम मर जाओगे !

भोला०—ओ ! हाँ । जीते रहना होगा । लूला-लँगड़ा अपाहिज हो जाऊँ, शूलकी पीड़ा हो, सिरके दर्दसे मत्थेसे आगकी चिनगारियाँ निकले—तब भी जीते रहना होगा । हाँ हाँ जीते रहना होगा । जाओ दीनानाथ, जाकर सोओ । मै भी सोने जाता हूँ—काली नागिनने बड़े जोरसे डस लिया है !—   (प्रस्थान ।)

दीना०—हायरे अभागे ! इतना प्यार लेकर संसारमें क्यों आया था !

(प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—भोलानाथके घरका बरामदा ।

समय—प्रातःकाल ।

[प्रेमशंकर, कालीचरण और मुन्नी तीनों खड़े खड़े बातें कर रहे हैं ।]

मुन्नी—बाबू भगवानदासने मुझ पर पिस्तौल दागा जरूर था; लेकिन उससे मेरे सिर्फ कुछ हल्कीसी चोट लगी थी। होश आने पर देखा, उस जगह कोई नहीं है; मेरी पिस्तौल मेरे पैरोंके पास पड़ी है। पिस्तौल उठाकर मै बाहर आई ! देखा, पड़ोसी लोग आकर जमा हो गये हैं; बातें कर रहे है। मै पिस्तौलको आँचलमें छिपाकर गाडी पर सवार हो गई । किसीने उधर लक्ष्य नहीं किया। घरमे जाकर सुना, बागमें एक हत्या हो गई है। रातभर नींद नहीं आई। पिछली रातमें मै घर छोड़कर भाग गई ।

कालीo—उसके बाद ?

मुन्नी—उसके बाद एक अखबारमें पढ़ा कि मुन्नीवेश्याकी हत्याके अपराधमें सरस्वती नामकी स्त्रीको फाँसीका हुक्म हुआ है ।

कालीo—

The hungry judges soon the sentence sign
And wretches hang that juryman may dine.

(भूखे विचारक शीघ्र ही दण्डाज्ञा पर हस्ताक्षर कर देते हैं और अभागे लटका दिये जाते हैं, जिसमें जूरी लोग जाकर जल्दी भोजन करें ।)

प्रेमo—तो भगवानदासने गोली चलाई थी ?

मुन्नी—हाँ ।

प्रेमo—यह बात तुमने उस समय अदालतमें क्यों नहीं कही ?

मुन्नी—इसका कारण यह था कि वे चाहे जैसे हों, वहन सरस्वतीके स्वामी है ।

प्रेम०—इसीसे तुमने झूठ कहा कि तुम खुद आत्महत्या करनेवाली थीं? और यह झूठ वात कहकर तुमने जुर्माना दिया।.... ताज्जुव है!

काली०—Woman's at best a contradiction still.
(नारीका भी यथार्थ रूप कभी नही पहचाना जा सकता ।)

(प्रस्थान)

[उद्भ्रान्तभावसे वाल खोले हुए सरस्वतीका प्रवेश। उसके पीछे भवानीप्रसादका प्रवेश।]

सर०—मामा, आपने दादाजीको छोड़ दिया ।

प्रेम०—मै अगर यह जानता तो उनको छोड़ देता विटिया!—दूसरे दिन सवेरे उठ कर सुना, उनका और दीनानाथ, दोनोंका पता नहीं है ।

सर०—और भवानीदादा—तुमने भी—

भवानी०—उसी मैयाकी सव इच्छा है। (ऑसू पोछते पोछते शीघ्रतासे प्रस्थान ।)

सर०—उन्होंने निश्चय आत्महत्या कर ली होगी, मामा!

प्रेम०—ना विटिया, कुछ डर नहीं है। दीनानाथजी साथमे है। कुछ डर नहीं है।—अव घरके भीतर चलो; अपनी मामीके पास जाओ। कुछ चिन्ता नहीं है ।

सर०—मेरे दादाजीको ला दीजिए। मेरे दादाजीको ला दीजिए ।

प्रेम०—ला दूंगा!—वे चाहे जहाँ हों, खींच कर ला दूँगा । आओ घरके भीतर आओ विटिया ।

मुन्नी—मेरे ही कारण इतनी विडम्बना हुई ।

सर०—यह तुम क्या कह रही हो वहन! तुम्हीं मेरी रक्षा करने-वाली हो । अगर दांदाजीको मै फिर देख पाऊँ तो उसका श्रेय तुम्हींको है ।—और अगर उन्हे न पाऊँगी—आत्महत्या करूँगी ।

मुन्नी—खवरदार वहन! इसकी अपेक्षा तो फाँसी पर चढ़ना ही अच्छा था । आत्महत्या करनेका अधिकार किसीको नहीं है।—मुझे भी नहीं ।

[व्यस्तभावसे भवानीप्रसादका फिर प्रवेश ।]

भवानी०—विटिया, दादाजीकी खवर मिल गई ।

सर०—(आग्रहके साथ) कहॉ है वे?—कहॉ है वे ?

भवानी०—काशीमे ।—यह लो दीनानाथका पत्र। अभी मिला है।

(प्रेमशकरको पत्र देना ।)

सर०—भवानी दादा! आज ही काशीकी यात्राका प्रवन्ध करो ।—अभी—इसी दम ।

प्रेम०—यह क्या विटिया ! तुमसे खड़ा तो हुआ नहीं जाता । आओ, घरके भीतर आओ !—यह क्या ! (गिरती हुई सरस्वतीको पकड लेता है ।)

सर०—तो दादाजी अभी जीते है ! मामा! मामा! (छातीमें मुँह ल॰॰ , रोना ।)

प्रेम०—यह क्या करती हो वेटी !—आओ भीतर आओ ।

सर०—अभी आती हूँ, मै आती हूँ दादाजी—

(प्रेमशकर और सरस्वतीका प्रस्थान ।)

भवानी०—दयामयी मैया! तूने विटियाको और दादाको दोनोंको ही मोतके मुँहसे वचा लिया—मुझे फेर दिया। तो अव यह घर भी फेर दे मैया! और कुछ न चाहिए ! लौट आकर दादा और विटियाको लेकर

मै इस घरमे पैर रख सकूँ भैया । जमींदारी जाय । बापदादोका यह घर न छीन लेना ।

मुन्नी—क्यो ! यह घर अब किसका है ?

भवानी०—गौरीनाथका—इस समय तमस्सुककी रजिस्ट्री कराके दखल कर लेना ही बाकी है ।

मुन्नी—कैसा तमस्सुक ?

भवानी०—कोट कबाला ।—जुआचोरने उसके रुपये भी नहीं दिये ।—हाँ भैया, तुम्हारे राज्यमे इस तरह दिन-दोपहर डकैती होती है।

मुन्नी—तमस्सुककी रजिस्ट्री नहीं हुई ?

भवानी०—नहीं ।

मुन्नी—अगर वह तमस्सुक किसी तरह हाथ लग जाय, तब तो कुछ खटका नहीं है ?

भवानी०—जान पड़ता है—नहीं ।

मुन्नी—तो इसी हफ्तेमें वह तमस्सुक आपको मिल जायगा ।—आप निश्चिन्त रहिए ।

भवानी०—सो कैसे ?—किस तरह ?

मुन्नी—(मलिन हास्यके साथ) वेश्याके लिए कुछ असाध्य नहीं है।

भवानी०—मुन्नी, मालूम नहीं, पूर्वजन्मके किस पापसे वेश्याके यहा तुम्हारा जन्म हुआ है ।

मुन्नी—वेश्याओ पर घृणा न कीजिए । वे बडी ही अभागिनी हैं । उन पर दया कीजिए । उनके घर नहीं है, परिवार नहीं है, बन्धु नहीं है । वे मानों अँधेरी रातमें बीहड़ राहसे चली जा रही है । दोनों ओर देखती जाती हैं—दरिद्रकी भी झोपड़ीमें दीपक जल रहा है; पति-पत्नीके प्रेमपूर्ण विमल हास्यका फुहारा छूट रहा है; बच्चे स्नेहके घोंस-

लेमे सुखसे सो रहे है। वे यह सब देखती है, और जाडेकी हवाके तीक्ष्णतर दंशनका अनुभव करती है, भीतर ही भीतर मन मसोसकर रह जाती है। करोड़ो नक्षत्रोके बीचसे वे ही लक्ष्यहीन धूमकेतुकी तरह दौड़ी चली जा रही है;—चली जा रही है, क्योकि चले जानेके सिवा और कोई उपाय नही है। उनकी हँसी मसानकी चिताकी आग है—वह जितनी ही उज्ज्वल है, उतनी ही ज्वालामयी है। अन्तको वह हँसी जब जल जलकर बुझती है, तब उसकी लंबी साँस मसानकी गर्म हवामे उठकर लीन हो जाती है। वे स्वयं ही अपनेको यथेष्टरूपसे घृणा करती है। उसके ऊपर आप लोग अपनी घृणाके बोझसे उनको और भी न दबावे। (सिर झुका लेती है।)

भवानी०—घृणा!—तुम अगर मेरी कन्या होतीं—

मुन्नी—(आग्रहके साथ) तो!

भवानी०—तो मैं बिना किसी संकोचके तुमको अपने घरमें रख लेता!

मुन्नी—(आग्रहके साथ) घरमे रख लेते?

भवानी०—हॉ। बेटी! जबसे तुमको दिखा है तबसे मेरे मनमें तुम्हारे प्रति असीम अनुकंपा और करुणाके भावका प्रादुर्भाव हो रहा है—मालूम क्यो! जान पड़ता है कि तुम वेश्या नहीं हो, मानों तुम दिन सचमुच ही मेरी कन्या थीं, मानों एक दिन—

मुन्नी—(कॉपते हुए स्वरमें) और मै अगर सचमुच आपहीकी कन्या होऊँ!

भवानी०—सत्य ही मेरी कन्या हो! यह क्या! वेश्याके घरमें तुम्हारा जन्म हुआ है!

मुन्नी—मेरा जन्म वेश्याके घर नहीं हुआ है।

भवानी०—तो !

मुन्नी—आकाश ! मुख ढक ले।—पृथ्वी ! कानोमे उँगली दे ले। आज वह बात प्रकट करूँगी।—पिताजी ! (यह कह कर आगे बढती है। भवानीप्रसाद चौंककर पीछे हटते है।)

मुन्नी—पिताजी !—यह बात मै इस जिन्दगीमे प्रकट नही करती ! लेकिन आपने ही मेरे साहसको बढ़ा दिया।—पिताजी ! मै सत्य ही आपकी कन्या—

भवानी०—सो क्या !—तुम मेरी कन्या हो ! मेरी कन्या तो मर गई थी।

मुन्नी—वह अभागिनी मरी नही। (आगे बढकर) पिताजी !—(पीछे हटकर) ना । आपने सिर नीचा कर लिया है ! लज्जा, घृणा और क्रोधसे आपका चेहरा लाल हो रहा है।—ना ना ना। मुझे घृणा कीजिए, त्याग कीजिए, पैरोंसे रौदकर चले जाइए।

भवानी०—कन्या मेरी !—तेरा मरना ही अच्छा था।—(हाथ जोडकर ऊपरकी ओर देखकर) यह कैसी परीक्षामे डाला है मैया ! हृदयमें शक्ति दे मैया !

मुन्नी—नहीं पिताजी ! जो मैने कहा उसे भूल जाइए ! मै आपकी कन्या नहीं हूं। मै आपकी कोई नही हूँ। मै काले सागरके ऊपर एक लहरकी तरह उठी थी—फिर उसी लहरकी तरह काले सागरमे गिर जाऊंगी।

(भवानीप्रसाद मुन्नीकी ओर आगे बढकर कहते है—) मुन्नी !

मुन्नी—मै अस्पृश्य हूं। मुझे छूना नही—छूना नही।

(तेजीसे प्रस्थान।)

(भवानीप्रसाद कुछ सोचकर फिर गाने लगता है—)

विहाग ।

अभागी मोसों और न कोई।
पाय महानिधि अनायास ही हाय मूढ़ मैं खोई ॥ अभागी० ॥
अन्धकार महँ राह न सूझत, मैया कहाँ गई तू।
बोलत नहीं, पुकारत कबको, ऐसी निठुर भई तू ॥अभागी०॥
साथ छोड़ि सब सगे सिधारे, नेक दया नहिं आई।
तू न छोड़, मुख मोड़ न मोसों, तो सों आस लगाई ॥अभागी०॥

[प्रेमशंकरका फिर प्रवेश ।]

प्रेम०—मुन्नी चली गई ?

भवानी०—कौन !—ना—हाँ चली गई । (गाता है ।)

प्रेम०—भवानीप्रसाद ! रो रहे हो ?

भवानी०—कहाँ ! नहीं तो । (गाते गाते प्रस्थान ।)

प्रेम०—यह क्या ! ये लोग कौन है ?—गौरीनाथ ! किस लिए आया है !—

(गौरीनाथ, कालीचरण और पीछे पीछे क्रोधित कामताप्रसाद और शिवदयालका प्रवेश ।)

गौरी०—भोलानाथकी कुछ खबर पाई है ?

प्रेम०—आपको यह खोज करनेकी क्या जरूरत है !

गौरी०—तमस्सुककी रजिस्ट्री करनी होगी। वह अगर लापता हो, तो मुझे खुद ही जाकर तमस्सुककी रजिस्ट्री करा लानी होगी ।—ये लोग गवाह है ।

शिव०—कभी नहीं ।

गौरी०—यह क्या !

कामता०—राहमें मैंने कहा था, समझौता कर लो ।

प्रेम०—समझौता काहेका ?

शिव०—समझौता करो।

गौरी०—(तमस्सुक निकालकर) ये तुम्हारे दस्तखत है।

शिव०—दस्तखत जाली है।

गौरी०—तुम गवाह नही हो ?

शिव०—इसके गवाह नहीं है; गवाह और किसी बातके है।—क्यो जी कामता !

गौरी०—यह तुम्हारा काम है कालीचरण !

काली०—संभव है। गौरीनाथ ! मै इतने दिनोतक केवल दर्शककी तरह निरपेक्ष भावसे दोनो ओरका रंगढंग देखता आता था। तुमने एक स्त्रीका खून किया है, यह जानकर भी मै उदासीन था। That only shows a philosophic mind; (जिससे केवल दार्शनिक प्रकृतिका परिचय मिलता है) लेकिन तुमने जब जुआचोरी करके एक सतीको फॉसीके तख्ते पर चढा दिया, और ऋषितुल्य भोलानाथको देशान्तरमे भेज दिया, तब मेरी philosophic mind (दार्शनिक प्रकृति) मे भी एक भारी धक्का लग गया। बस अब नही ! सच बात प्रकट कर दो शिवदयाल। उसके बाद जो होना होगा, होगा। Do well and right and let the world sink. (भली भॉंति और उचित कार्य्य करो, संसारको डूबने दो—उसकी चिन्ता न करो।)

गौरी०—(सूखा मुख लिये हुए) यह क्या !—अच्छा !—ऐ !—तो मै अब जाता हूॅ प्रेमशकर !—आओ शिवदयाल ! आओ कामताप्रसाद ! कुछ कहना है।

(ठीक इसी समय भवानीप्रसाद फिर प्रवेश करता है और विना कुछ कहे सुने दौड़कर गौरीनाथकी गर्दन पकड लेता है।)

प्रेमशंकर और काली०—क्या करते हो ! क्या करते हो !

भवानी०—निकल जा पाजी ! अभी तक यह घर दादाजीका है।—दूर हो ! (लात मारकर गौरीनाथको सीढ़ीके नीचे गिरा दिता है । फिर हाथ झाड़कर प्रेमशकरके मुखकी ओर देखकर पूछता है—) ठीक किया ?

प्रेम०—खूब किया । (प्रस्थान ।)

भवानी०—(शिवदयाल और कामताकी ओर देखकर) अच्छा किया ?

दोनो—बहुत अच्छा किया ।

शिव०—बस अब नहीं । आज प्रकट कर दूँगा ।—उस पाजीका साथ अब नहीं । (दोनोंका प्रस्थान ।)

भवानी०—(कालीचरणसे) क्यो साहब ! ठीक किया ?

काली०—खासा किया ! Perhaps it was right to dissemble your love. But why did you kick him donwstairs. (यहॉ तक तो चाहे उचित मान लिया जाय कि तुमने अपना प्रेम छिपाया । पर तुमने उसे सीढ़ीके नीचे क्यो ढकेल दिया ।)

(भवानीप्रसादका शातभावसे गाते गाते प्रस्थान ।)

अभागी मोसों और न कोई ।
पाय महानिधि अनायास ही हाय मूढ़ मैं खोई ॥ अभागी० ॥

तीसरा दृश्य ।

स्थान—मुन्नीका घर ।

समय—सन्ध्याकाल ।

[मुन्नी अकेली है ।]

मुन्नीका गीत ।

ठुमरी—पजाबी ठेका ।

इस जगमें हूँ निपट अकेली, मुझसा दुखी न कोई ।
मन-ही-मनमें सोचा करती, कभी न सुखसे सोई ॥ इस० ॥

हूँ विदेशिनी, यहाँ तुम्हारे सिवा न और किसीको—
मैं जानूँ-पहचानूँ; कैसे वहलाऊँ फिर जीको ॥ इस० ॥
दिन वीते, ले खिन्न हृदय-तन शिथिल-दौड़कर आती—
पास तुम्हारे तुम्हें देखकर ठंडी होती छाती ॥ इस०॥
घायल हृदय लिये मैं आती मैया पास तुम्हारे।
उस मुखमें मृदु हँसी देखनेका संयोग विचारे ॥ इस० ॥
सूनी, सूखी और अनादर भरी भूमि है सारी।
तुम भी विमुख न होना, करना घृणा न मुझसे भारी ॥इस०॥

(गीत समाप्त करके मुन्नी खिडकीके पास वैठकर और वाहरकी ओर देखकर कहती है—"ओ ! कैसी काली घटा उठी है—आँधी आवेगी।" यों कहकर मुन्नी आकाशकी ओर ताकने लगती है ।)

[दासीका प्रवेश ।]

दासी—मालकिन !

(मुन्नी वहुत अधिक चौंककर गिरते गिरते सँभल जाती है ।)

मुन्नी—(कठोर स्वरसे) क्यों ?

दासी—वावू गौरीनाथ आये है ।

मुन्नी—गौरीनाथ ! गौरीनाथ कौन ?

दासी—तुमने उनसे आनेको कहा था ?

मुन्नी—ओ ! गौरीनाथ वावू ! समझ गई ।—आज कौन दिन है ! —ओ ! हाँ कहा था !—ऊपर बुला लाओ ।

(दासीका प्रस्थान।)

मुन्नी—किस लिए वुलाया है, और क्या करना होगा !—मैया ! इसमें अगर कुछ पाप हो, तो क्षमा करना ।—यही मेरे जीवनका अन्तिम पाप है। तैयार हो लूँ । (आलमारीसे पिस्तौल निकालकर और उसे अच्छी तरह देखकर ठीक कर लेती है। फिर पिस्तौलको वस्त्रके भीतर छिपा लेती है और जल्दीसे वस्त्र ठीक कर लेती है।) अव मैं तैयार हूँ ।—लो वह आ गया ।

[दासीके साथ गौरीनाथका प्रवेश।]

मुन्नी—आइए। लछिया, बाहरसे दरवाजा बन्द कर दे।

(दासी बाहर चली जाती है।)

मुन्नी—बन्द कर दे। कुडी चढ़ा दे।

गौरी०—बाहरसे दरवाजा बंद !—क्यों !

मुन्नी—ओ ! —भूल हो गई।—खैर जाने दो। (हँसकर) जरूरत पड़ने पर लछिया अभी खोल देगी।

गौरी०—आज कैसा सुन्दर ठाठ किया है तुमने। कैसी सुन्दरी देख पड़ रही हो।

मुन्नी—सुन्दरी देख पड़ रही हूँ !—अच्छा अब देखो ! (बिजलीका झाड़ जला देती है।)

गौरी०—ओ· ! इतनी सुन्दरी हो तुम ! कैसा अद्भुत—कैसा सुन्दर—रूप है !—सुन्दरी !—(आगे बढ़ता है।)

मुन्नी—ठहरिए।—अब भला देखिए ! (अँधेरा कर देती है) देख पड़ता है ?

गौरी०—कहाँ ? नहीं ! कहाँ हो तुम प्राणेश्वरी।

मुन्नी—यह देखो ! (एक हरे रंगकी रोशनी कर देती है।)

(गौरीनाथने देखा, ज्योतिर्मयी मुन्नी गर्दन कुछ टेढी किये हुए खड़ी है। एंडीतक उसके बाल लटके है। उसके एक हाथमें कागज और दूसरे हाथमें पिस्तौल है।)

गौरी०—यह अब क्या है ?

मुन्नी—(कागज दिखाकर) दस्तखत करो।

गौरी०—यह क्या है !

मुन्नी—आपके पुत्रके नाम पत्र है—आदमीके हाथ तमस्सुक भेज देनेके लिए इसमें लिखा है। पढ़ो। पढ़कर दस्तखत करो।

गौरी०—(कागज-कलम लेकर, और पढकर) ओ !—तो मुझे दस्तखत करने होंगे ?

मुन्नी—हाँ । दस्तखत करो ।

गौरी०—नही, कभी नहीं ।

मुन्नी—दस्तखत करो ।—(पिस्तौल दिखाती है ।)

गौरी०—कभी नहीं ।—क्या करोगी !

मुन्नी—दस्तखत करो । (पिस्तौलकी नली गौरीनाथके सामने करके) अभी करो—नही तो—

गौरी०—अच्छा । (पत्र पर दस्तखत करता है।)

मुन्नी—(चिट्ठी लिफाफेमें रखते रखते) बड़े लायक और फर्माबरदार हो !—लछिया ! लछिया !

[दासीका प्रवेश ।]

मुन्नी—यह लो ! (वह पत्र देना) जो जो जिस तरह करनेको कह दिया है वह वह उसी तरह करना ।—जाओ, दरवाजा फिर वद कर दो ।

(दासी बाहर जाकर दरवाजा वद कर देती है ।)
(मुन्नी फिर सब रोशनी कर देती है ।)

मुन्नी—(हँसकर) देखते हो बाबू गौरीनाथ, चालवाजीमे तुम्हारी बराबरी करनेवाला और भी एक आदमी है !

गौरी०—ओफ् ! तुममे इतनी बडी शैतनत भरी है मुन्नी ?

मुन्नी—वेश्यासे बढ़कर शैतान और कौन इस दुनियामे है ?—जिसके स्वरमें छल है, हँसनेमें छल है, चुम्बनमें छल है, गले लगनेमे छल है; जो अपने शरीरको बेचती है, आत्माको बेचती है, जीवनका सार रत्न जो प्यार है—उसे भी बेचती है; जो राजोके महलमे उल्लुओंका बसेरा करा सकती है, ऋषियोकी तपस्याको मिट्टीमे मिला सकती है, एक बादशाहतको रसातलमे पहुचा सकती है; जिसका जीवन ही एक बड़ा भारी

सजीव मिथ्यावाद है।—इतना बड़ा शैतान और कौन है!—लेकिन मै वेश्याकी बेटी नही हूँ। मै विवाहित प्रेमका फूल हूँ। (स्वर कॉपने लगता है) अगर यह पहलेसे जानती, तो किसी किसानकी स्त्री होकर पवित्र आनन्दमय दारिद्र्यके निर्मल सुखको भोग सकती।—लेकिन तुमने मेरा सर्वनाश कर डाला।

गौरी०—(विस्मयके साथ) मैने!

मुन्नी—हाँ आपने!—आप जानते है, मेरे पिता कौन है!—नहीं जानते! जानते किस तरह! उस समय वे परदेशमे थे। लेकिन इस समय आप उन्हे अच्छी तरह पहचानते है। अच्छा सुनिए, मेरे पिताका नाम भवानीप्रसाद है, जिनके घरको आपने मसान बना दिया है। मेरी माताका नाम हीरा है—जिसे कुलसे भ्रष्ट करके, जिसके पुराने विश्वासी बूढ़े नौकरको मारकर, अन्तको—एकटक क्या निहार रहे हो—अन्तको उसकी भी हत्या की।

गौरी०—कौन कहता है?

मुन्नी०—प्रमाण है।

गौरी०—यह क्या! मुझे छोड दो मुन्नी।

मुन्नी—ठहरो, छोड़ती हूँ अभी।

गौरी०—मैंने हत्या करनेका इरादा करके हत्या नही की।

मुन्नी—यह कैफियत अदालतमे हाकिमके सामने देना।....वह लो—

[द्वार खोल कर पुलिसके साथ भवानीप्रसाद, शिवदयाल और कामताप्रसादका प्रवेश।]

मुन्नी—यह लो! दारोगा साहब! मै इस गौरीनाथको अपनी माता हीराके हत्याके अपराधमें अभियुक्त करती हूँ। गवाह—ये लोग है—

दरोगा०—बाँध लो—

(सिपाही गौरीनाथको पकडकर बाँधते है।)

मुन्नी—और पिताजी! आपकी कन्या आपके सामने ही अपने पापका प्रायश्चित्त करती है। तो बस—(अपनी ठोढीके तले पिस्तौल लगाकर)—पिताजी, बस आज्ञा दीजिए।

(ठीक इसी समय एकाएक घोर वज्र-नाद होता है। मुन्नी कॉप उठती है। उसके हाथसे पिस्तौल गिर पडती है और वह बेहोश होकर गिर जाती है।)

भवानी०—मैया कालीने मेरी कन्याको बचा लिया है। (मुन्नीका सिर गोदमें लेकर) मेरी बदनसीब बेटी! मैने मैयाके निकट प्रार्थना की है। उन्होने तुझे अपने चरणोमे स्थान दिया है।—उठ अभागिनी।

मुन्नी—(क्षीण स्वरसे) पिताजी!

भवानी०—बेटी!

चौथा दृश्य।

स्थान--भोलानाथके सोनेका कमरा।

समय—रात्रि।

[भोलानाथ एक कटार हाथमें लिये प्रवेश करते हैं।]

भोला०—ना, मै यहीं पर अन्त कर दूँगा। अब नहीं सहा जाता। लेकिन—आत्महत्या!—मैया दुर्गा! मेरे सब शरीरमे सुइयाँ चुभा-चुभाकर मारोगी, और अगर वह मुझे असह्य हो—तो चट पाप हो गया। अगर यही बात है, तो मनुष्यको दानवकी शक्ति क्यो नहीं दी? इस क्षुद्र शरीरके बीच एक स्नेहका समुद्र क्यो भर दिया था राक्षसी। —किन्तु जीवनके अन्तिम अङ्कमे एक महापाप करके मरूँगा। (कटारीको टेबिलके ऊपर रखता है और आप टेबिलके पास बैठता है) ना—इसकी जरूरत नहीं है। (उठकर टहलने लगता है) ओः! अब

नही सहा जाता। तिल तिल करके—यह भी तो मर ही रहा हूँ !—इससे बढ़कर—और क्या पातक हो सकता है !—भगवती, मुझे तुमने यह जीवन दिया है—यह मेरी सम्पत्ति है। मै इसे रक्खूँ, या मिटा दूँ, इसमें तुम्हारा क्या ! करूँगा—आत्महत्या करूँगा। (टेबिलके पास जाकर कटार उठाता है, उसे हथेलीमें गढाता है) ना, जरूरत नहीं है। (फिर कटारको रखकर, टेबिल पर सिर रखकर सोचने लगता है। उसके बाद सहसा जैसे चौंक उठता है) यह क्या ! कौन मुझे उसी पुरातन परिचित स्वरमे पुकार रहा है ! मृत्युके उस पारसे तुम मुझे पुकार रही हो बेटी !—वह फिर सुन पडा ! दूर है—नहीं पास ही है ! और भी ऊँचे, और भी मनको मस्त कर देनेवाले स्वरमे पुकार रही है। लो यह आता हूँ बेटी। (कटार उठाता है)—कहाँ गई ! फिर सब सन्नाटा होगया। (खिडकीमें कान लगाकर) कहाँ !—रातका सन्नाटा छाया हुआ है ! कोई भी नहीं जागता। अकेला मै जाग रहा हूँ। कोई भी नही देखता। देखता है केवल यह पूनोंका चाँद;—स्थिर होकर देख रहा है। यह चन्द्रमाके पास कौन है !—सरस्वती है क्या ?—वह मुझे हाथ बढ़ाकर बुला रही है।—नहीं। कहाँ ! कोई भी तो नहीं है;—सब कल्पना है ! (बैठ जाता है। फिर सहसा उठकर) वह फिर पुकारा !—फेर ! और भी निकट। ना, यह कल्पना—नहीं है। सरस्वती मुझे पुकार रही है !—वह देखो फिर ! यह क्या है ! उसका स्वर क्या रातकी हवामें इधर उधर गूँज रहा है !—वह देखो फिर ! लो आता हूँ बेटी !—क्षमा करो दयामयी ! (अपनी छातीमें कटार मार लेता है।)

(ठीक इसी समय " दादाजी, दादाजी। " कहकर पुकारती हुई, द्वार खोलकर, भवानीप्रसादके साथ सरस्वती प्रवेश करती है और भोलानाथके गलेसे लिपट जाती है। भोलानाथके हाथसे कटार गिर जाती है। दीपक भी बुझ जाता है।)

भोला०—कौन है तू मायाविनी !

सर०—मै आपकी पोती सरस्वती हूँ ।

भोला०—तू तो मर गई है । उः ! मुझे लेने आई है ?

सर०—नहीं, मै मरी नही । आपको छोड़कर क्या कही मै जा सकती हूँ दादाजी !

भोला०—तू मरी नही ! तूने गलेमे फाँसीका फंदा डाल लिया था—

सर०—ना दादाजी !

भोला०—तो क्या यह सब भ्रम है !—अब तक तू थी कहाँ निठुर !

सर०—मगर यह खून !—दादाजी ! यह क्या !

भोला०—मैं जाता हूँ बेटी—

सर०—कहाँ दादाजी ?

भोला०—उस पार । अच्छा जाता हूँ—सरस्वती—बेटी ! (सरस्वतीके गलेसे लिपटकर मृत्यु ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—ऊसर मैदान ।

समय—तीसरा पहर ।

[भगवानदास और मुन्नी ।]

भग०—दूर हटकर खडी होओ । तुम्हारी साँसमें नरककुण्डकी दुर्गंध है; तुम्हारे ओठोमे काली नागिनका जहर है; तुम्हारे स्पर्शमे भूसीकी आगकी ज्वाला है ।—पास न आओ । हटकर खडी होओ ।

मुन्नी—क्यों, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?

भग०—नहीं कुछ भी नहीं बिगाड़ा। 'अगियाबैताल'के समान रूपकी ज्योति दिखाकर मुझे घोर अन्धकारमे ला पटका; तूफानमे बीच गंगामे छोड़कर, 'हाल' छोड़कर, मुझे डुबा मारा, मुझे विश्वभरका बुरा, संसारभरकी दृष्टिमें घृणित, कुत्ता सा बनाकर छोड़ दिया; मुझे कायर, मिथ्यावादी, धोखेबाज, जुआचोर, नीच पशुसे भी अधम कर डाला। और क्या करोगी!

मुन्नी—सब दोष हम लोगोका ही है। हम पाप, मरी, सर्वनाश, सब कुछ है—यह स्वीकार करती हूँ। हम तो है ही, और जबतक मनुष्यजाति रहेगी, पृथ्वी रहेगी, सृष्टि रहेगी, तबतक हम है, और रहेगी। व्याधिके कीटाणुओंकी तरह, स्रोतके आवर्त्तकी तरह, किनारेपरके दलदलकी तरह, हम है, और रहेगी। लेकिन तुम लोग इस दूषित वायुमे क्यो घुसते हो? इस आवर्त्तमे क्यो आकर पड़ते हो? इस दल-दलमें क्यो पैर बढ़ाते हो?—क्या यह दोष भी हम लोगोका ही है।

भग०—ये बाते सुनानेके लिए ही क्या तुम यहाँ आई हो?

मुन्नी०—नहीं, मै तुम्हे तुम्हारी सहधर्मिणीके पास ले जानेके लिए आई हूँ।

भग०—उसे तो फॉसी हो गई। मेरे लिए—

मुन्नी—फॉसी हो गई है, लेकिन उसे नहीं—

भग०—फिर किसे?

मुन्नी—गौरीनाथको (दॉत पीसकर) वही—नहीं, मैया मुझको फिर मिली है, अब फिर क्यो!—उस सतीको फॉसी नहीं हुई, मृत्यु अवश्य हुई है।

भग०—यह क्या।

मुन्नी—दादाजीकी मृत्युके दूसरे ही दिन उस सतीकी मृत्यु हो गई।

भग०——कैसे ?

मुन्नी——यह नहीं जानती कि कैसे । कोई डाक्टर-वैद्य उस रोगको पहचान नही सका । मै मरतेसमय उसके पास ही थी । तेल चुक जाने पर जैसे दीपक धीरे धीरे बुझ जाता है, वैसे ही उस सतीके जीवनदीपको बुझते मैने देखा है । उस दृश्यको मै कभी नही भूलूँगी । मैने कहा——"बहन, जानती हो, तुम कहाँ जाती हो ?" सतीने ऊपरको उँगली उठाकर कहा——"उस पार——दादाजीके पास ।" मैने पूछा——"तुम्हारी इस सब संपत्तिका क्या होगा ?" देवीने हँसकर अपने मामाकी तरफ देखकर कहा——"मामा, गरीबोको बाँट देना; जैसे कि दादाजी बाँटा करते थे ।" उसके बाद मेरी ओर देखकर कहा——"बहन——उनसे मुलाकात हो तो कहना कि मै अन्तिम श्वास तक उनके कल्याणकी कामना करके मरी हूँ ।" इतना ही कहकर उसकी स्थिर आँखे स्वर्गकी ओर ताकती रह गई ।

भग०——तो फिर तुमने जो कहा कि तुम मुझे मेरी स्त्रीके पास ले जानेको आई हो ।——मेरी स्त्री तो स्वर्गमे है !

मुन्नी——मै तुम्हें उसी स्वर्गकी राहमे ले जाना चाहती हूँ ।

भग——तुम ! तुम मुझे स्वर्गकी राहमें ले जाओगी ! तुम वेश्या——

मुन्नी——तुम तो वेश्यासे भी अधम हो । सतीके गर्भसे तुम्हारा जन्म हुआ, सत्सगमे तुम रहे, तुमने क्या किया ? तुम्हे नरकमे भी स्थान नहीं है । वेश्याके घरमे पलकर, वेश्याके कुलधर्ममे दीक्षित होकर, फिर भी, उस अन्धकारके गढेमेसे, मै अपनी शक्तिके बलसे एक पर्वतका बोझा ठेलकर ऊपर उठी हूं ! और तुम——जाने दो । मै तुम्हे स्वर्गकी राहसे दूर ले गई थी, आज मै ही तुम्हे उस स्वर्गकी राहमे ले

जाऊँगी। यद्यपि मै वेश्या हूँ—लेकिन आज वह शक्ति मुझमे है। (गर्वके साथ सिर ऊँचा करके खडी होती है।)

भग०—(देखकर स्तभितभावसे) यह क्या !—नहीं नहीं—तुम तो वेश्या नहीं हो ! वेश्या तो इस तरह गर्दन टेढ़ी और सिर ऊँचा करके खड़ी नहीं होती। वेश्या तो इस तरह उज्ज्वल स्नेह-करुण मृदु हँसी नहीं हँसती। वेश्या तो इस तरह स-जल झुके हुए नेत्रोंसे असीम अनुकम्पाके साथ नही देखती। तुम तो वेश्या नही हो।—कौन हो तुम !—कौन हो तुम !

मुन्नी०—मै नारी हूँ !—मैयाके प्रसादसे मेरा कलंक धोगया है। मैने आज मैयाको पाया है।

भग०—(आग्रहके साथ) कहाँ पाया !—कहाँ पाया ! मै तो पृथ्वी भरमें मैयाको ही खोजता फिरता हूँ ! एक दिन पागलकी तरह एक संन्यासीके पैरो पर गिरकर मैने कहा—" मेरी मैया कहाँ है ?" उन्होने कहा—" ढूँढ़ो, माताके दर्शन पाओगे।" तुमने पाया है ? कहाँ है मैया ! कहाँ है मैया !

मुन्नी—देखोगे, आओ। (हाथ पकडकर भगवानदासको ले जाती है)।

छट्ठा दृश्य।

स्थान—श्मशान।

समय—सन्ध्या।

[भगवानदास और मुन्नी।]

भग०—कहाँ ! मैया कहाँ है !

मुन्नी—इसी जगह मैया है।

भग—(अत्यन्त विस्मयसे)—यहाँ !—यह तो मसान है।

मुन्नी—इससे अच्छी जगह और कौन है ! वह देखो, पतितपावनी नदी अपने उद्दाम उच्छ्वाससे दोनो किनारोको प्लावित करती हुई वेगसे वही चली जा रही है। वह देखो, नदीके उस पार लाल रंग धारण किये हुए सूर्य अस्त हो रहे है। वह देखो, जीभकी तरह लपलपाती हुई चिता जल रही है। वह देखो कितने ही लोग मुर्दोंको कन्धो पर लादे आ रहे हैं, लाशोंको उतार रहे है, जला रहे है। मिट्टीका शरीर धकधक करके जला जा रहा है, और वे एकटक वही देख रहे है। उसके वाद सदाके लिए पार्थिव सम्बन्ध तोडकर शून्य घरको लौटे जा रहे है !—कैसा सुन्दर दृश्य है !

भग०—(विस्मयसे) सुन्दर है !

मुन्नी—अत्यन्त सुन्दर है ! जीवनका दीपक बुझ गया है; वेदनाकी धडकन थम गई है, स्नेहका मोह जल गया है; काले वादलके ऊपर विजली चमक रही है; जन्मके ऊपर मृत्यु गरज रही है !—इसीसे मेरी मैया श्मशानचारिणी है।

भग०—कहाँ है मैया !

मुन्नी—जरा उस पार देखो !—देखो !—क्या देखते हो ?

भग०—लाल रंगका सूर्य अस्त हो रहा है।

मुन्नी—वहाँ पर नहीं। जीवनके उस पार देखो—कुछ देख पाते हो ?

भग०—नहीं—

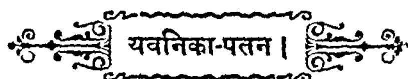
मुन्नी—मैयाको ?

भग०—कहाँ है मैया !—

मुन्नी—जरा जीसे मैया कहकर पुकारो ! देखो, देख पाते हो कि नहीं ! पुकारो !

भग०—मैया ! मैया !

मुन्नी—नहीं देख पाते ?....मै तो देख रही हूँ। (घुटने टेककर और हाथ जोडकर) विश्वव्यापिनी विवसना उन्मादिनी काली कराली मैया मेरी ! वह कैसी मूर्ति है ! दोनो ऊपर उठी हुई भुजाये आकाश भेदकर ऊपर चली गई है; मस्तकके चारो ओर करोड़ो चन्द्र-सूर्य-ग्रह तारागण नृत्य कर रहे हैं; कमरसे लिपटी हुई पृथ्वी दुग्धपान कर रही है; पैरो पर रसातल मूर्छित भावसे पड़ा हुआ है !—वह देखो, मैया अपनी मुट्ठीसे सहार और सृष्टिका आविर्भाव कर रही है; उसकी जिह्वामे हुंकार और अभय-वाणीका सगीत ध्वनित हो रहा है; उसके हृदयमे जन्म और मृत्यु स्पन्दित हो रहे है; उसके सामने स्वर्ग, पीछे नरक—दो महासमुद्रोकी तरह पड़े हुए है। उसकी छातीके ऊपर जगतके सब पुण्यात्मा सो रहे है। वह देखो तुम्हारे दादाजी है, वह देखो तुम्हारी स्त्री है, वह देखो तुम्हारी माता है....जगन्माताकी छातीके ऊपर—वह ' उस पार ' !



हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर-सीरीज।

हमारे यहाँसे उक्त नामकी एक ग्रन्थमाला निकलती है जिसमें बहुत ही उच्च श्रेणीके उत्तमोत्तम ग्रन्थ निकलते हैं। स्थायीग्राहकोंको सीरीजके तमाम ग्रन्थ पौनी कीमतमें दिये जाते हैं। स्थायी ग्राहक बननेकी प्रवेश फीस आठ आने है जो पहले जमा करानी पडती है। अबतक नीचे लिखे ग्रन्थ निकल चुके हैं –

१–२ स्वाधीनता	२)	१३ अन्नपूर्णाका मन्दिर ...	।।।)
३ प्रतिभा	१)	१४ स्वावलम्बन	१।)
४ फूलोंका गुच्छा ...	॥–)	१५ उपवासचिकित्सा ...	।।।=)
५ आँखकी किरकिरी .	१॥)	१६ सूमके घर धूम ...	≡)
६ चौबेका चिट्ठा ...	॥≡)	१७ दुर्गादास	।।।=)
७ मितव्ययता ...	।।।=)	१८ बंकिमनिबन्धावली ...	।।।)
८ स्वदेश	॥=)	१९ छत्रसाल	१॥)
९ चरित्रगठन और मनोबल	=)॥	२० प्रायश्चित्त	।)
१० आत्मोद्धार ..	१)	२१ अब्राहम लिंकन ...	॥=)
११ शान्तिकुटीर ...	।।।)	२२ मेवाडपतन ...	१।)
१२ सफलता ...	॥=)	२३ शाहजहाँ ...	१।)

हमारी अन्यान्य पुस्तकें।

१ बूढेका ब्याह ...	।=)	१० दियातले अँधेरा ...	॥–)
२ ब्याही बहू ...	≡)	११ मणिभद्र ...	॥=)
३ कनकरेखा ...	।।।)	१२ अच्छी आदतें ...	॥=)
४ व्यापारशिक्षा ...	॥)	१३ लन्दनके पत्र ...	≡)
५ युवाओंको उपदेश ...	॥=)	१४ विद्यार्थि जीवनका उद्देश	–)
६ शान्तिवैभव ...	।)	१५ संतानकल्पद्रुम ...	।।।)
७ पिताके उपदेश .	–)॥	१६ भाग्यचक्र ...	–)
८ कठिनाईमें विद्याभ्यास ..	॥=)	१७ कोलम्बस ...	।।।)
९ वीरोंकी कहानियाँ ...	।=)	१८ बच्चोंके सुधारनेके उपाय...	।।।)

नोट—बाहरकी भी अच्छी अच्छी पुस्तकें हम रखते हैं। सूचीपत्र मंगाकर देखिए।

मैनेजर, **हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, पो०

मानस-मुक्तावली



बाबू मुकुन्दलाल गुप्त

संकलित।

मानस-मुक्तावली

अर्थात्

महात्मा गोस्वामिप्रवर श्रीयुत तुलसीदासजी के
प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस से
संगृहीत उत्तमोत्तम कवितावली
और प्रासंगिक
पद्यावली

आज़मगढ़ प्रान्त के परम प्रसिद्ध धनकुबेर
अज़मतगढ़ कोठी के अधीश्वर
अग्रवाल-वंशावतंस
श्रीयुत बाबू लल्लूमल-वंशज
भगवज्जनपदपद्मचञ्चरीक

बाबू मुकुन्दलाल गुप्त
संकलित

प्रकाशक

ज्ञानविज्ञान पुस्तकालय, अज़मतगढ़ ज़ि० आज़मगढ़।

द्वितीय आवृत्ति २०००]   १९१८   [मूल्य ।≡) आना



संग्रहकार

बाबू मुकुन्द लाल गुप्त

ॐ

उत्सर्ग पत्र

स्वर्गीय कविकुल कमल दिवाकर श्री १०८ गोस्वामी

तुलसीदासजी की रामायण से संगृहीत

यह 'मानस-मुक्तावली'

नामक ग्रन्थ,

सत्साहित्य-रसिक, भाषाभूषण, आदर्श चरित

धार्मिक श्रेष्ठ, सर्वप्रिय, हिन्दी हितव्रती,

श्रीयुत पण्डित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय

के कर कमलों में संग्रहकार द्वारा

सादर समर्पित

हुआ।



साहित्य-रत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

ॐ

भूमिका

सहृदय वाचक वृन्द !

आद्य कवि कुल तिलक, भगवती वीणापाणि के वर संतान, पूत चरित, महात्मा गोस्वामी तुलसीदास को भारत भूमि का कौन ऐसा विद्वान् है जो नही जानता ? विद्वान् क्या जो केवल अक्षर का परिचय रखते है, वे भी राम रस की वर्षा करनेवाले उस लोकोत्तर महानुभाव से अपरचित नहीं। भारतवर्ष ही नही द्वीप द्वीपान्तर के लोग भी उस भाव राज्य के अन्यतम चक्रवर्ती भूपाल से उस परम उदार हृदय, परमोपकारी वसुधा को कुटुम्ब जाननेवाले महोदय से, अनभिज्ञ नहीं। ऐसी अवस्था में उनसे परिचय कराने की चेष्टा भगवान भुवन भास्कर को दीप द्वारा दिखलाना होगा। जिस ग्रंथ रत्न को रचकर उस महात्मा ने अमर कीर्ति पाई है ससार तम के निधन करने वाले महज्जनों मे उच्च आसन लाभ किया है, उस ग्रंथ रत्न के उस रामचरित मानस के विषय मे भी उसका परिचय कराने के लिये कुछ कथन करना वातुलता मात्र होगी। क्योंकि यह वह सर्वप्रिय पवित्र ग्रथ है, जिसका महत्व प्रत्येक हिन्दू संतान के हृदय पर अंकित है—यह वह अलौकिक मणि है जो एक भावुक हिन्दू के झोंपडे में वैसा ही चमकता है, जैसा किसी महा महिम महाराज के रत्नागार में। यदि वावदूक विद्वानों की मति उसका चमत्कार देखकर चकित होती है, तो उसमें से उस अपूर्व रस की धारा भी निकलती है जिसको पान कर एक साधारण मनुष्य भी मुग्ध हो

जाता है। फिर उसके विषय में कुछ कथन करना 'छोटा मुँह बड़ी बात' होगी। इसलिये ऐसा न कर मै प्रकृत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूँ॥

रामचरित मानस में अवगाहन करके लोक परलोक में अपना मुख उज्ज्वल बनाने वाले भाग्यवानों की संख्या थोड़ी नहीं है, ऐसे अनेक प्रातःस्मर्णीय महात्मा हो गये है—मैं उनका पदानुसरण कर सकता हूँ-वैसा भाग्यशाली नहीं हो सक्ता। वामन हाथ उठा सकता है, पर चन्द्रमा को छू नहीं सकता। रामचरित मानस में असंख्य अमूल्य मणि भरे पड़े हैं, पर वे सब के हाथ नहीं लगते, जिसका जैसा साधन है, वह वैसे ही फल का भागी है। मुझ में साधन नहीं, तप नहीं, बुद्धि नहीं, उतना साहस भी नहीं कि इस अलौकिक मानस मे धसूं और उसमे से अमूल्य मणि निकाल लाऊँ। मै एक ज्ञानहीन बालक हूँ-बालक ही समान अज्ञानावस्था मे कभी कभी उसके कूल पर खेलता रहता हूँ-बहुत सी चमकती हुई वस्तुएं सामने आती है, मुझ मे परख नहीं कि मैं समझूं कि वे क्या है, कैसी है, किन्तु बालक सुलभ स्वभाव वश कभी कभी उनमे से एकाध को उठा लेता हूँ, जिनको उठा लिया है, वे मेरे लिये उन मोतियों से कम नहीं, जिनसे मानस की शोभा है। सम्भव है कि वे चमकीले पोत हों परन्तु मै उनको मोती समझता हूँ-उनमे मेरा मोती जैसा ही प्यार है। मैंने [illegible] इकट्ठा किया है, एक डब्बे मे रक्खा है, नाम उसका 'मानस मुक्तावली' है। यही डब्बा, यही ग्रंथ रूपी डब्बा, लेकर आज आप सज्जनों की सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। मैं नहीं समझता आप लोग इसके मोतियों का कैसा आदर करेंगे। अथवा जिसको मै मोती समझता हूँ उसे क्या समझेंगे। मै बालक हूँ, निस्सन्देह यह मेरा बालचापल्य है, परन्तु बालचापल्य पर भी तो रीझने वाले है। इसके अतिरिक्त संभव है कि भाग्य से दो एक

मोती भी मेरे हाथ आ गये हो, यदि आपलोग इन्हीं दो एक मोतियों के सहारे इस ग्रंथ का कुछ आदर करेंगे तो मैं बाल चापल्य को ही अपने उत्कर्ष की चरम सीमा समझूंगा—और अपने को धन्य मानूंगा।

बालक गंभीर विषयों मे डूब नहीं सकते, उनको सीधी सादी बातो ही मे रस मिलता है, जो बातें कहावतों का काम देती है, उनको बहुत रुचती है, इसी से इस ग्रंथ में इस प्रकार की रचनाओ का विशेष संग्रह मिलेगा, वरन यह संग्रह इसी विचार से किया भी गया है। मुझको इसकी आवश्यकता जान पड़ी कुछ हमारे जैसे विचार के लोगों ने इसके लिये मुझे उत्साहित भी किया। मैंने अकसर लोगो को समय पर ऐसी रचनाएँ पढ़ते सुनी है वे समय पर बडा काम देती है, इसलिये मैं इस प्रकार की रचनाओ का संग्रह तैयार करने की लालसा को रोक न सका। संभव है यह मेरी बाल बुद्धि का ही परिचायक हो किन्तु यदि मेरी यह बालबुद्धिता अल्प भी उपकारक होगी थोड़ा भी हिन्दू समाज का हित करेगी, किंचित् भी देश के काम आवेगी, तो मैं अपने को कम भाग्यवान न समझूंगा।

पं० जिउत बधन त्रिपाठी से जो मेरे प्राइवेट सेक्रेटरी हैं मुझको इस ग्रंथ के सग्रह करने मे सहायता मिली है, इसलिये उनको धन्यवाद देते हुए मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ—और अत मे त्रुटियो एवं दोषो के लिये विद्वज्जन से क्षमा चाहता हूँ।

विनया वनत

मुकुन्द लाल गुप्त

कोठी अजमत गढ़

जि० आज़मगढ़

द्वितीय आवृत्ति की भूमिका

यह ग्रंथ जिस समय संग्रहीत हुआ, उस समय यह आशा नही थी, कि हिन्दी संसार मे इसका इतना अधिक आदर होगा, कि मैं इसके अनुरागियों की मॉग भी पूरी न कर सकूँगा। अभी हाल ही में माननीया युक्तप्रान्त की गवर्न्मेंट ने भी इस ग्रंथ को पुस्तकालयों के लिये कृपया स्वीकृत किया है। मेरे उत्साह वर्द्धन के लिये ये बातें अल्प नहीं, ग्रंथ भी निश्शेष हो चुका है, अतएव आज इसका यह दूसरा संस्करण होता है। किन्तु अब मैं ने इस ग्रंथ का सर्वाधिकार 'रमाविलास पुस्तकालय' अजमतगढ़ को अर्पण कर दिया है, इसलिये जिन सज्जनो को इस ग्रंथ की आवश्यकता हो, वे अब इसे कृपया उक्त पुस्तकालय के प्रबंधक द्वारा प्राप्त करें ॥

विनीत

मुकुन्द लाल गुप्त

विषय सूची।

संख्या विषय पृष्ठ

ॐ

मानस-मुक्तावली

१—मङ्गलाचरण

जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवरबदन।
करौ अनुग्रह सोइ, बुद्धि राशि शुभ गुन सदन॥१॥
मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन॥२॥
नील सरोरुह श्याम, तरुन अरुन वारिज, नयन।
करहु सो मम उर धाम, सदा क्षीर सागर सयन॥३॥
कुंद इंदु सम देह, उमा रमन करुना अयन।
जासु दीन पर नेह, करहु कृपा मरदन मयन॥४॥
वंदौ गुरुपद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकरनिकर॥५॥

बालकाण्ड

२—गुरुदेव-गुणगान

वंदौ गुरुपद पद्म परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरि मय चूरण चारू। शमन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृत शंभुतनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरणी। किये तिलक गुणगण वशकरणी॥
श्रीगुरुपद नख मणिगण ज्योती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बडे भाग्य उर आवहि जासू॥

उघरहिं विमल विलोचन हीके । मिटहिं दोष दुख भव रजनीके ॥
सूझहिं रामचरित मणिमाणिक । गुप्त प्रगट जो जहँ जेहि खानिक ॥

यथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहिं शैल वन, भूतल भूरि निधान ॥
संत कहहिं अस नीति प्रभु, श्रुति पुराण मोहिं गाउ ;
होइ न विमल विवेक उर, गुरु सन किये दुराउ ॥

गुरु के वचन प्रतीति न जेही । सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥

बालकाण्ड

३—सुजन और संतजन

सुजन समाज सकल गुणखानी । करौं प्रणाम सप्रेम सुवानी ॥
साधु चरित शुभ सरिस कपासू । निरस विशद गुण मय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । वन्दनीय जेहि जग यश पावा ॥
मुद मंगल मय संत समाजू । जो जग जंगम तीरथ राजू ॥
राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा । सरस्वति ब्रह्म विचार प्रचारा ॥
विधिनिषेधमय कलिमलहरणी । कर्म कथा रविनंदिनि वरणी ॥
हरिहर कथा विराजत वेनी । सुनत सकल मुद मंगल देनी ॥
वट विश्वास अचल निज धर्मा । तीरथराज समाज सुकर्मा ॥
सबहिं सुलभ सब दिन सब देशा । सेवत सादर शमन कलेशा ॥
अ[illegible] अलौकिक तीरथराऊ । देय सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तन, साधु समाज प्रयाग ॥

बड़े सनेह लघुन पर करहीं । गिरि निज सिरन्ह सदा तृन धरहीं ॥
जलधि अगाध मौलि वह फेनू । संतन धरनि धरति शिर रेनू ॥

जिन्ह के लहहिं न रिपु रण पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन डीठी॥
मंगन लहहिं न जिनके नाहीं। ते नर बर थोरे जग माहीं॥

बालकाण्ड

सुनु मुनि सतन के गुण कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बश रहऊँ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचलअकिंचनशुचिसुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसन्ध कवि कोविद योगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर भक्ति पथ परम प्रवीना॥

गुणागार संसार दुख, रहित विगत संदेह।
तजि मम चरण सरोज प्रिय, जिन्ह केदेह न गेह॥

निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं। परगुण सुनत अधिक हर्षाहीं॥
सम शीतल नहिं त्यागहि नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥
जप तप व्रत दम संयम नेमा। गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा क्षमा मइत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
विरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध यथारथ वेद पुराना॥
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत शीला॥
सुनु मुनि साधुन के गुण जेते। कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते॥

आरण्यकाण्ड

उमा सन्त कइ इहै बड़ाई। मन्द करत जो करइ भलाई॥

सुन्दरकाण्ड

४—सतसंगति-महिमा

मज्जन फल देखिय तत्काला। काक होहिं पिक बकहु मराला॥
सुनि आश्चर्य करै जनि कोई। सतसंग महिमा नहिं गोई॥

वाल्मीकि नारद घटयोनी। निजनिजमुखन कहीनिजहोनी॥
जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि यतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
विनु सत्संग विवेक न होई। रामकृपा विनु सुलभ न सोई॥
सत्संगति मुद मङ्गल मूला। सोइफलसिद्धिसबसाधनफूला॥
शठ सुधरहि सत्संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥
विधि वश सुजन कुसंगति परही। फणिमणिसम निजगुणअनुसरही
विधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसे। शाक वणिक मणि गुण गण जैसे॥

बंदौ संत समान चित, हित अनहित नहि कोय।
अंजलि गतशुभसुमनजिमि, सम सुगंध कर दोय॥

बालकाण्ड

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीशा। तुम्हरे दरश जाहिं अघ खीशा॥
बड़े भाग्य पाइय सत्संगा। बिनहिं प्रयास होय भव भंगा॥

संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुराण सद्ग्रंथ॥
बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ अनुराग॥

उत्तरकाण्ड

५—खलवृन्द

बहुरि वन्दि खलगण सतिभाये। जे बिनु काज दाहिने बाँये॥
परहित हानि लाभ जिन केरे। उजरे हर्ष विषाद बसेरे॥

हरिहर यश राकेश राहु से । पर अकाज भट सहसबाहु से ॥
जे परदोष लखहिं सहसाखी । परहित घृत जिनके मन माखी ॥
तेज कृशानु रोष महिषेशा । अघ अवगुण धन धनिक धनेशा ॥
उदय केतु सम हित सबही के । कुम्भकर्ण सम सोवत नीके ॥
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं । जिमि हिम उपल कृषीदलगरहीं ॥
वंदौं खल जस शेष सरोषा । सहसवदन वरणै परदोषा ॥
पुनि प्रणवौं पृथुराज समाना । परअघ सुनै सहस दश काना ॥
बहुरि शक्र सम विनवौं तेही । संतत सुरानीक हित जेही ॥
वचन वज्र जेहि सदा पियारा । सहसनयन परदोष निहारा ॥

उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति ।
जानु पाणि युग जोरि कर, विनती करहुँ सप्रीति ॥

बालकाण्ड

६—संत और असंत

वंदौं संत असज्जन चरणा । दुखप्रद उभय बीच कछु वरणा ॥
बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं । मिलत एक दारुण दुख देहीं ॥
उपजहिं एक संग जलमाहीं । जलजजोंकजिमिगुणविलगाहीं ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग जलधि अगाधू ॥
भल अनभल निज २ करतूती । लहत सुयश अपलोक विभूती ॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू । गरलअनलकलिमलसरिव्याधू ॥

भलो भलाई पै लहहिं, लहहि निचाई नीच ।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच ॥

खल अघ अगुण साधु गुणगाहा । उभय अपार जलधि अवगाहा ॥
तेहि ते कछु गुण दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥
भलेउ पोच सब विधि उपजाये । गनि गुण दोष वेद बिलगाये ॥

कहहिं वेद इतिहास पुराना । विधि प्रपंच गुण अवगुण साना ॥
दुख सुख पाप पुण्य दिनराती । साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू । अमिय सजीवन माहुर मीचू ॥
माया ब्रह्म जीव जगदीशा । लक्ष अलक्ष रंक अवनीशा ॥
काशी मग सुरसरि कर्मनाशा । मरु मालव महिदेव गवाशा ॥
स्वर्ग नरक अनुराग विरागा । निगमागम गुण दोष विभागा ॥

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुण गहहि पय, परिहरि वारि विकार ॥

अस विवेक जब देहि विधाता । तब तजि दोष गुणहि मन राता ॥
काल ,स्वभाव कर्म बरिआई । भलेउ प्रकृति वश चुकइ भलाई ॥
सो सुधारि हरिजन इमि लेहीं । दलि दुख दोष विमल यश देहीं ॥
खलहु करहि भल पाय सुसंगू । मिटहि न मलिन स्वभाव अभगू ॥
लखि सुवेष जग वंचक जेऊ । वेष प्रताप पूजियत तेऊ ॥
उघरें अन्त न होहिं निबाहू । कालनेमि जिमि रावण राहू ॥
किये कुवेष साधु सनमानू । जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥
हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहु वेद विदित सब काहू ॥
गगन चढ़े रज पवन प्रसंगा । कीचइ मिलहि नीच जल संगा ॥
साधु असाधु सदन शुक सारी । सुमिरहिं राम देहिं गनिगारी ॥
कुसंगति कारिख होई । लिखिय पुराण मंजु मसि सोई ॥
२ जल अनल अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥

वा० रकाण्ड

संत असत भेद बिलगाई । प्रणतपाल मोहिं कहहु बुझाई ॥
संतन के लक्षण सुनु भ्राता । अगणित श्रुति पुराण विख्याता ॥
संत असंतन के अस करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
काटै परशु मलय सुनु भाई । निज गुण देय सुगंध बसाई ॥

तातें सुर शीशन्ह चढ़त, जग वल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहि, परशु बदन यह दंड ॥

विषय अलम्पट शील गुणाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी । लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन वच क्रम मम भक्ति अमाया ॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्राण सम मम ते प्रानी ॥
विगत काम मम नाम परायण । शांति विरति विनती मुदितायन ॥
शीतलता सरलता मइत्री । द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री-॥
ये सब लक्षण बसहिं जासु उर । जानहु तात संत संतत फुर ॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं । परुष वचन कबहूँ नहि बोलहिं ॥

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्राण प्रिय, गुण मंदिर सुख पुंज ॥

सुनहु असंतन केर सुभाऊ । भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहि घालै हरहाई ॥
खलन्ह हृदय अति ताप विशेखी । जरहिं सदा पर सम्पति देखी ॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई । हर्षहिं मनहुँ परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
वैर अकारण सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥
झूठइ लेना झूठइ देना । झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥
बोलहिं वचन मधुर जिमि मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥

परद्रोही पर दार रत परधन पर अपवाद ।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरे मनुजाद ॥

लोभइ ओढन लोभइ डासन । शिश्नोदर पर यमपुर त्रासन ॥
काहू कै जो सुनहिं बड़ाई । स्वाँस लेहिं जनु जूड़ी आई ॥
जब काहू कै देखहिं विपती । सुखी भये मानहुँ जग नृपती ॥
स्वारथ रत परिवार विरोधी । लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥

मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं । आपु गये अरु घालहिं आनहिं ॥
करहिं मोह वश द्रोह परावा । संत संग हरि कथा न भावा ॥
अवगुण सिंधु मंद मति कामी । वेद विदूषक परधन स्वामी ॥
विप्र द्रोह सुर द्रोह विशेषा । दंभ कपट जिय धरे सुवेषा ॥

ऐसे अधम मनुज खल, कृत युग त्रेता नाहिं ।
द्वापर कछुक वृन्द वहु, होइहँ कलियुग माहि ॥

परहित सरिस धर्म नहि भाई । पर पीडा सम नहिं अधमाई ॥
निर्णय सकल पुराण वेद कर । कहेउँ तात जानहि कोविद नर ॥
नर शरीर धरि जे पर पीरा । करहिं ते सहहिं महा भव भीरा ॥
करहिं मोह वश नर अघनाना । स्वारथ वश परलोक नसाना ॥
काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता । शुभ अरु अशुभ कर्म फलदाता ॥
अस विचारि जे परम सयाने । भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने ॥
त्यागहिं कर्म शुभाशुभ दायक । भजहिं मोहिं सुर नर मुनिनायक ॥
संत असंतन के गुण भाखे । ते न परहिं भव जिन्ह लख राखे ॥

उत्तरकाण्ड

७—कवि-दैन्य ।

निज बुधिवल भरोस मोहिं नाहीं । ताते विनय करउँ सब पाहीं ॥
सूझ न एकौ अंग उपाऊ । मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥
[illegible] अति नीच ऊँच रुचि आछी । चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी ॥
[illegible] सज्जन मोर ढिठाई । सुनिहहिं वाल वचन मन लाई ॥
[illegible] वालक कह तोतरि वाता । सुनहि मुदित मन पितु अरु माता ॥
[illegible] क्रूर कुटिल कुविचारी । जे पर दूषण भूषण धारी ॥
निज कवित्त केहि लाग न नीका । सरस होइ अथवा अति फीका ॥
जे पर भनित सुनत हरखाहीं । ते वर पुरुष वहुत जग नाहीं ॥
जग वहु नर सुरसरि सम भाई । जे निज वाढ़ि वढहिं जल पाई ॥
सज्जन सुकृति सिंधु सम कोई । देखि पूर विधु वाढइ जोई ॥

भाग छोट अभिलाष बड, करउँ एक विश्वास।
पावहि सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास॥

कवि न होउँ नहि बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहौं लिखि कागज कोरे॥
विधु बदनी सब भांति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगर प्रसंग सुगंध बसाई॥

प्रिय लगाइ अति सबहि मम, भनित राम यश संग।
दारु विचारु कि करइ कोउ, बंदिय मलय प्रसंग॥
श्याम सुरभि पय विशद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम यश गावहि सुनहिं सुजान॥

बालकाण्ड

८–निर्गुण ब्रह्म

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्राण बिनु बास अशेषा॥
अस सब भाँति अलौकिक करणी। महिमा जासु जाइ नहिं बरणी॥

बालकाण्ड

९–विराट रूप

पद पाताल शीश अज धामा। अपर लोक अँग अँग विश्रामा॥
भृकुटि विलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥
जासु घ्राण अश्विनी कुमारा। निशि अरु दिवस निमेष अपारा॥

श्रवण दिशा दश वेद बखानी । मारुत स्वाँस निगम निज बानी ॥
अधर लोभ यम दशन कराला । माया हाँस बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अम्बुपति जीहा । उतपत पालन प्रलय समीहा ॥
रोम राजि अष्टादश भारा । अस्थि शैल सरिता नस जारा ॥
उदर उदधि अध गो यातना । जग मय प्रभु की बहुत कल्पना ॥

अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान ।
मनुज वास्र चर अचर मय, रूप राम भगवान ॥

लङ्काकाण्ड

१०—अवतार-वाद

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज विज्ञान रूप बल धामा ॥
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघ शक्ति भगवंता ॥
अगुण अदभ्र गिरा गोतीता । समदर्शी अनवद्य अजीता ॥
निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी । ब्रह्म निरीह विरज अविनाशी ॥
इहाँ मोह कर कारण नाहीं । रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥

भक्तहेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥
यथा अनेकन वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ॥
सोइ सोइ भाव दिखावई, आपु न होइ न सोइ ॥

रघुपति लीला उरगारी । दनुज विमोहनि जन सुखकारी ॥
मति मलिन विषय बस कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
नयन दोष जाकहँ जब होई । पीत वरण शशि कहँ कह सोई ॥
जेहि दिशि भ्रम होइ खगेशा । सो कह पच्छिम उगेउ दिनेशा ॥
नौकारूढ चलत जग देखा । अचल मोह वस आपुहि लेखा ॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी । कहहिं परस्पर मिथ्या वादी ॥
हरि विषयक अस मोह विहंगा । सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥

माया बस मतिमंद अभागी । हृदय जवनिका बहु विधि लागी ॥
ते शठ हठ वश संशय करहीं । निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ पड़े तम कूप ॥

उत्तरकाण्ड

११—ईश्वर-जीव-भेद

ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, कहहु सकल समुझाइ ।
जाते होय चरण रति, शोक मोह भ्रम जाइ ॥

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई । सुनहु तात मति मम चितलाई ॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया ;जानहु भाई ॥

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा । जा वश जीव परा भव कूपा ॥
एक रचै जग गुण वश जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥
ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥
कहिय तात सो परम विरागी । तृण सम सिद्ध तीन गुण त्यागी ॥

माया ईश न आपु कहँ, जान कहिय सो जीव ।
बंध मोक्ष प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव ॥

आरण्यकाण्ड

लागे करन ब्रह्म उपदेशा । अज अद्वैत अगुण हृदयेशा ॥
अकल अनीह अनाम अरूपा । अनुभव गम्य अखंड अनूपा ॥

मन गोतीत अमल अविनाशी । निर्विकार निरवधि सुख राशी ॥
सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा । वारि वीचि इव गावहिं वेदा ॥

उत्तरकाण्ड

१२—माया परिवार और माया ।

मोह न अंध कीन्ह कहु केही । को जग काम नचाव न जेही ॥
तृष्णा केहि न कीन्ह बउराहा । केहि कर हृदय क्रोध नहि दाहा ॥

ज्ञानी तापस शूर कवि, कोविद गुण आगार ।
केहि कै लोभ विडम्बना, कीन्ह न येहि संसार ॥
श्री मद वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि ।
मृगलोचनि लोचन शर, को अस लागि न जाहि ॥

गुण कृत सन्निपात नहिं केही । कोउ न मान मद तजेउ निबेही ॥
यौवन ज्वर केहि नहि बलकावा । ममता केहि कर यश न नशावा ॥
मत्सर काहि कलङ्क न लावा । काहि न शोक समीर डुलावा ॥
चिन्ता साँपिनि केहि नहिं खाया । को जग जाहि न व्यापी माया ॥
कीट मनोरथ दारु शरीरा । केहि न लागि घुन को अस धीरा ॥
सुत वित नारि ईषणा तीनी । केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥
यह सब माया कर परिवारा । प्रबल अमित को बरणै पारा ॥
चतुरानन जाहि डेराहीं । अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥

व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कपट प्रचंड ।
सेनापति कामादि भट, दम्भ कपट पाखंड ॥
सो दासी रघुवीर कै, समुझे मिथ्या सोपि ।
छूट न राम कृपा विनु, नाथ कहौं पद रोपि ॥

ज्ञान अखंड एक सीता वर । माया वश्य जीव सचराचर ॥
जौ सब के रह ज्ञान एक रस । ईश्वर जीवहि भेद कहौ कस ॥

माया वस्य जीव अभिमानी। ईश वस्य माया गुण खानी॥
परवश जीव स्ववश भगवंता। जीव अनेक एक श्री कंता॥
द्विविध भेद यद्यपि कृत माया। विनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥
रामचन्द्र के भजन विनु, जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवंत अपि सो नर, पशु विनु पुच्छ विषान॥

ऐसेहि विनु हरि भजन खगेशा। मिटइ न जीवन केर कलेशा॥
हरि सेवकहिं न व्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापक तेहि विद्या॥
ताते नाश न होइ दास कर। भेद भक्ति बाढ़इ विहंग वर॥

प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस प्रानी॥

उत्तरकाण्ड।

---

१३ – श्रीराम-प्रभुत्व

रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानु कर वारि।
यदपि मृषा तेहि काल सोइ, भ्रम न सकइ कोइ टारि॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥
अति प्रचंड रघुपति कर माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥

बालकाण्ड।

यद्यपि जन्म कुमातु ते, मैं शठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहि, मोहि रघुवीर भरोस॥

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं विरति।
पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धरम रति॥

यदपि विरज व्यापक अविनाशी । सब के हृदय निरंतर बासी ॥
तदपि अनुज सिय सहित खरारी । बसत मनस मम कानन चारी ॥

आरण्यकाण्ड

सपने जेहि सन होइ लराई । जागे समुझत मन सकुचाई ॥
नट मरकट इव सबहिं नचावत । राम खगेस वेद अस गावत ॥
गरल सुधा रिपु करै मिताई । गोपद सिन्धु अनल शितलाई ॥
गरुअ सुमेरु रेणु सम ताही । राम कृपा करि चितवहि जाही ॥
ताहि सदा शुभ कुशल निरन्तर । सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥
सब विजयी विनयी गुण सागर । तासु सुयश त्रैलोक उजागर ॥

कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ॥

ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जापर तुम अनुकूल ।
तव प्रताप बड़वानलहिं, जारि सकै खलु तूल ॥

राम कृपा बल पाइ कपिन्दा । भये पच्छ युत मनहुँ गिरिन्दा ॥

सुन्दरकाण्ड

नाथ वैर कीजिय ताही सों । बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥
रघुपतिहिं अन्तर कैसा । खलु खद्योत दिनकरहिं जैसा ॥
बल मधुकैटभ जेहि मारे । महावीर दिति सुत सहारे ॥
बलि बाँधि सहस भुज मारा । सोइ अवतरेउ हरण महि भारा ॥
विरोध न कीजिय नाथा । काल कर्म जिव जाके हाथा ॥

रामहिं सौंपिय जानकी, नाइ कमल पद माथ ।
सुत कहँ राज समर्पि वन, जाइ भजिय रघुनाथ ॥

नाथ दीनदयाल रघुराई । बाघउ सन्मुख गये न खाई ॥
चाहिय करन सो सब कर बीते । तुम सुर असुर चराचर जीते ॥

सत कहहिं अस नीति दशानन । चौथेपन नृप जाइहिं कानन ॥
तासु भजन कीजिय तहँ भर्ता । जो कर्ता पालन संहर्ता ॥
सोइ रघुवीर प्रणत अनुरागी । भजहु नाथ ममता मद त्यागी ॥
मुनिवर यतन करहिं जेहि लागी । भूप राज तजि होहिं विरागी ॥
सोइ कोशलाधीश रघुराया । आयउ करन तोहिं पै दाया ॥
जो पिय मानहु मोर सिखावन । होइ सुयश तिहुँ पुर अति पावन ॥

अस कहि लोचन बारि भरि, गहि पद कम्पित गात ।
नाथ भजहु रघुवीर पद, अचल होइ अहिवात ॥

जासु चलत डोलत इमि धरणी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरणी ॥
सहस बाहु भुज गहन अपारा । दहन अनल सम जासु कुठारा ॥
जासु परशु सागर खर धारा । बूड़े नृप अगणित बहु बारा ॥
तासु गर्व जेहि देखत भागा । सो नर क्यों दशशीश अभागा ॥
राम मनुज कस रे शठ बंगा । धन्वी काम नदी पुनि गङ्गा ॥
पशु सुर धेनु कलपतरु रूखा । अन्न दान अरु रस पीयूषा ॥
वैनतेय खग अहि सहसानन । चिन्तामणि किमि उपल दशानन ॥
सुनु मतिमन्द लोक वैकुंठा । लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा ॥

उमा राम की भृकुटि विलासा । होय विश्व पुनि पावै नासा ॥

तृण ते कुलिश कुलिश तृण करई । तासु दूत प्रण कहु किमि टरई ॥

उमा राम मृदु चित करुणाकर । वैर भाव सुमिरत मोहिं निश्चर ॥
देहि परम गति सो जिय जानी । अस कृपालु को कहहु भवानी ॥
ते अस प्रभु न भजहिं भ्रम त्यागी । नर मतिमन्द ते परम अभागी ॥

जासु प्रबल माया विवश, शिव विरंचि बड़ छोट ।
ताहि देखावइ निशिचर, निज माया मति खोट ॥

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुअन चारि दस आसू॥
सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥
यह कौतूहल जानइ सोई। जापर कृपा राम कर होई॥

अहंकार ममता मद त्यागू। महा मोह निशि सोवत जागू॥
काल काल कर भक्षक जोई। सपनेहुँ समर कि जीतिय सोई॥
भृकुटि भङ्ग कालहिं जो खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥
जग पावनि कीरति विस्तरिहहि। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥

गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहि भव पास।
सो कि बंध तर आवई, व्यापक विश्व निवास॥

चरित राम के सगुण भवानी। तर्कि न जाइ बुद्धि बल बानी॥
अस विचारि जे तज्ञ विरागी। रामहिं भजहि तर्क सब त्यागी॥

जानेउ मनुज करि दनुज कानन दहन पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत शिव ब्रह्मादि सुरपिय भजेहु नहिं करुणा मयं॥
आजन्म ते पर द्रोह रत पापौघ मय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥

अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिन्धु नहि आन।
मुनि दुर्लभ जो परम गति, तोहि दीन्ह भगवान॥

रकाकाण्ड

कुलिशहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।
चित खगेश अस राम कर, समुझि परइ कहु काहि॥

जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपतिचरित न बरणि सिराहीं।

जिमि शिशु तनु व्रण होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥
यदपि प्रथम दुख पावई, रोवइ बाल अधीर।
व्याधि नाश हित जननी, गनत न सो शिशु पीर॥
तिमि रघुपति निज दासकर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं, कस न भजेसि भ्रमत्यागि॥

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु शठ मना।
गणिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर यवन किरात खल श्वपचादि अति अघ रूप जे।
कहि नाम वारेक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते॥

रघुवंश भूषण चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावही।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सुन्दर सुजान कृपा निधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्वाण पद सम आन को॥

जाकी कृपा लवलेश ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायउ परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

उत्तरकांड

१९—राम नाम माहात्म्य

बंदौं राम नाम रघुवर के। हेतु कृशानु भानु हिम कर के॥
विधि हरि हर मय वेद प्राण से। अगुण अनूपम गुण निधान से॥
महा मंत्र जोइ जपत महेशू। काशी मुक्ति हेतु उपदेशू॥
महिमा जासु जान गणराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ सिद्ध करि उलटा जापू॥
सहस नाम सम सुनि शिववानी। जपि जेही पिय संग भवानी॥
हरखे हेतु हेरि हर ही कौ। किय भूषण तिय भूषण तीकौ॥
नाम प्रभाउ जान शिव नीके। कालकूट फल दीन्ह अमीके॥

वरषाऋतु रघुपति भगति, तुलसी शालि सुदास।
राम नाम वर वरण युग, श्रावण भादौं मास॥

अक्षर मधुर मनोहर दोऊ। वरण विलोचन जन जियजोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निवाहू॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसीके॥
वरणत वरण प्रीति विलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती॥
नर नारायण सरिस सुभ्राता। जग पालक विशेष जन त्राता॥
भक्ति सुतिय कलकरण विभूषण। जग हित हेतु विमल विधु पूषण॥
स्वादु तोष सम सुगति सुधा के। कमठ शेष सम धर वसुधा के॥
जन मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥

एक छत्र एक मुकुट मणि, सब वरणन पर जोउ।
तुलसी रघुवर नाम के, वरण विराजत दोउ॥

बालकाण्ड

म राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पाप पुंज समुहाहीं॥

. न श जो सुरसरि परई। तेहि को कहहु शीश नहि धरई॥
उल- नाम जपत जग जाना। वालमीकि भये ब्रह्म समाना॥

श्वपच शवर खस यमन जड़, पाँवर कोल किरात॥
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥

अयोध्या काण्ड

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषण भूषित बर नारी॥
राम बिमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥

सुन्दर काण्ड

२५—लोकोत्तर रामचरित

रामचरित चिन्तामणि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥
जग मंगल गुण ग्राम राम के। दानि मुक्ति धन धर्म धाम के॥
सद गुरु ज्ञान विराग योग के। विबुध वैद्य भव भीम रोग के॥
जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल व्रत धरम नेम के॥
शमन पाप संताप शोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥
सचिव सुभट भूपति विचार के। कुंभज लोभ उदधि अपार के॥
काम क्रोह कलिमल करिगण के। केहरि शावक जन मन वन के॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के॥
मंत्र महा मणि विषय व्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥
हरण मोहतम दिनकर कर से। सेवक शालिपाल जलधर से॥
अभिमत दानि देव तरु वर से। सेवत सुलभ सुखद हरिहर से॥
सुकवि शरद नभ मन उडुगण से। रामभक्ति जन जीवन धन से॥
सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जगहित निरुपधि साधु लोग से॥
सेवक मन मानस मराल से। पावन गंग तरंग माल से॥

कुपथ कुतर्क कुचालि कलि, कपट दंभ पाषंड।
दहन राम गुण ग्राम इमि, ईंधन अनल प्रचंड॥

बाल काण्ड

२६—श्रीराम धाम

जिन्ह के श्रवण समुद्र समना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥

भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन के हिय तुमकहं गृह रूरे॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरशजलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सिंधु सरित सर वारी। रूप विन्दु जन होहि सुखारी॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक। वसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥

यश तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुक्ता हल गुन गन चुनइ, राम बसहु मन तासु॥

प्रभु प्रसाद शुचि सुभग सुवासा। सादर जासु लहहि नित नासा॥
तुमहिं निवेदित भोजन करही। प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि विनय विशेखी॥
कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन के मन माहीं॥
मन्त्र राज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा॥
तर्पण होम करहिं विधि नाना। विप्र जिमाइ देहिं बहु दाना॥
तुम्हँते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥

सब कर माँगहिं एक फल, राम चरण रति होउ।
तिन्ह के मन मन्दिर बसहु, सिय रघुनंदन दोउ॥

काम क्रोध मद मान न मोहा। लोभ न छोह न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दम्भ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥
[illegible] के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रशंसा गारी॥
[illegible] सत्य प्रिय वचन विचारी। जागत सोवत शरण तुम्हारी॥
[illegible]महिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
जननी सम जानहिं पर नारी। धन पराव विष ते विष भारी॥
जे हर्षहिं पर सम्पति देखी। दुखित होहिं पर विपति विशेखी॥
जिनहिं राम तुम प्राण पियारे। तिन्ह के मन शुभ सदन तुम्हारे॥

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन के सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

अवगुण तजि सबके गुण गहहीं । विप्र धेनु हित सकट सहहीं ॥
नीति निपुण जिन्ह कै जग लीका । घर तुम्हार तिन्हकर मन नीका ॥
गुण तुम्हार समझै निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भक्त प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर वसहु सहित वैदेही ॥
जाति पाँति धन धर्म बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुख दाई ॥
सब तजि तुम्हहिं रहै लव लाई । तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥
सर्ग नर्क अपवर्ग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु बाना ॥
कर्म वचन मन राउर केरा । राम करहु तेहि के उर डेरा ॥

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्हँ सन सहज सनेह ।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह ॥

अयोध्याकाण्ड

१७–राम भक्ति की दुर्लभता

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म व्रत धारी ॥
धर्मशील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख विराग रत होई ॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक् ज्ञान सुकृत कोउ लहई ॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवन मुक्त सुकृत जग सोऊ ॥
तिन्ह सहस्र महँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्म लीन विज्ञानी ॥
धर्मशील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी ॥
सब तें सो दुर्लभ सुरराया । राम भक्ति रत गत मद माया ॥

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किये योग जप ज्ञान विरागा ॥

उत्तरकाण्ड

१८–राम की शरणागत वत्सलता

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि शम्भु गिरिजाऊ ॥

जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवइ समय शरण तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥

शरणागत को जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पाँवर पाप मय, तिनहि विलोकत हानि ॥

कोटि विप्र वध लागइ जाहू । आये शरण तजउँ नहि ताहू ॥
सन्मुख होइ जीव मोहिं जवहीं । जन्म कोटि अघ नाशहिं तवहीं ॥
पापवन्त कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥
जौं पै दुष्ट हृदय सोइ होई । मोरे सन्मुख आव कि सोई ॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

सुन्दरकाण्ड

१९—ज्ञान और भक्ति

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । कर्णधार बिन जिमि जल यानू ॥

सो सुख कर्म धर्म जर जाऊ । जहँ न राम पद पंकज भाऊ ॥

योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू । जहँ नहि राम प्रेम परधानू ॥

अयोध्याकाण्ड

धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना । ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना ॥
वेगि द्रवौं मैं भाई । सो मम भक्ति भक्त सुखदाई ॥
सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना । तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ॥
भक्ति तात अनुपम सुख मूला । मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥
भक्ति के साधन कहौं बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहि विप्र चरण अति प्रीती । निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥
यहि कर फल पुनि विषय विरागा । तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवणादिक नव भक्ति दृढाहीं । मम लीला रत अति मन माहीं ॥

संत चरण पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानैं दृढ़ सेवा॥
मम गुण गावत पुलक शरीरा। गद गद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

वचन कर्म मन मोर गति, भजन करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महँ, करौं सदा विश्राम॥

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुण चतुराई॥
भक्ति हीन नर सोहै कैसा। विनु जल वारिद देखिय जैसा॥
नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भक्ति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुरु पद पङ्कज सेवा, तीसरि भक्ति अमान॥
चौथि भक्ति मम गुण गण, करइ कपट तजि गान॥

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सुवेद प्रकासा॥
छठ दम शील विरति वहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातव सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक कर लेखा॥
आठव यथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहि देखइ पर दोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मन भरोस हिय हर्ष न दीना॥
नव महँ जिन्ह के एकौ होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिशय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे॥
योगि वृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आज सुलभ भइ सोई॥
मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव फल सहज सरूपा॥

गह शिशु वच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरु गाई॥
प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहि पाछिल वाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत मम दास अमानी॥

जनहिं मोर बल निज बल ताही । दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह विचार पंडित मोहिं भजहीं । पायेहुँ ज्ञान भक्ति नहिं तजहीं ॥

आरण्यकाण्ड

जाने विनु न होइ परतीती । विनु परतीति होइ नहि प्रीती ॥
प्रीति विना नहिं भक्ति दृढ़ाई । जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥

विनु गुरु होइ कि ज्ञान , ज्ञान कि होइ विराग विनु ।
गावहिं वेद पुराण ,सुख किलहहिहरिभक्तिविनु ॥

जे असि भक्ति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥

सुनु खगेश हरि भक्ति विहाई । जे सुख चाहहि आन उपाई ॥
ते शठ महासिंधु विनु तरणी । पैरि पार चाहहिं जड़ करणी ॥

ज्ञान विराग योग विज्ञाना । ये सव पुरुष सुनहु हरि जाना ॥
पुरुष प्रताप प्रवल सव भाँती । अवला अवल सहज जड़ जाती ॥
मोह न नारि नारि के रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
· भक्ति सुनहु तुम दोऊ । नारि वर्ग जानहि सव कोऊ ॥
नि रघुवीरहि भक्ति पियारी । माया खलु नर्तकी विचारी ॥
ह सानुकूल रघुराया । तातें तेहि डरपत अति माया ॥
भक्ति निरुपम निरुपाधी । वसइ जासु उर सदा अवाधी ॥
हि विलोकि माया सकुचाई । करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ॥
अस विचारि जे मुनि विज्ञानी । याचहिं भक्ति सकल सुख खानी ॥

यह रहस्य रघुनाथ कर , वेगि न जानइ कोइ ।
जो जानइ रघुपति कृपा , सपनेहुँ मोह न होइ ॥

अउरउ ज्ञान भक्ति कर, भेद सुनहु सुप्रवीन ।
जो सुनि होइ राम पद, प्रीति सदा अविछीन ॥

सुनहु तात यह अकथ कहानी । समुझत बनइ न जाइ बखानी ॥
ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुख राशी ॥
सो माया वश भयउ गुसाईं । बँधेउ कीर मर्कट की नाईं ॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई । यदपि मृषा छूटत कठिनई ॥
तब तें जीव भयउ संसारी । छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥
श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥
जीव हृदय तम मोह विशेषी । ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी ॥
अस संयोग ईश जब करई । तबहुँ कदाचित सो निरुवरई ॥
सात्विक श्रद्धा धेनु लवाई । जो हरि कृपा हृदय बसि आई ॥
जप तप व्रत यम नियम अपारा । जे श्रुति कह शुभ धर्म अचारा ॥
ते तृण हरित चरइ जब गाई । भाव बच्छ शिशु धेनु पेन्हाई ॥
नोइ निवृत्ति पात्र विश्वासा । निर्मल मन अहीर निज दासा ॥
परम धर्म मय पय दुहि भाई । अवटइ अनल अकाम बनाई ॥
तोष मरुत तब क्षमा जुड़ावइ । धृति सम जावन देइ जमावइ ॥
मुदिता मथइ विचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुवानी ॥
तब मथि काढ लेइ नवनीता । विमल विराग सुपरम पुनीता ॥

योग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म शुभाशुभ लाइ ।
बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत ममता मल सरि जाइ ॥
तब विज्ञान रूपिनी, बुद्धि विशद घृत पाइ ।
चित्त दिया भरि धरइ दृढ़, समता दियटि बनाइ ॥
तीनि अवस्था तीनि गुण, तेहि कपास तें काढ़ि ।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि ॥
एहि विधि लेसइ दीप, तेज राशि विज्ञान मय ।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब ॥

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा, दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकाशा। तव भव मूल भेद भ्रम नाशा॥
प्रवल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥
तव सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृह वैठि ग्रंथि निरुवारा॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई। तौ यह जीव कृतारथ होई॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तव माया॥
ऋद्धि सिद्धि प्रेरइ वहु भाई। वुद्धिहि लोभ दिखावहि आई॥
कल वल छल करि जाइ समीपा। अचल वात वुझावहि दीपा॥
होइ वुद्धि जो परम सयाने। तिन्ह तनु चितवन अनहित जाने॥
जौं तेहि विघ्न वुद्धि नहिं वाधी। तौ वहोरि सुर करहि उपाधी॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर वैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय वयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी॥
जव सो प्रभञ्जन उर गृह जाई। तवहि दीप विज्ञान वुझाई॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सुप्रकासा। वुद्धि विकल भइ विषय वतासा॥
इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई॥
विषय समीर वुद्धि कृत भोरी। तेहि विधि दीप कि वार वहोरी॥

तव फिर जीव विविध विधि, पावइ संसृति क्लेश।
हरि माया अति दुस्तर, तरि न जाइ विहँगेश॥
कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाक्षर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान पंथ कृपाण कै धारा। परत खगेश होइ नहि वारा॥
जौं निर्विघ्न पंथ निर्वहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुराण निगम आगम वद॥
राम भजत सोइ मुक्ति गुसाई। अन इच्छित आवइ वरिआई॥
जिमि थल विनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भक्ति विहाई॥

अस विचारि हरिभक्त सयाने। मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥
भक्ति करत विनु यतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥
भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो असन पचवइ जठरागी॥
अस हरि भक्ति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

सेवक सेव्य भाव विनु, भव न तरिय उरगारी।
भजहु रामपद पङ्कज, अस सिद्धांत विचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समरथ रघुनायकहि, भजहि जीव ते धन्य॥

कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई॥
राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। वसइ गरुड जाके उर अंतर॥
परम प्रकाश रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहि आवा। लोभ वात नहिं ताहि बुझावा॥
अचल अविद्या तम मिटि जाई। हारहि सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहि जाहीं। वसइ भक्ति जाके उर माहीं॥
गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मणि विनु सुख पाव न कोई॥
व्यापहि मानस रोग न भारी। जिन्ह के वस सब जीव दुखारी॥
राम भक्ति मणि उर बस जाके। दुख लवलेश न सपनेहुँ ताके॥
चतुर शिरोमणि ते जग माहीं। जे मणि लागि सुयतन कराहीं॥
सो मणि यदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा विनु नहिं कोउ लहई॥
सुगम उपाइ पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहि भट भेरे॥
पावन पर्वत वेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भक्ति मणि सब गुणखानी॥
मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु धन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
सब कर फल हरि भक्ति सुहाई। सो विनु संत न काहू पाई॥
अस विचारि जोइ कर सत्संगा। राम भक्ति तेहि सुलभ विहंगा॥

ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहि ।
कथा सुधा मथि काढ़इ, भक्ति मधुरता जाहि ॥
विरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइय सो हरि भगति, देखु खगेश विचारि ॥

उत्तरकाण्ड

२०—प्रिय भक्त

जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँधि बर डोरी ॥
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं । हर्ष शोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसै धन जैसे ॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे । धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥

सगुण उपासक परहित, निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्राण समान मम, जिन्ह के द्विज पद प्रेम ॥

सुन्दरकाण्ड

तुम्ह अति कीन्ह मोर सेवकाई । मुख पर केहि विधि करौं बड़ाई ॥
तातें मोहि तुम अति प्रिय लागे । मम हित लागि भुवन सुख त्यागे ॥

मम प्रिय सब मम उपजाये । सबते अधिक मनुज मोहि भाये ॥
हँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी । तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी ॥
महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी । ज्ञानिहु ते अति प्रिय विज्ञानी ॥
हि प्रिय नि दासा । जेहि गति मोहि न दूसरि आसा ॥
२ सत्य कहौं तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥
भक्ति हीन विरंचि किन होई । सब जीवन्ह सम प्रिय मोहि सोई ॥

भक्तिवंत अति नीचउ प्राणी । मोहि प्राण प्रिय अस मम बानी ॥

शुचि सुशील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुराण कह नीति अस, सावधान सुनु काग॥

एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक गुण शील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवंत शूर कोउ दाता॥
कोउ सर्वज्ञ धर्म रत कोई। सब पर प्रीति पितहिं समहोई॥
कोउ पितु भक्त वचन मन कर्मा। सपनेहुँ जानि न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्राण समाना। यद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
यहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल विश्व यह मम उपजाया। सब पर मोहिं बराबर दाया॥
तिन्हमहँ जो परिहरि मदमाया। भजइ मोहि मन वच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि नर, जीव चराचर कोइ॥
भक्ति भाव तजि कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहिं, शुचि सेवक मोहिं प्राणप्रिय।
अस विचारि भजु मोहिं, परिहरि आस भरोस सब॥

उत्तर काण्ड

२१—भगवदुक्तियां।

सुनु गंधर्व कहउँ मैं तोही। मोहि न सुहाइ ब्रह्म कुल द्रोही॥
मन क्रम वचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत विरंचि शिव, बस ताके सब देव॥

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

सुनु मुनि तोहि कहौं सह रोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करहुँ सदा तिनकी रखवारी। जिमि बालकहिं राखु महतारी॥

आरण्यकाण्ड

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥

किष्किंधा काण्ड

शिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ॥

शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भर, घोर नर्क महँ वास ॥

लंका काण्ड

सुनहु सकल पुरजन मम बानी । कहउँ न कछु ममता उर आनी ॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई । सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई ॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुशासन मानइ जोई ॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई । तौ मोहि बरजहु भयबिसराई ॥
बड़े भाग्य मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा । पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥

सो परत्र दुख पावई शिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ॥

एहि तन कर फल विषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं । पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं ॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंज गहइ पारस मणि खोई ॥
आकर चारि लक्ष चौरासी । योनिभ्रमतयहजिव अविनासी ॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म स्वभाव गुण घेरा ॥
कबहुंक करि करुणा नर देही । देत ईश बिनु हेत सनेही ॥
नर तन भव वारिधि कहँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ कै भावा ॥

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ ॥
सो कृत निन्दक मंदमति, आतमहन गति जाइ ॥

जो परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम वचन हृदय दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भक्ति मोर पुराण श्रुति गाई॥
ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
भक्ति स्वतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी॥
पुण्य पुंज बिनु मिलहि न संता। सत्संगति संसृति कर अंता॥
पुण्य एक जग मे नहि दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करइ द्विजसेवा॥

औरो एक गुप्त मति, सबहि कहउँ कर जोर।
शंकर भजन बिना नर, भक्ति न पावइ मोर॥

कहहु भक्ति पथ कौन प्रयासा। योग न मख जप तप उपवासा॥
सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ न कहहु कहा विश्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढाई। यहि आचरण वश्य मैं भाई॥
वैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारम्भ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दक्ष विज्ञानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृण सम विषय स्वर्ग अपवर्गा॥
भक्ति पक्ष हट नहि शठताई। दुष्ट तर्क सब दूर बहाई॥

मम गुण ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानई, परानंद संदोह॥

क्षमा शील जे पर उपकारी। तेद्विज मोहि प्रिय यथा खरारी॥
उन्मत मरत दुसह दुख होई। एहि खलपउ नहि व्यापिहि सोई॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसि संत अनंत समाना॥
इन्द्र कुलिश शिव शूल विशाला। काल दंड हरि चक्र कराला॥
जो इन्ह कर मारा नहि मरई। विप्र द्रोह पावक सो जरई॥

उत्तर काण्ड

२२—अलौकिक रामराज

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहु नहिं व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधर्म निरत श्रुति रीती॥
चारिहु चरण धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
रामभक्ति रत सब नर नारी। सकल परमगति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज शरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छण हीना॥
सब निर्दंभ धर्म रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥

राम राज नभगेश सुनु, सचराचर जग नाहिं॥
काल कर्म स्वभाव गुण, कृत दुख काहुहिं नाहिं॥

राम राज कर सुख सम्पदा। वरणि न सकै फणीश शारदा॥
सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरण सेवक नर नारी॥
एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन वच क्रम पति हितकारी॥

दंड यतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग, रामचन्द्र के राज॥

फूलहिं फलैं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बैर बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥
कूजहिं खग मृग नाना वृन्दा। अभय चरहिं वन करहिं अनंदा॥
शीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥
लता विटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥
सस सम्पन्न सदा रह धरणी। त्रेता भइ कृतयुग कै करणी॥
प्रगटीं गिरिन्ह विविध मणि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं वर वारी। शीतल अमल स्वाद सुखकारी॥
सागर निज मर्यादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥

सरसिज संकुल सकल तड़ागा । अति प्रसन्न दश दिशा विभागा ॥

विधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जितनहिं काज ॥
माँगे वारिद देहि जल, रामचन्द्र के राज ॥

जब तें राम प्रताप खगेशा । उदितभयउअति प्रबल दिनेशा ॥
पूरि प्रकाश रहेउ तिहुँ लोका । बहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मनशोका॥
जिन्हहिं शोक ते कहहुँ बखानी । प्रथम अविद्या निशा नसानी ॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने । काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥
विविध कर्म गुण काल स्वभाऊ । ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा । इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥
धर्म तड़ाग ज्ञान विज्ञाना । ये पंकज विकसे विधि नाना ॥
सुख संतोष विराग विवेका । विगत शोक ए कोक अनेका ॥

यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकाश ।
पछिले बाढहिं प्रथम जे, कहे ते पावहि नाश ॥

उत्तरकाण्ड

२३—राम विमुखता

मातु मृत्यु पितु शमन समाना । सुधा होइ विष सुनु हरिजाना ॥
मित्र करइ शत रिपु कै करणी । ताकहँ विबुध नदी वैतरणी ॥
सब जग तेहि अनलहु तें ताता । जो रघुवीर विमुख सुनु भ्राता ॥

आरण्यकाण्ड

जगदातमा प्राण पति रामा । तासुविमुखकिमि लह विश्रामा ॥

वेद पुराण जासु यश गावा । रामविमुख न काहु सुख पावा ॥

[illegible] सम्पति सगुन शुभ, सपनेहुँ मन विश्राम ।
[illegible] रत मोह वश, राम विमुख रत काम ॥

नव बल नाथ डोल नित धरणी। तेज हीन पावक शशि तरणी॥
शेष कमठ सहि सकै न भारा। सो तनु भूमि परेउ जर छारा॥
वरुण कुवेर सुरेश समीरा। रण सन्मुख धर काहु न धीरा॥
भुजबल जितेउ काल जिमि साईं। आज परेहु अनाथ की नाईं॥
जगत विदित तुम्हार प्रभुताई। सुत परिजन बल बरणि न जाई॥
राम विमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कुल कोउ रोवनि हारा॥
तव बस विधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिशिप नित नावहिं माथा॥
अब नव शिर भुज जम्बुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं॥

लङ्काकाण्ड

शिव सेवा कै फल सुत सोई। अविरल भक्ति रामपद होई॥
रामहिं भजहिं तात शिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥
जासु चरण अज शिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥

कमठ पीठि जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहु विधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥

तृषा जाइ बरु मृग जलपाना। बरु जामहि सस शीश विषाना॥
अंधकार बरु शशिहि नसावइ। राम विमुख न जीव सुख पावइ॥
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। विमुख राम सुख पाव न कोई॥
वारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरहि, यह सिद्धांत अपेल॥
मशकहि करइ विरंचि प्रभु अजहि मशक ते हीन।
अस विचारि तजि संशय रामहि भजहिं प्रवीन॥

उत्तरकाण्ड

२४—उपदेश और शिक्षा

निर्गुन निलज कुवेष कपाली। अकुल अगेह दिगम्बर व्याली॥

कहहु कवन सुख अस वर पाये। भल भूलिहु ठग के बौराये॥

अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँ कि नारि खटाहिं॥

झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥

जिन्ह हरि कथा सुनीं नहि काना। स्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहि देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा॥
ते शिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पदमूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नहि आनी। जीवत शव समान तेइ प्रानी॥
सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस विचारि मन माहिं, भजिय महा मायापतिहिं॥

भृकुटि विलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही॥

व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नानाविधि, करत चरित्र अनूप॥

बालकाण्ड

मातु पिता गुर स्वामि सिख, शिर धरि करिय सुभाय।
लहेउ लाभ तिन जन्म के, नतरु जन्म जग जाय॥

गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइय सकल प्राण की नाईं॥

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपति भक्त जासु सुत होई॥
नतर बाँझ भलि बादि बियानी। राम बिमुख सुत ते हितहानी॥

राग रोष ईर्षा मद मोहू। सपनेहुँ जनि इन्ह के वस होहू॥
सकल प्रकार विकार विहाई। मन क्रम वचन करहु सेवकाई॥

शुभ अरु अशुभ कर्म अनुहारी। ईश देइ फल हृदय विचारी॥
करइ जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई॥

काहु न कोउ दुख सुखकर दाता। निजकृत कर्म भोग सब भ्राता॥
योग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जन्म मरन जहँ लगि जग जालू। सम्पति विपति कर्म अरु कालू॥
धरणि धाम धन पुर परिवारू। स्वर्ग नर्क जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोइ॥

मोह निशा सब सोवनि हारा। देखिय स्वप्न अनेक प्रकारा॥
यहि जग यामिनि जागहि योगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥
जानहिं तबै जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥
होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरण अनुरागा॥
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगति अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

भक्त भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल॥

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुवीर चरण रत होहू॥
[illegible] दधीचि हरिचंद नरेशा। सहेउ धर्म हित कोटि कलेशा॥
[illegible] देव बलि भूप सुजाना। धर्म धरेउ सहि संकट नाना॥
[illegible] न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुराण बखाना॥

अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुयश के, बसहिं अमरपति ऐन॥

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी । सुनि मन मुदित करिय भल जानी ॥
उचितकि अनुचित कियेविचारू । धर्म जाइ शिर पातक भारू ॥

बादि बसन बिनु भूषण भारू । बादि बिरति बिनु ब्रह्म विचारू ॥
सरुज शरीर बादि बहु भोगा । बिनु हरि भगति जाय जपयोगा ॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई । बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥

साधु समाज न जाकर लेखा । राम भक्त महँ जासु न रेखा ॥
जाय जियत जग सो महि भारू । जननी यौवन बिटप कुठारू ॥

तात करहु जनि सोच बिसेखी । सब दुख मिटहिं राम पग देखी ॥
अयोध्याकाण्ड

जाके डर सुर असुर डराही । निशि न नींद दिन अन्न न खाही ॥
सो दशशीश स्वान की नाई । इत उत चितइ च ला भँड़िआई ॥
इमि कुपथ पग देत खगेशा । रह न तेज बल बुधिल बलेशा ॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं विषय अनुरागी ॥

नर विविध कर्म अधर्म बहु मन शोक प्रद सब त्यागहू ।
विश्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू ॥
जाति हीन अघ जनम महि , मुकुति कीन्हि असि नारि ।
महा मंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥

शास्त्रसुचिंतित पुनि पुनि देखिय । भूप सुसेवित वशनहिं लेखिय ॥
राखिय नारि यदपि उर माहीं । युवती शास्त्र नृपति वश नाहीं ॥

तात तीनि अति प्रबल खल . काम क्रोध अरु लोभ ।
मुनि विज्ञान धाम मन . करहिं निमिष महँ क्षोभ ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि ।
क्रोध के परुष बचन बल . मुनिवर कहहिं विचारि ॥

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना

आरण्यकाण्ड

अनुज वधू भगिनी सुत नारी । सुनु शठ ये कन्या सम चारी ॥
इन्हैं कुदृष्टि विलोकै जोई । ताहि वधे कछु पाप न होई ॥

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं । मुनि मन मोह करै छिन माहीं ॥
भानु पीठि सेइय उर आगी । स्वामिहिं सेइय सब छल त्यागी ॥
तजि माया सेइय पर लोका । मिटहिं सकल भव संभव शोका ॥
देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम विहाई ॥
सोइ गुणज्ञ सोई बड़ भागी । जो रघुवीर चरण अनुरागी ॥

किष्किन्धाकाण्ड

मोह मूल बहु शूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान ।
भजहु राम रघुनायक, कृपा सिंधु भगवान ॥

जो आपन चाहिय कल्याना । सुयश सुमति शुभ गति सुख नाना ॥
सो पर नारि लिलार गुसाईं । तजउ चौथि के चंद कि नाईं ॥

चौदह भुवन एक पति होई । भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई ॥
गुण सागर नागर नर जोऊ । अल्प लोभ भल कहइ न कोऊ ॥

सुमति कुमति सब के उर रहहीं । नाथ पुराण निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना । जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥

तब लगि कुशल न जीवकहँ, सपनेहु मन विश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहँ, शोक धाम तजि काम ॥
तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप शायक कटि भाथा ॥

ममता तरुण तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥
अस प्रभु छाँड़ि भजें जे आना। ते नर पशु बिन पूँछ विषाना॥
सुन्दरकाण्ड

श्री रघुबीर प्रताप तें, सिंधु तरे पाखान।
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥

निश्चर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंद मति, जे न भजहिं श्री राम॥

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यन्दन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईश भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परशु बुधि शक्ति प्रचंडा। नर विज्ञान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोण समाना। समयम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्म मय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥
महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ, सुनहु सखा मति धीर॥

लंका काण्ड

भजहु प्रणतप्रतिपालक रामहि। शोभा शील रूप गुण धामहि॥
जलज विलोचन श्यामल गातहि। पुलक नयन इव सेवक त्रातहि॥
धृत शर रुचिर चाप तूणीरहिं। संत कंज वन रवि रणधीरहिं॥
काल कराल व्याल खग राजहिं। नमत राम अकाम ममता जहिं॥
लोभ मोह मृग यूथ किरातहिं। मनसिज करि हरि जन सुखदातहिं॥

संशय शोक निविड़ तम भानुहि । दनुज गहन घन दहन कृशानुहि ॥
जनकसुता समेत रघुबीरहि । कस न भजहु भंजन भव भीरहि ॥
बहु वासना मशक हिम राशिहिं । सदा एक रस अज अविनाशिहि ॥
मुनि रंजन भंजन महि भारहि । तुलसि दास के प्रभुहि उदारहि ॥

सुनहु तात माया कृत, गुण अरु दोष अनेक ।
गुण इह उभय न देखि अहि, देखिय सो अविवेक ॥

जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहि तजि ध्यान ।
जे हरि कथा न करहि रत, तिन्ह के हिय पाषान ॥

कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलइ न जल बिनु नाव, कोटि यतन पचि पचि मरिय ॥
बिनु संतोष न काम नशाहीं । काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं ॥
राम भजन बिनु मिटहि कि कामा । थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा ॥
बिनु विज्ञान कि समता आवइ । कोउ अवकाश कि नभ बिनु पावइ ॥
श्रद्धा बिना धर्म नहि होई । बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा । जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
शील कि मिल बिनु बुध सेवकाई । जिमि बिनु तेज न रूप गुसाईं ॥
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा । परस कि होइ विहीन समीरा ॥
कवनिउँ सिद्धि कि बिनु विश्वासा । बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥

बिनु विश्वास भक्ति नहि, तेहि बिनु द्रवहि न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह विश्राम ॥
अस विचारि मति धीर, तजि कुतर्क संशय सकल ।
भजहु राम रघुबीर करुणाकर सुन्दर सुखद ॥
भाव वश्य भगवान, सुख निधान करुणाभवन ।
तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतारमन ॥

जप तप व्रत मख सम दम दाना । विरति विवेक योग विज्ञाना ॥

सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ प्रेमा॥

जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥

पन्नगारि अस नीति, श्रुति सम्मति सज्जन कहहि।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परम हित॥
पाट कीट तें होइ, तेहि ते पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्राण सम॥

स्वारथ साँच जीव कह एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग शरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा॥
धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥
मरुत उड़ाइ प्रथम तेहि भरई। नृप किरीट पुनि नयनन्ह परई॥
सुनु खग खगपति समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥
कवि कोविद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल सन प्रीती॥
उदासीन नित रहिय गुसाईं। खल परिहरिय श्वान की नाईं॥

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परस मणि जाके॥

पर द्रोही कि होइ निःशंका। कामी पुनि कि रहहि निकलंका॥
वंश कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहि स्वरूपहिं चीन्हे॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। शुभगति पाव कि परत्रियगामी॥
भव कि परहि परमातम बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ परनिन्दक॥
राज कि रहइ नीति बिनु जाने। अघ कि रहइ हरि चरित बखाने॥
पावन यश कि पुण्य बिनु होई। बिनु अघ अयश कि पावइ कोई॥
लाभ कि कछु हरि भक्ति समाना। जेहि गावहि श्रुति संत पुराना॥
हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि नरतनु पाई॥

अघ कि पिशुनता सम कछु आना । धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥

श्रुति सिद्धांत रहइ उरगारी । राम भजिय सब काज बिसारी॥
सोइ सर्बज्ञ सोई गुण ज्ञाता । सोइ महि मंडित पंडित दाता ॥
धर्म परायण सोइ गुण त्राता । रामचरण जाकर मन राता ॥
नीति निगुण सोइ परम सयाना । श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना ॥
सो कवि कोविद सो रण धीरा । जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ॥
धन्य सुदेश जहाँ सुरसरी । धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई । धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी । धन्य पुण्य रत मति सोइ पाकी ॥
धन्य घरी सोई जब सत्संगा । धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ॥

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत ।
श्री रघुबीर परायण, जेहि नर उपज बिनीत ॥

कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि । जो न भजइ सचराचर स्वामिहि॥
द्विज द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ । सुरपति सरिस होइ नृप तबहूँ ॥
साधक सिद्ध विमुक्त उदासी । कवि कोविद कृतज्ञ सन्यासी ॥
योगी शूर सुतापस ज्ञानी । धर्म निरत पंडित विज्ञानी ॥
तरहि न बिनु सेये मम स्वामी । राम नमामि नमामि नमामी ॥

उत्तरकाण्ड

२५–प्रार्थना और विनय

अब करि कृपा देहु बर एहू । निज पद सरसिज सहज सनेहू ॥

कर्म वचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार ।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहि, किये कोटि उपचार ॥

अर्थ न धर्म न काम रुचि , गति न चहउँ निरबान ।
जन्म जन्म रति रामपद , यह बरदान न आन ॥

प्रान प्रान के जीव के , जिव सुख के सुख राम ।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह , जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम॥

अयोध्या काण्ड

सीता अनुज समेत प्रभु , नील जलद तनु श्याम ।
मम हिय बसहु निरंतर , सगुण रूप श्री राम ॥

अनुज जानकी सहित प्रभु , चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव , बसहु सदा निःकाम ॥

यह बर माँगउँ कृपा निकेता । बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥

आरण्यकाण्ड

यदपि नाथ बहु अवगुण मोरे । सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे ॥
सेवक सुत पितु मातु भरोसे । रहइ अशोच बनइ प्रभु पोसे ॥
सुख सम्पति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥
ये सब राम भक्ति के बाधक । कहहिं संत तव पद आराधक ॥
शत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं । माया कृत परमारथ नाहीं ॥

मोहि जानि अति अभिमान वश प्रभु कहेउ राखु शरीरही ।
अस कवन शठ हठ काटि सुरतरु बारि करहि बबूरही ॥
अब नाथ करि करुणा बिलोकहु देहु यह बर माँगऊँ ।
जेहि योनि जन्मउँ कर्म वश तहँ राम पद अनुरागऊँ ।

नारि नयन शर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निशि सो जागा ॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥

किष्किंधा काण्ड

मामभिरक्षय रघुकुल नायक। धृतवर चाप रुचिर कर शायक॥
मोह महा घन पटल प्रभंजन। संशय विपिन अनल सुररंजन॥
सगुन अगुन गुन मंदिर सुन्दर। भ्रम तमप्रबल प्रताप दिवाकर॥
काम क्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरंतर जनमन कानन॥
विषय मनोरथ पुंज कंज वन। प्रबल तुषार उदार पार मन॥
भव वारिधि मंदर पर मदर। वारय तारय संसृति दुस्तर॥
श्याम गात राजीव विलोचन। दीन बंधु प्रणतारति मोचन॥
अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥
मुनि रंजन महि मंडल मंडन। तुलसिदास प्रभु त्रास विखंडन॥

उत्तर काण्ड

जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभव गम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुण यश नित गावहीं॥
करुणायतन प्रभु सद्गुणाकर देहु यह वर माँगहीं।
मन वचन कर्म विकार तजि तव चरण हम अनुरागहीं॥

वार वार वर माँगऊँ, हर्षि देहु श्री रङ्ग।
पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सत्संग॥

अशरण शरण विरद सम्भारी। मोहिं जनि तजहु भक्त हितकारी॥

मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता॥
तुम्हहिं विचारि कहहु नर नाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥
बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन जानि जन दीना॥

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुणा मय॥
जय निर्गुण जय जय गुणसागर। सुख मंदिर सुन्दर अति आगर॥
जय इन्दिरारमण जय भूधर। अनुपम अज अनादि शोभाकर॥

ज्ञान निधान अमान मान प्रद। पावन सुयश पुराण वेद वद॥
तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन॥
सर्व सर्व गत सर्व उरालय। बससिसदाहम कहँपरिपालय॥
द्वंद विपति भव फंद विभंजय। हृदि बस राम काम मद गंजय॥
परमानंद कृपायतन, मन परिपूरण काम।
प्रेम भक्ति अनपायनी, देहु हमैं श्री राम॥
देहु भक्ति रघुपति अति पावनि। त्रिविध ताप भव दाप नसावनि॥
प्रणत काम सुरधेनु कल्पतरु। होइ प्रसन्न दीजिय प्रभु यह वरु॥
भव वारिधि कुम्भज रघुनायक। सेवक सुलभ सकल सुखदायक॥
मन संभव दारुण दुख दारय। दीन बंधु समता विस्तारय॥
आस त्रास इर्षादि निवारक। विनय विवेक विरति विस्तारक॥
भूप मौलि मन मंडन धरनी। देहि भक्ति संसृति सरि तरनी॥
मुनि मन मानस हंस निरंतर। चरण कमल बंदित अज शंकर॥
रघुकुल केतु सेतु श्रुति रक्षक। काल कर्म स्वभाव गुण भक्षक॥
तारन तरन हरण सब दूषण। तुलसिदास प्रभु त्रिभुवनभूषण॥

नाथ न मोहि सँदेह कछु, सपनेहुँ शोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिही, कृपानंद संदोह॥

जननि जनक गुरुबंधु हमारे। कृपा निधान प्रान तें प्यारे॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब विधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥
अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥
हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

जप तप नियम योग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना शुभ कर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुराण अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥

तब पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥
छूटइ मल कि मलइ के धोये। घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये॥
प्रेम भक्ति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥
सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुण गृह विज्ञान अखंडित॥
दक्ष सकल लक्षण युत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥

नाथ एक वर माँगऊँ, राम कृपा करि देहु।
जन्म २ प्रभु पद कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु॥

मामवलोकय पंकज लोचन। कृपा विलोकनि शोक विमोचन॥
नील तामरस श्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि॥
यातुधान बरुथ बल भंजन। मुनि सज्जन रञ्जन अघ गंजन॥
भूसुर शश नव बृंद बलाहक। अशरण शरण दीन जन गाहक॥
भुज बल विपुल भार महि खंडित। खरदूषण विराध बध पंडित॥
रावणारि सुख रूप भूप वर। जय दशरथ कुलकुमुदसुधाकर॥
सुयश पुराण विदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम॥
कारुनीक व्यलीक मद खंडन। सबविधिकुशल कोशला मंडन॥
कलिमल मथन नाम ममताहन। तुलसिदासप्रभुपाहिप्रणत जन॥

तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा॥

भक्तिहीन गुण सब सुख कैसे। लवण बिना बहु व्यंजन जैसे॥
भजनहीन सुख कवने काजा। अस विचार बोलेउ खगराजा॥
जो प्रभु होइ प्रसन्न वर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥
मन भावत वर मागउं स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतर्यामी॥

अविरल भक्ति विशुद्ध तव, श्रुति पुराण जो गाव।
जेहि खोजत योगीशमुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भक्त कल्पतरु प्रणत हित, कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भक्ति मोहिं प्रभु देहु दया करि राम॥

जो प्रसन्न प्रभु मोपर, नाथ दीन पर नेहु ।
निज पद भक्ति देहु प्रभु, पुनि दूसर बर देहु ॥
नव माया वस जीव जड़, संतत फिरहिं भुलान ।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु, कृपा सिंधु भगवान ॥

कामहि नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुवंश निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम ॥

उत्तर काण्ड

२६—सत्य महत्ता

नहिं असत्य सम पातक पुंजा । गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥
सत्य मूल सब सुकृत सुहाये । वेद पुराण विदित मुनि गाये ॥

अयोध्या काण्ड

२७—तेजवंत की महत्ता

बोली चतुर सखी मृदु बानी । तेजवंत लघु गनिय न रानी ॥
कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा । सोखेउ सुयश सकल संसारा ॥
रवि मंडल देखत लघु लागा । उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥
मंत्र परम लघु जासु वश, विधि हरि हर सुर सर्व ।
महा मत्त गजराज कहँ, वश कर अंकुश खर्व ॥

बालकाण्ड

२८—समरथ की निर्दोषता

जो अहि सेज शयन हरि करहीं । बुध कछु तिन कर दोष न धरहीं ॥
भानु कृशानु सर्व रस खाहीं । तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं ॥
शुभ अरु अशुभ सलिल सब बहई । सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई ॥

समरथ कहँ नहि दोष गुसाईं । रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥

बालकाण्ड

२९—तप महत्व

तप बल रचइ प्रपञ्च विधाता । तप बल विष्णु सकल जग त्राता॥
तप बल शंभु करहि संहारा । तप बल शेष धरहिं महिभारा ॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी । करहु जाइ तप अस जिय जानी ॥

बालकाण्ड

३०—कर्म प्राधान्य

सुनि सशोच कह देवि सुमित्रा । विधिगतिबड़िविपरीतविचित्रा॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी । बाल केलि सम विधि मतिभोरी॥
कौशल्या कह दोष न काहू । कर्म विवश दुख सुख क्षति लाहू ॥
कठिन कर्म गति जानि विधाता । जो शुभ अशुभ सकल फलदाता॥
ईश रजाइ सीस सबही के । उतपति थिति लय विषहु अमीके॥

अयोध्या काण्ड

३१—काम प्रताप

सब के हृदय मदन अभिलाखा । लता निहारि नवहि तरु शाखा ॥
नदी उमगि अबुधि कहँ धाईं । संगम करहि तलाव तलाई ॥
जहँ अस दशा जड़न की बरणी । को कहि सकै सचेतन करणी ॥
पशु पक्षी नभ जल थल चारी । भये काम वश समय बिसारी ॥
मदन अंध व्याकुल सब लोका । निशिदिननहिंअवलोकहिंकोका॥
देव दनुज नर किन्नर व्याला । प्रेत पिशाच भूत बैताला ॥
इनकी दशा न कहेउँ बखानी । सदा काम के चेरे जानी ॥
सिद्ध विरक्त महा मुनि योगी । तेपि काम वश भये वियोगी ॥

भये काम वश योगीश तापस पामरन की को कहे ।
देखहिं चराचर नारि मय जे ब्रह्ममय देखत रहे ॥
अवला विलोकहिं पुरुष मय जग पुरुष सब अवला मयं ।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर काम कृत कौतुक अयं ॥
धरा न काहू धीर, सब के मन मनसिज हरे ।
जेहि राखेउ रघुवीर, ते उवरे तेहि काल महँ ॥

वालकाण्ड

सुरपति बसै वाहु वल जाके । नरपति रहहिं सकल रुख ताके ॥
सो मुनि तिय रिसि गयउ सुखाई । देखहु काम प्रताप वड़ाई ॥
शूल कुलिश असि अँगवनि हारे । ते रतिनाथ सुमन शर मारे ॥

अयोध्या काण्ड

३२—सुमित्र और कुमित्र

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिनहिं विलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज कै जाना । मित्रके दुख रज मेरु समाना ॥
जिन्ह के असि मति सहज न आई । ते शठ हठि कत करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुण प्रगटै अवगुणहिं दुरावा ॥
देत लेत मन शंक न धरई । वल अनुमान सदा हित करई ॥
विपति काल कर शत गुण नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुण एहा ॥
आगे कह मृदु वचन वनाई । पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जाकर चित अहिगति सम भाई । अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥
सेवक शठ नृप कृपिण कुनारी । कपटी मित्र शूल सम चारी ॥

किष्किन्धा काण्ड

३३—स्त्री धर्म

मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥

मातु पिता भ्राता हित कारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दान भर्ता वैदेही। अधम सो नारि जो सेइ न तेही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखियहि चारी॥
वृद्ध रोगवश जड़ धनहीना। अंध वधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव यमपुर दुख नाना॥
एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं। वेद पुराण संत सब कहहीं॥

उत्तम मध्यम नीच लघु, सकल कहउँ समुझाइ।
आगे सुनहि ते भव तरहि, सुनहु सीय चितलाइ॥

उत्तम के अस बस मन माही। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पतिवंचक परपति रति करई। रौरव नर्क कल्प शत परई॥
क्षण सुख लागि जन्म शत कोटी। दुखनसमुझ तेहिसमकोखोटी॥
विनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। विधवा होइ पाइ तरुणाई॥

सहज अपावनि नारि, पति सेवत शुभ गति लहइ।
यश गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥

अरण्य काण्ड

३४—स्त्रीजाति और उसका स्वभाव

सत्य कहहि कवि नारि सुभाऊ। सबविधि अगम अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिम्ब वरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥

—

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥

विधिहु न नारि हृदयगति जानी। सकलकपटअघअवगुणखानी॥
सरल सुशील धर्म रत राऊ। सो किमि जानहिं तीय सुभाऊ॥

अयोध्या काण्ड

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुप मनोहर निरखत नारी॥
होइ विकल सक मनहिं न रोकी। जिमिरविमणिद्रवरविहिंविलोकी॥

काम क्रोध लोभादि मद प्रवल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अतिदारुणदुखद, माया रूपी नारि॥
सुनु मुनि कह पुराण श्रुति संता। मोह विपिन कहँ नारि वसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय भारी। होइ ग्रीपम सोखइ सव वारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इनहिं हर्ष प्रद वर्षा एका॥
दुर्वासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ शरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह वृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहइ सुखमंदा॥
पुनि ममता जवास वहुताई। पलुहइ नारि शिशिर ऋतु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निविड़ रजनी अँधियारी॥
बुधि वल शील सत्य सव मीना। वंसी सम त्रिय कहहिं प्रवीना॥
अवगुण मूल शूल प्रद, प्रमदा सव दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारण, मुनि मैं यह जिय जानि॥

आरण्य काण्ड

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अशौच अदाया॥

लंका काण्ड

२५—वर्षा और शरद वर्णन

लछिमन [illegible]हु मोर गण, नाचत वारिद पेखि।
गृही विरति रत हर्ष जस विष्णु भक्ति कहँ देखि॥

घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमकि रहीं घन माहीं। खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं ॥
बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये ॥
बुंद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे ॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरेहि धन खल बौराई ॥
भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी ॥
सिमिटिसिमिटिजलभरहिंतलावा। जिमि सद्गुणसज्जन पहँआवा ॥
सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होहि अचलजिमिजनहरिपाई ॥

हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहि पंथ।
जिमि पाखंड विवाद तें, गुप्त होहि सद्ग्रंथ ॥

दादुर ध्वनि चहुँ दिशा सुहाई। वेद पढ़ैं जनु बटु समुदाई ॥
नव पल्लव भये विटप अनेका। साधक मन जस मिले विवेका ॥
अर्क जवास पात विनु भयऊ। जिमि सुराज खलउद्यम गयऊ ॥
खोजत कतहुँ मिलै नहि धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी ॥
ससि सपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै सम्पति जैसी ॥
निशि तम घन खद्योत विराजा। जनु दम्भिन कर मिला समाजा ॥
महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमिस्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी ॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमिबुध तजहिमोह मद माना ॥
देखियत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहिं पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥
ऊसर बरसे तृण नहि जामा। जिमि हरिजन उर उपज न कामा ॥
विविध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रिय गण उपजे ज्ञाना ॥

कबहुं प्रबल चल मारुत जहँ तहँ मेघ विलाहि।
जिमि कुपूत कुल उपजे, सम्पति धर्म नशाहि ॥
कबहुँदिवस महँनिबिड तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
उपजै विनसइ ज्ञान जिमि, पाइ सुसंग कुसंग ॥

वर्षा विगत शरद ऋतु आई । लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूले कास सकल महि छाई । जनु वर्षा कृत प्रगट वुढ़ाई ॥
उदित अगस्त पंथ जल शोषा । जिमि लोभहिं सोखै संतोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मद मोहा ॥
रस रस सूख सरित सर पानी । ममता त्यागि करहिं जिमि ज्ञानी॥
जानि शरद ऋतु खंजन आये । पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ॥
पंक न रेणु सोह अस धरणी । नीति निपुण नृप की जस करणी॥
जल संकोच विकल भये मीना । अवुध कुटुम्बी जनु धन हीना॥
बिनु घन निर्मल सोह अकाशा । हरिजन इव परिहरि सव आशा ॥
कहुँ कहुँ वृष्टि शारदी थोरी । कोउ एक पाव भक्ति जिमि मोरी॥

चले हर्षि तजि नगर नृप, तापस वणिक भिखारि ।
जिमि हरिभक्ति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा । जिमि हरि शरण न एकौ बाधा ॥
फूले कमल सोह सर कैसे । निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे ॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा । सुन्दर खग रव नाना रूपा ॥
चक्रवाक मन दुख निशि पेखी । जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी ॥
चातक रटत तृषा अति ओही । जिमि सुख लहइ न शंकर द्रोही ॥
शरदातप निशि शशि अपहरई । संत दरश जिमि पातक टरई ॥
देखि इंदु चकोर समुदाई । चितवहिं जिमि हरिजन हरिपाई॥
मशक दंश बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज द्रोह किये कुलनाशा॥

भूमि जीव संकुल रहे, गये शरद ऋतु पाय ।
सदगुरु मिले जाहिं जिमि संशय भ्रम समुदाय ॥

किष्किधाकाण्ड

२६--कतिपय अनुपम चित्र

सीता सुउक्ति

शीतल सिख दाहक भइ कैसे । चकइहिं शरद चाँदनी जैसे ॥

मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते॥
तन धन धाम धरणि पुर राजू। पति विहीन सब शोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषण भारू। यम यातना सरिस संसारू॥
प्राणनाथ तुम बिनु जग माहीं। मोकहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु वारी। तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु वदन निहारे॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंहवधुहि जिमि ससक सियारा॥
मैं सुकुमारि नाथ बन योगू। तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू॥
प्रभु करुणामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु विहाई। कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई॥

सौमित्र समालाप।

कहि न सकत कछु चितवत ठाढे। मीन दीन जनु जल ते काढे॥
सियरे वदन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥
मैं शिशु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेइ मराला॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीन बंधु उर अंतर्यामी॥
धर्म नीति उपदेशिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम वचन चरण रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥

जनक-नन्दिनी जीवनचर्य्या

छिन छिन पिय विधु वदन निहारी। प्रमुदित मनहु चकोर कुमारी॥
नाह नेह नित बढत विलोकी। हर्षित रहति दिवस जिमि कोकी॥
लोकप होहिं विलोकत जासू। तेहि कि मोह मद विषय विलासू॥

सुमिरत रामहि तजहि जन, तृण सम विषय बिलासु ।
राम प्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरज तासु ॥

अयोध्याकाण्ड

३७—कतिपय हृदयविदारक दृश्य

सतप्त सुमन्त और प्राण कंठगत दशरथ ।

विप्र विवेकी वेद विद, सम्मत साधु सुजाति ।
जिमि धोखे मद पान करि, सचिव सोच तेहि भाँति ॥

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी । पति देवता कर्म मन बानी ॥
रहै कर्म वश परिहरि नाहू । सचिव हृदय तिमि दारुण दाहू ॥
विवरण भयउ न जाइ निहारी । मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥
हानि गलानि विपुल मन व्यापी । यमपुर पंथ सोच जनु पापी ॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई । जनु मारेसि गुरु बाम्हन गाई ॥
नगर नारि नर व्याकुल कैसे । निघटत नीर मीन गन जैसे ॥
जाइ सुमंत दीख कस राजा । अमिय रहित जनु चंद विराजा ॥
लेइ उसाँस सोच यहि भाँती । सुर पुर तें जनु खसेउ ययाती ॥
लेत सोच भरि छिन २ छाती । जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥
जन्म मरण सब दुख सुख भोगा । हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा ॥
काल कर्म वश होहि गुसाईं । बरबस राति दिवस की नाईं ॥
सुख हर्षहि दुख जड़ बिलखाहीं । दोउ सम धीर धरहि मन माहीं ॥
धीरज धरहु विवेक विचारी । छाँड़िय सोच सकल हितकारी ॥
तलफत विषम मोह मन मापा । माजा मनहुँ मीन कहँ व्यापा ॥
सुनि विलाप दुखहू दुख लागा । धीरज हू कर धीरज भागा ॥
प्राण कंठ गत भयउ भुवालू । मणि विहीन जनु व्याकुल व्यालू ॥
इन्द्रिय सकल विकल भइँ भारी । जनु सर सरसिज बन बिनु बारी ॥

कर्णधार तुम अवध जहाजू । चढ़ेउ सकल प्रिय पथिकसमाजू ॥
धीरज धरिय तो पाइय पारू । नाहिंत बूड़िहि सब परिवारू ॥
प्रिया बचन मृदु सुनत नृप, चितयउ आँखि उघारि ।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचेउ शीतल बारि ॥

भरत की मर्म्म पीड़ा

भरत दुखित परिवार निहारा । मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥
कैकेयी हर्षित यहि भाँती । मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू । पाके छत जनु लाग अँगारू ॥
पेड़ काटि तैं पल्लव सींचा । मीन जियन हित बारि उलीचा ॥
हंस बंस दशरथ जनक, राम लखन से भाइ ।
जननी तू जननी भई, विधि से कछु न बसाइ ॥

अयो० का० २१०

३८—कौशल्या देवी और महात्मा भरत

मलिन बसन बिबरण बिकल, कृश शरीर दुख भार ।
कनक कलप बर बेलि बन, मानहुँ हनित तुषार ॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू । कुसमय समय शोक परिहरहू ॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी । काल कर्म गति अघटित जानी ॥
काहुहि दोष देहु जनि ताता । भा मोहि सब विधि बाम विधाता ॥
जौं एतेउ दुख मोहि जिआवा । अजहुँ को जानै का तेहि भावा ॥

जे अघ मातु पिता गुरु मारे । गाइ गोठ महि सुरपुर जारे ॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें । मीत महीपति माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहहीं । कर्म बचन मन भव कवि कहहीं ॥
ते पातक मोहिं देहु विधाता । जौं यह होय मोर मत माता ॥

जे परिहरि हरि हर चरण, भजहिं भूत गण घोर ।
तिन्हकर गति मोहिं देहु विधि, जौं जननी मत मोर ॥
बेचहिं वेद धर्म दुहि लेहीं । पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी । वेद विदूषक विश्व विरोधी ॥
लोभी लंपट लोलुप चारा । जे ताकहि पर धन पर दारा ॥
पावउँ मै तिन्ह कै गति घोरा । जौं जननी यह सम्मत मोरा ॥
जे नहिं साधु संग अनुरागे । परमारथ पथ विमुख अभागे ॥
जे न भजहिं हरि नर तनु पाई । जिन्हहि न हरि हर सुयश सुहाई ॥
तजि श्रुतिपथ वाम पथ चलहीं । वंचक विरचि वेष जग छलहीं ॥
तिन्ह कइ गति मोहिं शंकर देऊ । जननी जौं यहि जानउँ भेऊ ॥

अयोध्याकाण्ड

२९–वसिष्ठ देव और सत्यव्रत भरत

विधु विष चुवइ स्रवइ हिम आगी । होइ वारिचर वारि विरागी ॥
भये ज्ञान वरु मिटइ न मोहू । तुम रामहि प्रतिकूल न होहू ॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं । सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं ॥
सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनि नाथ ॥
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ॥
अस विचारि केहि देइय दोषू । व्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू ॥
तात विचारि करहु मन माहीं । शोच योग दशरथ नृप नाहीं ॥
सोचिय विप्र जो वेद विहीना । तजि निज धर्म विषय लयलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्राण समाना ॥
सोचिय वैश्य कृपिण धनवानू । जो न अतिथि शिव भक्ति सुजानू ॥
सोचिय शूद्र विप्र अपमानी । मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी ॥
सोचिय पुनि पतिवंचक नारी । कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिय वटु निज व्रत परिहरई । जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥

सोचिय गृही जो मोह बश, करइ कर्म पथ त्याग।
सोचिय यती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग॥

बैखानस सोइ सोचन योगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू॥
सोचिय पिशुन अकारण क्रोधी। जननि जनक गुरु बंधु बिरोधी॥
सब विधि सोचिय पर अपकारी। निज तनु पोषक निर्दय भारी॥
सोचनीय सब ही बिधि सोई। जो न छाँडि छल हरिजन होई॥
सोचनीय नहिं कोशल राऊ। भुअन चारि दश प्रगट प्रभाऊ॥

अयोध्या काण्ड

४०—वीर लक्ष्मण धीर रघुवंश मणि

बिषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बश होहि जनाई॥
तेऊ आज राज पद पाई। चले धर्म मर्याद मिटाई॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आये करन अकंटक राजू॥
भरतहि दोष देइ को जाये। जग बउराइ राजपद पाये॥

शशि गुरु तिय गामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर जान।
लोक बेद ते बिमुख भा, अधम को बेणु समान॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिशंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे॥

छत्रि जाति रघुकुल जनम, राम अनुज जग जान।
लातहु मारे चढ़त शिर, नीच को धूरि समान॥

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करहुँ रिसि पाछिल आजू॥
जिमि करि निकर दलै मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब ते कठिन राजमद भाई॥

भरतहिं होहि न राजमद, विधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि, क्षीरसिन्धु विनसाइ ॥
तिमिर तरुण तरनिहिं सक गिलई । गगन मगन मकु मेघहिं मिलई ॥
गोपद जल बूड़हिं घट योनी । सहज क्षमा बरु छाँड़इ क्षोनी ॥
मशक फूँक बरु मेरु उड़ाई । होइ न नृपमद भरतहि भाई ॥

अयोध्या काण्ड

४१—विनयावनत निषाद

यह जिय जानि सकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु ।
हमहि कृतारथ करन लगि, फल तृण अंकुर लेहु ॥
तुम प्रिय पाहुन बन पगु धारे । सेवा योग न भाग हमारे ॥
देव काह हम तुम्हहिं गुसाईं । ईंधन पात किरात मिताई ॥
यह हमार अति बड़ि सेवकाई । लेहि न बासन बसन चुराई ॥
हम जड़ जीव जीव गण घाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥
पाप करत निशि बासर जाहीं । नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥

अयोध्याकाण्ड

४२—विभीषण की अभिलाषा

देखिहउँ जाइ चरण जलजाता । अरुण मृदुल सेवक सुखदाता ॥
जे पद परसि तरी ऋषि नारी । दंडक कानन पावन कारी ॥
जे पद जनक सुता उर लाये । कपट कुरंग संग धरि धाये ॥
हर उर सर सरोज पद जेई । अहो भाग्य मैं देखिहौं तेई ॥
जिन्ह पायन के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाय ।
ते पद आज बिलोकिहौं, इन नयनन अब जाय ॥

सुन्दर काण्ड

४३—अंगद की निर्भीकता

प्रभु आज्ञा धरि सीस, चरण वंदि अंगद कहेउ।
सोइ गुणसागर ईश, राम कृपा जापर करहु॥

यथा मत्त गज यूथ महँ, पंचानन चलि जाइ।
राम प्रताप सम्हारि उर, बैठ सभा शिर नाइ॥

सुनु शठ भेद होइ मन ताके। श्री रघुवीर हृदय नहिं जाके॥

प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति अस आहि।
जौं मृगपति वध मेडुकन्हि, भल कि कहइ कोउ ताहि॥

वार वार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि यश वधे शृगाला॥
जौं असि करौं तदपि न वड़ाई। मुयेहि वधे कछु नहिं मनुसाई॥
अस विचारि खल वधौं न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥

मरु गल काटि निलज कुल घाती। वल विलोकि विहरति नहिं छाती॥

रे त्रिय चोर कुमारग गामी। खल मल राशि मंद मति कामी॥
सन्निपात जल्पेसि दुर्वादा। भयेसि काल वश शठ मनुयादा॥

भूमि न छाड़त कपि चरण, देखत रिपु मद भाग।
कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥

लंकाकाण्ड

४४—अनुपम उपमायें और अपूर्व दृष्टांत

हठ परा न सुनइ सिखावा। चहत वारि पर भीति उठावा॥
... कहा सत्य सोइ जाना। विनु पंखन हम चहहिं उड़ाना॥

अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥

लता भवन ते प्रगट भये, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु युग विमल विधु, जलद पटल बिलगाइ॥

जन्म सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन, सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक॥

अरुण उदय सकुचे कुमुद, उड़गण ज्योति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बल हीन॥

डगै न शम्भु शरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे॥

सब नृप भये योग उपहाँसी। जैसे बिनु बिराग सन्यासी॥

सो धनु राजकुँवर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं॥

विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरिस सुमन कन बेधिहिं हीरा॥

प्रभुहिं चितइ पुनि चितइ महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन युग, जनु विधु मंडल डोल॥

लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपिण कर सोना॥

सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड लघु व्यालहिं जैसे॥

सखिन्ह सहित हर्षी सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥
जनक लहेउ सुख सोच विहाई। पैरत थके थाह जनु पाई॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छवि छूटे॥
सीय सुखहिं बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती।

रामहिं लषण विलोकत कैसे । शशिहिं चकोर किशोरक जैसे ॥

वैनतेय बलि जिमि चह कागू । जिमि सस चहइ नाग अरि भागू ॥
जिमि चह कुशल अकारन कोही । सब सम्पदा चहै शिव द्रोही ॥
लोभी लोलुप कीरति चहई । अकलंकता कि कामी लहई ॥
हरिपद विमुख परम गति चाहा । तस तुम्हार लालच नर नाहा ॥

मन मलीन तन सुन्दर कैसे । विष रस भरा कनक घट जैसे ॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके । शशिहि भूष अहि लोभ अमीके ॥

मरन शील जिमि पाव पियूषा । सुरतरु लहइ जन्म कर भूखा ॥

पाव नारकी हरिपद जैसे । इन कर दर्शन हम कहँ तैसे ॥

सुन्दरि वधुन्ह सासु लेइ सोई । फनि कन्ह जनु शिरमनि उरगोई ॥

तिन्ह कहँ कहिय नाथ किमि चीन्हे । देखिय रवि कि दीप कर लीन्हे ॥

जिमि सरिता सागर महँ जाहीं । यद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख सम्पति विनहिं बुलाये । धर्म शील पहँ जाहिं सुहाये ॥

शिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर सम्पुट किये ।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजुलि दिये ॥

.. गवन सुनि सब विलखाने । मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥
५ धूम नभ मेचक भयऊ । सावन घन घमंड जनु ठयऊ ॥
.त० सुमन माल सुर वर्षहिं । मनहुँ बलाक अवलि मन कर्षहिं ॥
.तु० मनि मय वंदनवारे । मनहुँ पाक रिपु चाप सँवारे ॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन पर भामिनि । चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ॥

दुंदुभि धुनि घन गर्जनि घोरा। याचक चातक दादुर मोरा॥

पावा परम तत्व जनु योगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥
जन्म रंक जनु पारस पावा। अंधहिं लोचन लाभ सुहावा॥

मूक बदन जस शारद छाई। मानहुँ समर शूर जय पाई॥

सो मैं कहउँ कवन विधि वरनी। भूमि नाग सिर धरइ कि धरनी॥

सूख हाड़ लेइ भाग शठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जानि जिय, तिमि सुरपतिहिं न लाज॥

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥
नृपहिं मोद सुनि सचिव सुभाषा। बढ़त बौंड़ जनु लहइ सुसाखा॥

गरहिं बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥

तेहि अवसर मंगल परम, सुनि बिहँसेउ रनिवास।
शोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचि बिलास॥

दर्प हृदय दशरथ पुर आई। जनु ग्रह दशा दुसह दुखदाई॥

देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। शबरी गान मृगी जनु मोही॥

[illegible] तौलि [illegible] पढ़ाइ कुपाठू। जिमि न नवइ फिरइ उकठ कुकाठू॥

[illegible] धर्म निज लागि कुचाली। [illegible]॥

लखइ न रानि निकट दुख कैसे । चरइ हरित तृण बलि पशु जैसे ॥

सुनति बात मृदु अत कठोरी । देति मनहुँ मधु माहुर घोरी ॥

दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू । जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू ॥

ऐसेउ पीर बिहँसि तेहि गोई । चोर नारि जिमि प्रगट न रोई ॥

सुनि मृदु वचन भूप हिय शोकू । शशिकर छुवत विकल जिमि कोकू ॥

गयउ सहमि नहि कछु कहि आवा । जनु सचान वन झपटेउ लावा ॥
विवरन भयउ निपट नरपालू । दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू ॥
माथे हाथ मूँद दोउ लोचन । तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥
मोर मनोरथ सुरतरु फूला । फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥

कवने अवसर का भयउ, गयउ रानि विश्वास ।
योगसिद्धि फल समय जिमि, यतिहि अविद्या नास ॥

अति कटु वचन कहति कैकेयी । मानहुँ लोन जरे पर देई ॥

आगे दीखि जरति रिसि भारी । मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥

सुनि मृदु वचन कुमति अति जरई । मनहुँ अनल आहुति घृत परई ॥

...० सूख मुख आव न बानी । जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥

...म राम रटि विकल भुआलू । जिमि बिनु पंख विहंग बेहालू ॥
... कठोर पनु धरे शरीरू । सिखइ धनुष विद्यावर वीरू ॥
...६ अरँडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमिय लेहिं विषमाँगी ॥

सहज सरल रघुवर वचन, कुटिल कुमति कर जान ॥
चलइ जौंक जिमि वक्र गति, यद्यपि सलिल समान ॥

लागहिं कुमुखि वचन शुभ कैसे । मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥

रामहिं मातु वचन सब भाये । जिमि सुरसरिगतसलिलसुहाये॥

लिये सनेह विकल उर लाई । गइ मनि मनहुँ फनिक फिर पाई॥

अस मन गुनइ राउ नहिं बोला । पीपर पात सरिस मन डोला ॥

नगर व्यापि गइ बात सुतीछी । छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी ॥

सुनि भये बिकल सकल नर नारी । वेलि विटप जिमि देखि दवारी ॥
एहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ । छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा । डारि सुधा विष चाहति चीखा॥
पालव बैठि पेड़ एइ काटा । सुख महँ शोक ठाट धरि ठाटा ॥

सहमि सूखि सुनि शीतल बानी । जिमि जवास पर पावस पानी ॥
कहि न जाइ कछु हृदय विषादू । मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू ॥
नयन सजल तनु थर थर काँपी । माँजहि खाइ मीन जनु माँपी ॥
धर्म सनेह उभय मति घेरी । भइ गति साँप छछूँदरि केरी ॥

सुरसरि सुभग वनज वन चारी । डावरि योग कि हंस कुमारी ॥

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जिअइ कि लवण पयोधि मराली ।

हर्षित हृदय मातु पहँ आये । मनहुँ अंध फिर लोचन पाये ।

गई सहमि सुनि [illegible] ोरा । मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा ।

मातु चरण शिर नाइ, चले तुरत संकित हृदय।
बागुर विषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भाग वस॥

नन कृस मन दुख वदन मलीने। विकल मनहुँ माखी मधु छीने॥

कर मीजहिं शिर धुनि पछिताहीं। जनु विनु पंख विहँग अकुलाहीं॥

सिख शीतल हित मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
शरद चंद चंदिनि लगत, जनु चकई अकुलानि॥

मनहुँ वारि नद बूड़ि जहाजू। भयउ विकल बड़ वनिक समाजू॥

राम दरस हित नेम व्रत, लगे करन नर नारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल, दीन विहीन तमारि॥

नतरु निपट अवलम्ब विहीना। मैं न जिअब जिमि जल विनु मीना॥

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक उर पारस पावा॥

मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ॥

बरनि न जाइ दशा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥

भईं मुदित सब ग्राम वधूटी। रंकन्ह राय राशि जनु लूटी॥

मधुर वचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥

मिटा मोद मन भये मलीने। विधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥

उभय वीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव विच माया जैसी॥
बहुरि कहउँ छवि जसि मन वसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥

उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही । जनु बुध विधु बिच रोहिनि सोही॥

यह सुधि कोल किरातन पाये । हर्षे जनु निज निधि घर आये ॥

कंद मूल फल भरि भरि दोना । चले रंक जनु लूटन सोना ॥

वेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभू करुना ऐन ।
बचन किरातन्हके सुनत, जिमि पितु बालक बैन ॥

महिमा कहिय कौन बिधि तासू । सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥
कहि न सकहिं सुखमा जस कानन । जौं शत सहस होहिं सहसानन ॥
सो मैं बरनि कहौं बिधि केही । डाबर कमठ कि मंदर लेही ॥

सेवहिं लषण सीय रघुबीरहिं । जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं ॥
राम लषन सीता सहित, सोहत परम निकेत ।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत ॥
जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे । पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥

राजिबिरह गति कहिकिमिजाती।बिनुमणियिकलफणिकजेहिभाँती॥
मींजि हाथ शिर धुनि पछिताई । मनहु कृपिण धन राशि गँवाई ॥
बिरद बाँधि बर बीर कहाई । चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥

रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे । गरहिं गात जिमि आतप ओरे ॥

सचिव आगमन सुनत सब, बिकल भयउ रनिवासु ।
भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत निवासु ॥

कौशल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनिवासु ।
ब्याकुल बिलपत राज गृह, मानहुँ शोक निवासु ॥

लोग बियोग विषम विष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥

भा सबके मन मोद न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा॥

तात गलानि करहु जिय जाये। डरहु दरिद्रहि पारस पाये॥

का आचरज भरत अस करहीं। नहि बिष बेलि अमिय फल फरहीं॥

झलका झलकत पायन कैसे। पंकज कोस ओस कण जैसे॥

राम वास वन सम्पति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥

राम शैल शोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम।
तापस तप फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम॥

मानहुँ तिमिर अरुन मय रासी। बिरची विधि सकेलि सुखमासी॥

हर्षहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारस पायउ रंका॥
करत प्रवेश मिटेउ दुख दावा। जनु योगिहिं परमारथ पावा॥
बलकल वसन जटिल तनु श्यामा। जनु मुनि वेष कीन्ह रति कामा॥

लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुनन्द।
ज्ञान सभा जनु तन धरे, भक्ति सच्चिदानन्द॥

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

बंधु सनेह सरस एहि ओरा। इत साहिब सेवा वर जोरा॥

रहे राखि सेवा पर भारू। चढी जंग जनु खैंच खेलारू॥

सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती । वाजु सुराग कि गाँडर ताँती ॥

यह वड़ि वात राम कै नाहीं । जिमि वट कोटि एक रवि छाहीं ॥

देखी राम दुखित महतारी । जनु सुवेलि अवली हिम मारी ॥

तेहि अवसर कर हर्ष विषादू । किमि कवि कहइ मूक जिमि स्वादू ॥

परी वधिक वस मनहुँ मराली । काह कीन्ह करतार कुचाली ॥

राम वचन सुनि सभय समाजू । जनु जलनिधि महँ विकल जहाजू ॥

हमहिं अगम अति दरश तुम्हारा । जस मरु धरणि देव धुनि धारा ॥

विहरहिं वन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब ।
जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम ॥

निशि न नींद नहिं भूख दिन, भरत विकल शुठि शोच ।
नीच कीच विच मगन जस । मीनहिं सलिल सँकोच ॥

और करइ को भरत वड़ाई । सरसि सीपि किमि सिंधु समाई ॥

शोक मगन सब सभा खँभारू । मनहुँ कमल वन परेउ तुषारू ॥

रानि कुचालि सुनत नरपालहिं । सूझ न कछु जस मणि विनु व्यालहिं ॥

कहत शारदहु कर मति हीचे । सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥

अगम सर्वहिं वरनत वर वरणी । जिमि जलहीन मीनगण धरणी ॥

भरत हृदय सिय राम निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥

हाहिं कुठाय सुबंधु सुहाये । ओड़िय हाथ असनि के घाये ॥

मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू । भा जनु गूँगहि गिरा प्रसादू ॥

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

रमा विलास राम अनुरागी । तजत वमन जिमि जन बड भागी ॥

तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा । चोरहिं चाँदनि रात न भावा ॥

कुमतिहि कस कुवेपिता फावी । अन अहिवात सूच जनु भावी ॥

जिये मीन वरु वारि विहीना । मणिबिनु फणिकजिअइ दुखदीना ॥

नव रसाल वन विहरण शीला । सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥

गहि पद लगे सुमित्रा अंका । जनु भेटिय सम्पति अति रंका ॥

राम कृपाल निषाद निवाजा । परिजन परिजहि चहज म राजा ॥

कीन्ह मातु मिस काल कुचाली । ईति भीति जस ताकत शाली ॥

सो मति मोहिं कहत करु भोरी । चाँदिनि कर कि चंद कर चोरी ॥

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर ।
भगति ज्ञान बैराग जनु, सोहत धरे शरीर ॥

सोह शैल गिरिजा गृह आये । जिमि जन राम भक्ति के पाये ॥

अयोध्याकाण्ड

मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा। पुलक शरीर पनस फल जैसा॥

मुनि अकुलाइ उठा पुनि कैसे। विकल हीन मनि फनिवर जैसे॥

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेटि तमाला॥

नाक कान बिनु भइ विकरारा। जनु स्रव शैल गेरु कै धारा॥

धाये निश्चर बरन बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल गिरि यूथा॥

आइ गये बगमेल, धरहु धरहु धावत सुभट।
यथा विलोकि अकेल, बाल रबिहिं घेरत दनुज॥

विपति मोर को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा॥

अधम निशाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेच्छ वश कपिला गाई॥

धावा क्रोधवन्त खग कैसे। छूटै पवि पर्वत कहँ जैसे॥

करत विलाप जात नभ सीता। व्याध विवश जनु मृगी सभीता॥

जहँ तहँ पियहि विविध मृग नीरा। जनु उदार गृह याचक भीरा॥

पुरइनि सघन ओट जल, वेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुण ब्रह्म॥
सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं।
यथा धर्म शीलन्हि के, दिन सुख संयुत जाहिं॥
फल भर नम्र विटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ॥

आरण्यकाण्ड

देखि प्रताप न कपि मन शंका । जिम अहिगनमहँ गरुड अशंका ॥

सुन्दरकाण्ड

जिमि हरि वधुहिं क्षुद्र सस चाहा । भयेसि कालवश निशिचर नाहा ॥

अबहीं ते उर संशय होई । बेणु मूल सुत भयउ घमोई ॥

हित मत तोहि न लागत कैसे । काल विवश कहँ भेषज जैसे ॥

अंगद दीख दशानन बैसा । सहित प्राण कज्जल गिरि जैसा ॥

भुजा विटप शिर सृंग समाना । रोमावली लता जनु नाना ॥

मुख नासिका नयन अरु काना । गिरि कंदरा खोह अनुमाना ॥

भयउ तेज हत श्री सब गई । मध्य दिवस जिमि शशि सोहई ॥

सिंहासन बैठेउ शिर नाई । मानहुँ सम्पति सकल गँवाई ॥

उमा रावनहिं अस अभिमाना । जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना ॥

लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे । मथहिं सिंधु दोउ मंदर जैसे ॥

प्राविट शरद पयोद घनेरे । लरन मनहुँ मारुत के प्रेरे ॥

भयउ प्रकाश कतहुँ तम नाहीं । ज्ञान उदय जिमि संशय जाहीं ॥

सुभट मो छाडइ लागा । जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा ॥

देखि पवनसुत कटक विहाला । क्रोधवंत जनु धायउ काला ॥

जिमि कोउ करइ गरुड से खेला । डरपावइ गहि स्वल्प सँपेला ॥

एक बाण काटी सब माया । जिमिदिनकरहर तिमिरनिकाया॥

रुधिर गाड़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ ।
जिमि अँगार राशीन्ह पर, मृतक धूम रह छाइ ॥

घायल बीर विराजहिं कैसे । कुसुमित किंशुकि के तरु जैसे ॥

यथा पंख बिनु खगपति दीना । मणिबिनुफणि करिवर करहीना॥
अस मम जिवन बंधु बिन तोही । जौं जड़ दैव जिआवइ मोही ॥

मुरेउ न मन तन टरेउ न टारे । जिमि गज अर्क फलनि के मारे ॥

कुम्भकरण रण रंग विरुद्धा । सन्मुख चला काल जनु क्रुद्धा ॥
कोटि कोटि कपि धरि २ खाई । जनु टीड़ी गिरि गुहा समाई ॥
रण मद मत्त निशाचर दरपा । विश्वग्रसिहिजनुएहिविधिअरपा॥
सत्यसंध छाडे शर लच्छा । काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥

तनमहँ प्रविशि निसरि शर जाहीं । जनु दामिनि घन माँझसमाहीं ॥
शोणित स्रवत सोह तनु कारे । जनु कज्जल गिरि गेरु पनारे ॥
भागे भालु वलीमुख यूथा । वृक विलोकि जनु मेष वरूथा ॥
काटे भुजा सोह खल कैसा । पच्छहीन मंदर गिरि जैसा ॥
उग्र विलोकिन प्रभुहिं विलोका । मानहुँ ग्रसन चहत त्रैलोका ॥

शरनि भरा मुख सन्मुख धावा । काल त्रोन सजीव जनु आवा ॥

राम कृपा कपि दल बल बाढ़ा । जिमि तृणपाइलागि अतिडाढ़ा ॥
गर्जहिं निश्चर दिन अरु राती । निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥
रहे दसहुँ दिशि सायक छाई । मानहुँ मघा मेघ झरिलाई ॥
लोह फुहारनि सोहहिं कैसे । मेरु के शृंगनि जनु घन बैसे ॥

सो शिर परेउ दशानन आगे । विकलभयउजिमिफनिमनित्यागे॥

जाहिं कहाँ जये व्याकुल बंदर । सुरपति बंदि परे जनु मन्दर ॥

चले वीर सश अतुलित बली । जनु कज्जल कैं आँधी चली ॥

चले मत्त गज जूथ घनेरे । प्राविट जलद मरुत के प्रेरे ॥

पनव निशान घोर रव बाजहिं । महा प्रलय के घन जनु गाजहि ॥

शत शत शर मारे दस भाला । गिरिशृंगन्हिजनुप्रविसहि व्याला॥
प्रभु सन्मुख धावे खल कैसे । सलभ समूह अनल कहं जैसे ॥
बहु कृपाण तरवारि चमंकहि । जनु दस दिशि दामिनी दमंकहिं॥

निफल होइ रावण शर कैसे । स्वप्न के सकल मनोरथ जैसे ॥

विफल होहि सब उद्यम ताके । जिमि परद्रोह निरत मनसाके ॥

रहे छाइ नभ शिर अरु बाहु । मानहु अमित केतु अरु राहु ॥

जिमिजिमिप्रभुहरता सुशिर, तिमि तिमि होहि अपार ।
सेवत विषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार ॥

सोहहि नभ छल बल बहु करहीं । कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं ॥

प्रभु क्षण महँ माया सब काटी । जिमि रवि उगे जाहिं तम फाटी॥

तब रघुपति लंकेश के, शीश भुजा शर चाप ।
काटे भये बहुत बढे, जिमि तीरथ कर पाप ॥

तेहि मध्य कौशल राज सुन्दर श्याम तन शोभा लही ।
जनु इन्द्र धनुष अनेक की वर वारि तुंग तमालही ॥

ताके गुन गन कछु कहे, जड़मति तुलसीदास ।
निज पौरुष अनुसार जिमि, मसक उड़ाहिं अकास ॥

काटत बढ़हि सीस समुदाई । जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥

शिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं ।
जनु नील गिरि पर तड़ित पटल समेत उड्गण भ्राजहीं ॥
भुज दंड सरकोदंड फेरत रुधिर कनतन अति बने ।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठी विपुल सुख आपने ॥

सुनि प्रभु वचन लाज हम मरहीं । मसक कबहुँ खगपति हित करहीं ॥

राजत राम सहित भामिनी । मेरु शृंग जनु घन दामिनी ॥

लङ्काकाण्ड

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी ।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुवन धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहँ जाति नहिं उपमा कही ।
जनु प्रेम अरु शृंगार तनु धरि मिले वर सुखमा लही ॥

कौशल्यादि मातु सब धाई । निरखि वच्छ जनु धेनु लवाई ॥

जनु धेनु बालक वच्छ तजि गृह चरन बन परवश गईं ।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं ॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटी वचन मृदु बहु बिधि कहे ।
गइ विषम विपति बियोग भव तिन्हँ हर्ष सुख अगणित लहे ॥

नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुपति विरह दिनेश।
अस्त भये विगसित भई, निरखि राम राकेश॥

जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥

उत्तरकाण्ड

४५—कलि कौतुक।

वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन॥
मारग सोइ जाकहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहहि सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुणवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी वैरागी॥
जाके नख अरु जटा विशाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलि काला॥

अशुभ वेष भूषण धरे, भक्षा भक्ष जे खाहिं।
तेइ योगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं॥
जे अपकारी चार, तिन्ह कर गौरव मान बहु।
मन क्रम वचन लबार, ते वक्ता कलिकाल महँ॥

नारि विवश नर सकल गुसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥
शूद्र द्विजन्ह उपदेशहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। वेद विप्र गुरु संत विरोधी॥
गुण मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनीं विभूषण हीना। विधवन्ह के शृंगार नवीना॥
गुरु शिष बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनहिं एक नहिं देखा॥
हरइ शिष्य धन शोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई॥

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥

ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागे लोभ बश, करहिं विप्र गुरु घात॥
वादहिं शूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो विप्र वर, आँखि देखावहिं डाँटि॥

पर तिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेद वादी ज्ञानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलियुग कर॥
आप गये अरु औरहिं घालहिं। जो कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं॥
कल्प कल्प भरि एक एक नर्का। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तर्का॥
जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा। श्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥
ते विप्रन्ह सन पाँव पुजावहिं। अभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
विप्र निरक्षर लोलुप कामी। निराचार शठ वृषली स्वामी॥
शूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न वरणि अनीति अपारा॥

भये वर्णसंकर सकल, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहि दुख, भय रुज शोक वियोग॥
श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुत विरति विवेक।
तेहि न चलहि नर मोह वश, कल्पहिं पंथ अनेक॥

बहु दाम सँवारहिं धाम यती। विषया हरि लीन गई विरती॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥
कुलवंत निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
सुत मानहिं मातु पिता तबलौं। अबला नहिं डीठ परी जबलौं॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुम्ब भये तब तें॥
नृप पाप परायण धर्म नहीं। करि दंड बिडम्ब प्रजा नितहीं॥
[illegible]। द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥

नहिं मान पुराणन्ह वेदहिं जो । हरि सेवक संत सही कलि सो ॥
कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी । गुण दूषण व्रात न कोपि गुनी ॥
कलि वारहिं वार दुकाल परै । विनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥

सुनु खगेश कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड ।
मान मोह मारादि मद, व्यापि रहे ब्रह्मंड ॥
तामस धर्म करहिं सब, जप तप मख व्रत दान ।
देव न वर्षहिं धरणि पर, वये न जामहिं धान ॥

अवला कच भूषण भूरि छुधा । धन हीन दुखी ममता बहुधा ॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता । मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं । अभिमान विरोध अकारन हीं ॥
लघु जीवन सम्वत पंच दसा । कल्पांत न नाश गुमान असा ॥
कलि काल विहाल किये मनुजा । नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥
नहिं तोष विचार न शीतलता । सब जाति कुजाति भये मँगता ॥
ईर्षा परुषा छल लोलुपता । भरि पूरि रही समता विगता ॥
सब लोग वियोग विशोक हये । वर्णाश्रम धर्म विचार गये ॥
दम दान दया नहिं ज्ञान पनी । जड़ता पर वंचन नात घनी ॥
तन पोषक नारि नरा सगरे । पर निन्दक ते जग मों वगरे ॥

उत्तरकाण्ड

४६—कलिधर्म

सुनु व्यालारि कराल कलि, मल औगुण आगार ।
गुणौ बहुत कलियुग कर, विनु प्रयास निस्तार ॥
कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु, योग ।
जो गति होइ सो कलिहि हरि, नाम तें पावहिं लोग ।

कृत युग सब योगी विज्ञानी, करि हरि ध्यान तरहिं भवप्रानी ॥
त्रेता बिबिध यज्ञ नर करहीं । प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं ॥

द्वापर करि रघुपति पद पूजा । नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥
कलियुग केवल हरि गुण गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥
कलियुग योग न यज्ञ न ज्ञाना । एक अधार राम गुण गाना ॥
सब भरोसतजि जो भज रामहिं । प्रेम समेत पाव गुण ग्रामहिं ॥
सोइ भव तर कछु संशय नाहीं । नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा । मानस पुण्य होइ नहिं पापा ॥

कलियुग सम युग आन नहिं , जो नर कर विश्वास ।
गाइ राम गुण गण विमल , भव तर विनहिं प्रयास ॥
प्रगट चारि पद धर्म के , कलि महँ एक प्रधान ।
येन केन विधि दीन्हे , दान करइ कल्यान ॥

एहि कलिकाल न साधन दूजा । योग यज्ञ जप तप व्रत पूजा ॥
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं । संतत सुनिय रामगुण ग्रामहिं ॥
जासु पतित पावन वर बाना । गावहिं कवि श्रुति संत पुराना ॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई । राम भजे गति के नहिं पाई ॥

उत्तरकाण्ड

४७—पवित्र प्रश्नोत्तर

प्रथमहिं कहहु नाथ मतिधीरा । सब तें दुर्लभ कवन शरीरा ॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी । सोउ संक्षेपहिं कहहु विचारी ॥
संत असंत मरम तुम्ह जानहु । तिन्ह करसहजस्वभावबखानहु ॥
कवन पुण्यश्रुतिविदित विशाला । कहहु कवन अघ परमकृपाला ॥
मानस रोग कहहु समुझाई । तुम सर्वज्ञ कृपा अधिकाई ॥
तात सुनहु सादर अति प्रीती । मैं संक्षेप कहउँ यह नीती ॥
नर तन सम नहिं कवनिउँ देही । जाव चराचर याचत जेही ॥
नर्क स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी ॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर । होहिं विषय रत मंद मंद तर ॥

काँच किरिच बदले जिमि लेही। कर ते डारि परस मणि देही ॥
नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख कहुँ नाहीं॥
पर उपकार वचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया ॥
संत सहहि दुख परहित लागी। पर दुख हेत असंत अभागी ॥

भूरज तरु सम संत कृपाला। परहित नित सह विपति विशाला॥
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई ॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥
पर सम्पदा विनाशि नशाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥

दुष्ट हृदय जग आरत हेतू। यथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू ॥
संत उदय संतत सुखकारी। विश्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥
परम धर्म श्रुति विदित अहीशा। पर निन्दा सम अघ न गिरीशा ॥
हरि गुरु निन्दक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तन सोई ॥

द्विज निन्दक बहु नर्क भोग करि। जग जनमइ वायस शरीर धरि॥
सुर श्रुति निन्दक जे अभिमानी। रौरव नर्क परइँ ते प्रानी ॥
होंहिं उलूक संत निन्दा रत। मोह निशा प्रिय ज्ञान भानु मत॥
सब कै निन्दा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥
सुनहु तात अब मानस रोगा। जेहि ते दुख पावहिं सब लोगा॥

मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि तें पुनि उपजइ बहु शूला ॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउँ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई ॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब शूल नाम को जाना ॥
ममता दादु कंडु इर्षाई। हर्ष विषाद गरह बहुताई ॥

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नहरुआ ॥
तृष्णा उदर वृद्धि अति भारी। त्रिविध इषना तरुन तिजारी ॥
जुगविधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥

एक व्याधि वश नर मरहिं, ए असाध्य बहु व्याधि ।
पीड़हि संतत जीव कहँ, सो किमि लहइ समाधि ॥
नेम धर्म आचार तप, ज्ञान यज्ञ जप दान ।
भेषज पुनि कोटिक नहीं, रोग जाहिं हरिजान ॥

सुमति सुधा बाढ़इ नित नई । विषय आस दुर्बलता गई ॥
विमल ज्ञान जल जब सो न्हाई । तब रह राम भक्ति उर छाई ॥
शिव अज शुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म विचार विशारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा । करिय राम पद पंकज नेहा ॥
श्रुति पुराण सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं ॥

जासु नाम भव भेषज, हरण ताप त्रय शूल ।
सो कृपालु मोहि तोहि पर, सदा रहउ अनुकूल ॥

उत्तर काण्ड

४८—प्रासंगिक-पद्यावली

वायस पालिय अति अनुरागा । होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥

गुण अवगुण जानत सब कोई । जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥

ग्रह भेषज पट पवन जल, पाइ कुयोग सुयोग ।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहिं सुलक्षण लोग ॥

सम प्रकाश तम पाख दुहुँ, नाम भेद विधि कीन्ह ।
शशि पोषक शोषक समुझि, जग यश अपयश दीन्ह ॥

निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं । ताते करउँ विनय सब पाहीं ॥

मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी । अहि गिरि गजशिर सोह न तैसी ॥

नृप किरीट तरुणी तनु पाई। लहहिं सकल शोभा अधिकाई॥
तैसइ सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिंअनतअनत छविलहहीं॥

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

कबहूँ जोग वियोग न जाके। देखा प्रगट विरह दुख ताके॥

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ साखा॥

जल पय सरिस विकाइ, देखहु प्रीति कि रीति भल।
विलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥

नहि कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं॥

यदपि मित्र प्रभु पितु गुरु गेहा। जाइय बिनु बोले न सँदेहा॥
तदपि विरोध मानि जहँ कोई। तहाँ गये कल्याण न होई॥

कह मुनीश हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥
तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥

शिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धर्म यह नाथ हमारा॥
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। विनहिविचार करिय शुभजानी॥
तुम सब भाँति परम हितकारी। आज्ञा शिर पर नाथ तुम्हारी॥

मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपसरिस सबही चह कीन्हा॥

कनकउ पुनि पषान ते होई। जारेहु सहज न परिहरि सोई॥

नौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥

तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धर्म उपकारा॥
परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रशंसहिं तेही॥

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥

तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गये समीप सो अवशि नसाई। अस मनमथ महेश की नाई॥

पर घर घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव की पीरा॥
अस विचारि सोचइ जनि माता। सो न टरइ जो रचइ विधाता॥
कर्म लिखा जो बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइय काहू॥
तुम्ह सन मिटहिं कि विधि कर अंका। मातु व्यर्थ जनि लेहु कलंका॥
करेहु सदा शंकर पद पूजा। नारि धर्म पति देव न दूजा॥
कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं॥
जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्र जनित दुख सोई॥

गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावैं। आरत अधिकारी जहँ पावैं॥

बोले विहँसि महेश तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं॥

सीस कि चाँपि सकै कोइ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

शम्भु दीन्ह उपदेश हित, नहिं नारदहिं सुहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि इच्छा बलवान॥

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी। वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी॥

परम स्वतंत्र न शिर पर कोई। भावहि मनहिं करहु तुम्ह सोई॥

भले भवन अव वायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥

मणिविनुफणिजिमिजलविनुमीना। ममजीवनतिमितुम्हहिंअधीना॥

तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

वैरी पुनि क्षत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा॥

तुलसी देखि सुवेष, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहिं पेखि, बचन सुधा सम असन अहि॥

राखै गुरु जो कोपि विधाता। गुरु विरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु कर गनिय न ताहु।
अजहुँ देत दुख रवि शशिहिं, शिर अवशेषित राहु॥

भूपति भावी मिटै नहिं, यद्यपि न दूषण तोर।
किये अन्यथा होय नहिं, विप्र शाप अति घोर॥

शोचहिं दूषण दैवहिं देहीं। विरचत हंस काग किय जेहीं॥

भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ विधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक यम, ताहि व्याल सम दाम॥

नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई॥

मोहिं अतिशय प्रतीत जिह केरी। जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

जग भल कहहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अन्तहु उर दाहू॥

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥

तृषित वारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करै का सुधा तड़ागा॥

का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछताने॥

सेवक सोइ जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिय लराई॥

पुनि पुनि मोहिं दिखाव कुठारू। चहत उडावन फूँकि पहारू॥

इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जो तर्जनि देखत मरि जाहीं॥

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन पर न सुराई॥

वधे पाप अपकीरति हारे। मारत हू पॉ परिय तुम्हारे॥

कोटि कुलिश सम वचन तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु वान कुठारा॥

अपने मुख तुम आपनि करनी। वार अनेक भाँति बहु वरनी॥
नहिं सतोष तो पुनि कछु कहहू। जनिरिस रोकिदुसहदुखसहहू॥
वीर वृत्ति तुम धीर अछोभा। गारी देत न पावहु शोभा॥

शूर समर करनी करहिं . कहि न जनावहिं आप।
विद्यमान रण पाइ रिपु . कायर करहिं प्रलाप॥

कौशिक कहा छमिय अपराधू। वाल दोष गुण गनहिं न साधू॥

जौ लरिका कछु अचगरि करहीं। गुर पितु मातु मोद मन भरहीं॥

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
जेहि वश जन अनुचित करहिं, चलहिं विश्व प्रतिकूल॥

बरै बालक एक सुभाऊ। इन्हें न संत विदूषै काऊ॥

ते नाही कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥
कृपा कोप बध बंध गुसाईं। मोपर करिय दास की नाईं॥
सुनहु लषन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहुँ ते बड दोषू॥
टेढ़ जानि शंका सब काहू। बक्र चन्द्रमा ग्रसै न राहू॥

प्रभु सेवकहि समर कस, तजहु विप्र वर रोष।
वेष विलोकि कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोष॥

भूप सयानप सकल सिरानी। सखि विधि गति कछु जाति न जानी॥

सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहि काना॥

छमहु चूक अनजानति केरी। चहिय विप्र उर कृपा घनेरी॥

हमहिं तुमहिं सरवर कस नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥

हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय विचारत शम्भु सुजाना॥

बालकाण्ड

सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥

ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती॥

काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय विशेष पुनि चेरि कहि, भरत मातु मुसुकानि॥

फोरइ योग कपार अभागा । भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥

हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती । नाहित मौन रहब दिन राती ॥

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी । चेरी छाँड़ि होब नहिं रानी ॥

तसि मति फिरी अहइ जस भावी । रहसी चेरि घाति जनु फावी ॥

रहा प्रथम अब ते दिन बीते । समउ फिरे रिपु होहि पिरीते ॥

भानु कमल कुल पोषनि हारा । बिनु जल जारि करै सोइ छारा ॥

का पूछेहु तुम अबहुँ न जाना । निज हित अनहित पशु पहिचाना ॥

को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नीच मते चतुराई ॥

यद्यपि नीति निपुण नर नाहू । नारि चरित जलनिधि अवगाहू ॥

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्राण जाउ बरु बचन न जाई ॥

करइ करहु किन कोटि उपाया । इहाँ न लागहि राउर माया ॥

तुम्ह कि होर एक समय भुआला । हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥

दानि कहाउब अरु कृपिनाई । होइ कि पेम कुशल रउनाई ॥

तनु तिय तनय धाम धन धरणी । सत्यसंध कहँ तृण सम बरणी ॥

फिर पछितैहसि अन्त अभागी । मारेसि गाय नाहरु लागी ॥

सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥

तनय मातु पितु तोषनि हारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

अयश होउ जग सुयश नसाऊँ । नर्क परउँ वरु सुरपुर जाऊँ ॥

सब दुख दुसह सहावहु मोहीं । लोचन ओट राम जनि होहीं ॥

धन्य जन्म जगतीतल तासू । पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितु मातु प्राण सम जाके ॥

चंद चुवइ वरु अनल कन, सुधा होइ विष तूल ।
सपनेहुँ कवहुँ न करहिं कछु, भरत राम प्रतिकूल ॥

जिमि भानु विनु दिन, प्राण विनु तन, चंद विनु जिमि यामिनी ॥
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु विनु समुझ धौं जिय भामिनी ॥

जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरति यहि भाँति ।
जिमि चातक चातिकि तृषित, वृष्टि शरद ऋतु स्वाँति ॥

गुरु श्रुति सम्मति धर्म फल, पाइय विनहिं कलेश ।
हठ वश सब संकट सहे, गालव नहुष नरेश ॥

सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करै सिर मानि ।
सो पछिताय अघाय उर, अवशि होय हित हानि ॥

सेवा समय दैव वन दीन्हा । मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा ॥

तजव छोभ जनि छाडिय छोहू । कर्म कठिन कछु दोष न मोहू ॥

अचल होउ अहिवात तुम्हारा । जब लगि गंग यमुन जल धारा ॥

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवशि नर्क अधिकारी॥

अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँई दिवस जहँ भानु प्रकासू॥

और करइ अपराध कोउ, और पाव फल भोगु।
अति विचित्र भगवंत गति, को जग जानइ जोगु॥

पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। श्वसुर सुरेश सखा रघुराऊ॥
रामचन्द्र पति सो वैदेही। सोवत महि विधि वाम न केही॥

सिय रघुवीर कि कानन योगू। कर्म प्रधान सत्य कह लोगू॥

मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन कर्म गति कछु न बसाई॥

राम लषन सिय पद शिर नाई। फिरेउ वनिक जिमि मूर गँवाई॥

निपट निरंकुश निठुर निशंकू। जेहि शशि कीन्ह सहज सकलंकू॥
रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये वन राजकुमारा॥
जौं पै इन्हहिं दीन्ह वनवासू। कीन्ह वादि विधि भोगविलासू॥
ए विचरहिं मग विनु पदत्राना। रचे वादि विधि वाहन नाना॥
ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत विधाता॥
तरुवर वास इन्हहिं विधि दीन्हा। धवलधाम रचि रचि श्रम कीन्हा॥
जौं ए मुनिपट धर जटिल, सुन्दर सुठि सुकुमार।
विविध भाँति भूषन वसन, वादि किये करतार॥

जहँ लगि वेद कही विधि करनी। स्रवन नयन मन गोचर बरनी॥

जौं जगदीश इन्हहिं वन दीन्हा। कस न सुमन मय मारग कीन्हा॥

मुनि तापस जिन ते दुख लहहीं। ते नरेश विनु पावक दहहीं॥

मंगल मूल विप्र परितोषू । दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू ॥

तुम्ह पंडित परमारथ ज्ञाता । धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता॥

कहब सँदेसु भरत के आये । नीति न तजिय राजपद पाये ॥

जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ । खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥
बर मॉगत मन भइ नहि पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥

जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥
उत्तर देउँ छमिय अपराधू । दुखित दोष गुण गनहिं न साधू ॥

कारण ते कारज कठिन, कछुक दोष नहि मोर ।
कुलिश अस्थि ते उपल तें, लोह कराल कठोर ॥

ग्रह गृहीत पुनि वात वश, तेहि पुनि बीछी मार ।
ताहि पिआइय वारुणी, कहहु कवन उपचार ॥

यद्यपि मैं अनभल अपराधी । मोहि कारण भइ सकल उपाधी ॥
तदपि शरन सन्मुख मोहि देखी । छमिसबकरिहहि कृपा विशेखी ॥

अहि अघ अवगुण नहि मणि गहई । हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥

करइ स्वामि हित सेवक सोई । दूषण कोटि देइ किन कोई ॥

...उँ प्राण रघुनाथ निहारे । दुहुँ हाथ मुद मोदक मोरे ॥

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढा । सहसा करि पछितायँ विमूढा ॥

लखब सनेह सुभाय सुहाये । बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराये ॥

अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे । सहित कोटि कुल मंगल मोरे ॥

सुख स्वरूप रघुवंश मणि, मगल मोद निधान ।
ते सोवत कुश डास महि, बिधि गति अति बलवान ॥

शिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब ते सेवक धर्म कठोरा ॥

माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू । आरत काह न करहिं कुकरमू ॥

अस जिय जानि सुजान सुदानी । सफल करहि जग याचक बानी ॥

उदित सदा अथइहि कबहूँ ना । घटहि न नभ जग दिन २ दूना ॥

यहि दुख दाह दहै दिन छाती । भूख न वासर नींद न राती ॥

यहि कुरोग कर औषधि नाहीं । सोधेउँ सकल विश्व मन माहीं ॥

मुनिहि सोच पाहुन बड नेवता । तस पूजा चाहिय जस देवता ॥

कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

बिनु पूछे कछु कहउँ गुसाईं । सेवक समय न ढीठ ढिठाई ॥

नाथ सुहृद शुठि सरल चित, शील सनेह निधान ।
सब पर प्रीति प्रतीत जिय, जानिय आपु समान ॥

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी । त्रिविध ताप ग्रह पीडित भारी ॥

भेटी रघुवर मातु सब, करि प्रबोध परितोष ।
अब ईश आधीन जग काहु न देइय दोष ॥

तिन्हसियनिरखि निपटदुखपावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा॥

जौं हठ करउँ तो निपट कुकरमूँ । हर गिरि तें गुरु सेवक धरमूँ ॥

जन्म हेतु सब कहँ पितु माता । कर्म शुभाशुभ देहि विधाता ॥

सकुचउँ तात कहत एक बाता । अर्द्ध तजहिं बुध सरबस जाता॥

आरत कहहि विचारि न काऊ । सूझ जुआरिहिं आपन दाऊ ॥

मैं जानउँ निज नाथ स्वभाऊ । अपराधिहुँ पर कोह न काऊ ॥

यहउ कहत मोहिं आजु न शोभा । आपनिसमुझिसाधुशुचिकोभा॥

फरइ कि कोदउ बालि सुशाली । मुक्ता फरइ कि शंबुक ताली ॥

सपनेहुँ दोष कलेश न काहू । मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥

तात जाय जनि करहु गलानी । ईश अधीन जीव गति जानी ॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई । जाय लोक परलोक नसाई ॥

तात कुतर्क करहु जनि जाये । बैर प्रेम नहिं दुरहिं दुराये ॥

मुनि गण निकट विहँगमृगजाहीं । बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥

अनहित पशु पत्ती जाना । मानुष तन गुण ज्ञान निधाना ॥

सेवक हित साहिब सेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥

कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू । रहत न आरत के चित चेतू ॥

सीयमातु कहविधि बुधि बाँकी । जो पय फेनु फोरि पग टाँकी ॥

सुनिय सुधा देखिय गरल , सब करतूति कराल ।
जहँ तहँ काक उलूक बक , मानस सकृत मराल ॥

देवि मोह वश सोचिय वादी । विधि प्रपंच अस अचल अनादी॥

आरत मोर नाथ कर छोहू । दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू ॥

कसे कनक मणि पारिष पाये । पुरुष परखिये समय सुभाये ॥

प्रभु अपने नीचहुँ आदरही । अग्नि धूम गिरि शिर तृण धरहीं ॥

रउरे अंग योग जग को है । दीप सहाय,कि दिनकर सोहै ॥

छोटे वदन कहउँ वडि वाता । छमब तात लखि वाम विधाता ॥

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना । सेवा धर्म कठिन जग जाना ॥

स्वामि धर्म स्वारथहिं विरोधू । बधिर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू ॥

पशु नाचत शुक पाठि प्रवीना । गुन गति नट पाठक आधीना ॥

मुखिया मुख सो चाहिये , खान पान को एक ।
पालइ पोषइ सकल अँग , तुलसी सहित विवेक ॥

राम प्रेम भाजन भरत , बड़े न यह करतूति ॥
चातक हंस सराहिय , टेक विवेक विभूति ॥

अयोध्या काण्ड

रारि न सकै न बहि सक जाहू । दुहूँ भाँति उर दारुण दाहू ॥

लिखत सुधाकर लिखिगा राहू । विधि गति वाम सदा सब काहू ॥

अस विचारि नहिं कीजिय रोषू । काहुहि वादि न देइय दोषू ॥

सो मैं सुनब सहब सुख मानी । अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥

जो पामर आपनि जड़ताई । तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई ॥

सो शठ कोटिक पुरुष समेता । बसहि कल्प शत नर्क निकेता ॥

करि प्रबोध मुनिवर कहेउ, अतिथि प्रेम प्रिय होहु ।
कंद मूल फल फूल हम, देहि लेहु करि छोहु ॥

यद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं पाप पुण्य गुण दोषू ॥

मोहि अनुचर कर केतिक बाता । तेहि महँ कुसमउ वाम विधाता ॥

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा । अब सुरकाज भरत के हाथा ॥

अयोध्या काण्ड

जिमि पिपीलिका सागर थाहा । महा मंद मति पावन चाहा ॥
संतत मोपर कृपा करेहु । सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥

सेवक सुख चह मान भिखारी । व्यसनी धन शुभ गति व्यभिचारी ॥
लोभी यश चह चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी ॥

ज्ञान त विनु धन विनु धर्मा । हरिहि समर्पे विनु सत्कर्मा ॥
विद्या विनु विवेक उपजाये । श्रम फल पढ़े किये अरु पाये ॥

रन चढ़ि करिय कपट चतुराई । रिपु पर कृपा परम कदराई ॥

संग ते यती कुमंत्र ते राजा । मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥
प्रीति प्रणय बिनु मद ते गुनी । नाशहिं वेगि नीति अस सुनी ॥

रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि ।
अस कहि विविध विलाप, करि लागी रोदन करन ॥

नवनि नीच की अति दुखदाई । जिमि अंकुश धनु उरग बिलाई ॥

भय दायक खल कै प्रिय बानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥

नव मारीच हृदय अनुमाना । नवहिं विरोधे नहिं कल्याना ॥
शस्त्री मर्मी प्रभु शठ धनी । वैद्य वंदि कवि मानस गुनी ॥

परहित वश जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

पूजिय विप्र शील गुण हीना । शूद्र न गुण गण ज्ञान प्रवीना ॥

अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥

आरण्यकाण्ड

क्षिति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित यह अधम शरीरा ॥

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करैं सब प्रीती ॥

कह अंगद लोचन भरि वारी । दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥
यहाँ न सुधि सीता कै पाई । वहाँ गये मारहिं कपिराई ॥

किष्किन्धाकाण्ड

पर [illegible] परिहरि पहिचानी । साधु ते होइ न कारज हानी ॥

नव तरु किसलय मनहुँ कृशानू । कालनिशासमनिशिशशिभानू ॥
कुवलय विपिन कुंत वन सरिसा । वारिद तप्त तेल जनु बरिसा ॥
जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ॥

साधु अवज्ञा कर फल ऐसा । जरइ नगर अनाथ कर जैसा ॥

प्रति उपकार करौं का तोरा । सन्मुखहोइ न सकतमन मोरा ॥

सुनु सुत तोहि उऋण मैं नाहीं । देखेउँ करि विचार मन माहीं ॥

जासु दूत बल बरणि न जाई । तेहि आये पुर कवनि भलाई ॥

सचिव वैद गुरु तीनि जो , प्रिय बोलहि भय आस ।
राज धर्म तन तीनि कर , होहि वेगही नास ॥

तुम्ह पितुसरिसभलेहिमोहिंमारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥

साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्याण अखिल कै हानी ॥

जानि न जाय निशाचर माया । काम रूप केहि कारण आया ॥

सहज पाप प्रिय तामस देहा । यथा उलूकहि तम पर नेहा ॥

खल मंडली बसहु दिन राती । सखा धर्म निबहै केहि भाँती ॥

बरु भल वास नर्क कर ताता । दुष्ट संग जनि देहु विधाता ॥

कादर मन कहँ एक अधारा । दैव दैव आलसी पुकारा ॥

विनय न मानत जलधि जड़ , गये तीन दिन बीति ।
बोले राम सकोप तब , भय बिनु होय न प्रीति ॥

शठ सन विनय कुटिल सन प्रीती । सहज कृपिण सन सुन्दर नीती ॥
ममता रत सन ज्ञान कहानी । अति लोभी सन विरति बखानी ॥
क्रोधिहिं सम कामिहिं हरि कथा । ऊसर बीज बये बल यथा ॥

काटे पै कदली फरै, कोटि यतन कोउ सींच ।
विनय न मान खगेश सुनु, डॉटे पै नव नीच ॥

गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी ॥

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

सुन्दरकाण्ड

कहहिं सचिव सब ठकुर सुहाती । नाथ न पूर आव एहि भाँती ॥

प्रिय वानी जे सुनहिं जे कहही । ऐसे नर निकाय जग अहहीं ॥
वचन परम हित सुनत कठोरे । सुनहि जे कहहि ते प्रभु नर थोरे ॥

फूलइ फलइ न वेत, यदपि सुधा वर्षहि जलद ।
मूरख हृदय न चेत, जौं गुरु मिलहिं विरंचि शिव ॥

नाचहि खग अनेक वारीसा । शूर न होहि ते सुनु जड़ कीसा ॥

सुनु मति मंद देह अब पूरा । काटे शीश कि होइय शूरा ॥

इन्द्रजालि कहँ कहिय न वीरा । काटइ निज कर सकल शरीरा ॥

जरहिं पतंग विमोह वश, भार वहहि खर वृन्द ।
ते नहि शूर कहावहीं, समुझि देखु मतिमंद ॥

बौल काम वश कृपिण विमूढा । अति दरिद्र अयशी अति बूढ़ा ॥

सदा रोग वश,संतत क्रोधी। विष्णु विमुख श्रुति संत विरोधी॥
तन पोषक निन्दक अघ खानी। जीवत शव मम चौदह प्रानी॥

हरि हर निन्दा सुनइ जो काना। होइ पाप गौ घात समाना॥

पुरुष कुयोगी जिमि उरगारी। मोह विटप,नहिं सकहि उपारी॥

अहह कंत कृत राम विरोधा। काल विवश मन उपज न बोधा॥

काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धर्म बल बुद्धि विचारा॥

निकट काल जेहि आवै साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं॥

साम दाम अरु दंड विभेदा। नृप उर बसहि कहहि अस वेदा॥

सर्वस खाइ भोग करि नाना। समर भूमि भयो दुर्लभ प्राना॥

सन्मुख मरण वीर कै शोभा। तब तिन्ह तजा प्राण कै लोभा॥

सुत वित नारि भवन परिवारा। होहि जाहि जग बारहिं बारा॥

अस विचारि जिय जागहु ताता। जगत न मिलहि सहोदर भ्राता॥

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

जनि जल्पना करि सुयश नाशहिं नीति सुनहि करहि क्षमा।
संसार महँ पुरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमन प्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहि कहहिं करहि अपर एक करहि कहत न बागहीं॥

लङ्का काण्ड

राम कथा मुनि बहु विधि, बरनी। ज्ञान योनि पावक जिमि अरनी॥

उपरोहिती कर्म अति मंदा। वेद पुराण सुमृति कर निन्दा॥

राकापति षोडश उगहिं, तारा गण समुदाय।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, रवि विनु राति न जाय॥

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई॥

गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरण मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दंभिहिं नीति कि भावई॥

अधम जाति में विद्या पाये। भयउँ यथा अहि दूध पिआये॥

जेहि तें नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हठि ताहि नसावा॥

जो नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥

जे शठ गुरु सन ईर्षा करहीं। रौरव नर्क कोटि युग परहीं॥

त्रिजग योनि पुनि धरहि शरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहुँ के हिये॥

अति संघर्षन जो कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥

द्वैत बुद्धि विनु क्रोध किमि, द्वैत कि विनु अज्ञान।
माया बश परिछिन्न जड़, जीव कि ईश समान॥

सो मुनि ज्ञान निधान, मृगनयनीविधुमुख निरखि।
विवश होहि हरिजान, नारि विश्व माया प्रगट॥

जाने तें छीजहिं कछु पापी , नास न पावहिं जन परितापी ॥

विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे । मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥

संत बिटप सरिता गिरि धरनी । पर हित हेतु सबन्हि कै करनी॥

संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पै कहइ न जाना ॥

निज परिताप द्रवइ नवनीता । पर दुख द्रवहिं सो संत पुनीता॥

गिरिजा संत समागम , सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो , गावहिं बेद पुरान ॥

उत्तर काण्ड

॥ इति ॥

बी० एल० पावगी द्वारा हितचिंतक प्रेस,
रामघाट, बनारस सिटी में मुद्रित ।

जयद्रथ-वध

"एतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन तत्र पार्थेन संयुगे।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ॥"

मैथिलीशरण गुप्त.

श्रीहरि

जयद्रथ-वध

[खण्ड काव्य]

लेखक

मैथिलीशरण गुप्त

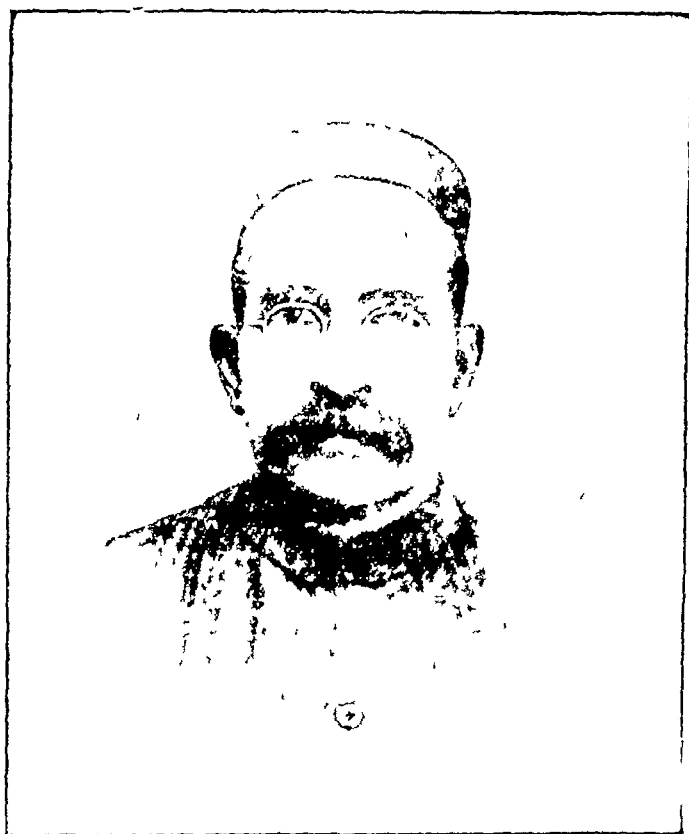
प्रकाशक

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

कमर्शल प्रेस, जुही, कानपुर में मुद्रित

सप्तम संस्करण] संवत् १९८६ [मूल्य ॥)

Printed by B D Gupta at the Commercial Press,
Juhi-Kalan, Cawnpore



पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी।

कमरशल प्रेस, कानपुर।

समर्पण

—:o:—

"सरस्वती"-सम्पादक श्रीमान् पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदीजी** महाराज की सेवा में—

आर्य्य !

पाई तुम्हीं से वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूँ ?
पर क्या परीक्षा-रूप में पुस्तक न यह आगे धरूँ ?
अतएव मेरी धृष्टता यह ध्यान में मत दीजिए,
कृपया इसे स्वीकार कर कृतकृत्य मुझ को कीजिए ॥

अनुचर

मैथिलीशरण

भूमिका

—:o:—

हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिन के द्वारा हमें अपनी पूर्वापर स्थिति का यथार्थ ज्ञान हो कर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले। इस के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक साहित्य-सेवी और देश-वत्सल मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, प्रधान धर्म्म है।

प्रिय पाठकगण! न तो मुझ में लेखक होने की योग्यता है और न कवि बनने की शक्ति। तो भी मेरी तुच्छ रचना को कृपापूर्वक सहृदयजनों ने अपनाया है। मेरे लिए यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। इसी उत्साह से उत्साहित हो कर आज मैं यह "जयद्रथ-वध" नामक खण्ड काव्य प्रकाशित करता हूँ। इसके लिखने में मुझे कहाँ तक सफलता हुई है, इस का विचार कविता-मर्मज्ञ जनों पर ही छोड़ कर मैं आशा करता हूँ कि मेरी अन्य रचनाओं के समान इसे भी वे दया-दृष्टि से देख कर मुझको कृतार्थ करें गे।

यदि यह पुस्तक कुछ भी उपयोगी समझी गई, जिस की मुझे अपनी योग्यता के विचार से बहुत कम सम्भावना है, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझ कर शीघ्र ही कोई और पुस्तक प्रकाशित करूँगा।

चिरगाँव (झाँसी)
आश्विन कृष्ण १० सं० १९६६

मैथिलीशरण गुप्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

—:o:—

हिन्दी-प्रेमियों के अनुग्रह से इस पुस्तक को पुनर्मुद्रण का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुझे ऐसी आशा न थी कि कभी इस के दूसरे संस्करण का अवसर आवेगा। किन्तु कविता-प्रेमी पाठकों ने कृपा कर के इसे अपनाया, और विद्वान समालोचकों ने इस की समालोचनाओं से मुझे उत्साहित किया। इस के लिए मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस संस्करण में मैं ने कुछ फेरफार किया है, और कहीं कहीं दो एक पद्य भी बढ़ा दिये हैं। आशा है, यह काम पाठकों को अरुचिकर न होगा।

मित्रवर राय कृष्णदासजी को धन्यवाद है, जिन्होंने अपनी विशेष सम्मतियों से मुझे इस विषय में उपकृत किया है।

चिरगाँव (झाँसी)
फाल्गुन शुक्ल ६ सं० १९६९

मैथिलीशरण गुप्त

श्रीगणेशाय नमः

जयद्रथ-वध

प्रथम सर्ग

१—वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही "जय जानकीजीवन" कहो,
फिर पूर्वजों के चरित की शिक्षा-तरंगों में बहो ।
दुख, शोक, जब जो आ पड़े, सो धैर्य्यपूर्वक सब सहो,
होगी सफलता क्यों नहीं, कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो ॥

२—निश्चेष्ट होकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है ।
इस तत्त्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ ॥

३—सब लोग हिल मिल कर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो;
भारत न दुर्दिन देखता मचता 'महाभारत' न जो ।
हो स्वप्नतुल्य सदैव को सब शौर्य सहसा खो गया,
हा हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया !

४—दुर्वृत्त[1] दुर्योधन न जो शठता-सहित हठ ठानता,
जो प्रेम पूर्वक पाण्डवों की योग्यता को मानता।
तो डूबता भारत न यों रण[2]-रक्त-पारावार में,
'ले डूबता है एक पापी नाव को मँझधार में'॥

५—हा! बन्धुओं के ही करों से बन्धुगण मारे गये!
हा! तात से सुत, शिष्य से गुरु, शीघ्र संहारे गये!
इच्छा-रहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो!
कर्तव्य के वश विज्ञजन क्या क्या नहीं करते कहो?

६—यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है।
अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहाँ,
अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहाँ॥

७—रणधीर द्रोणाचार्य्य कृत दुर्भेद्य चक्रव्यूह को,
शस्त्रास्त्र-सज्जित-ग्रथित-विस्तृत-शूरवीर-समूह को।
जब एक अर्जुन के बिना पाण्डव न भेदन कर सके,
तब बहुत ही व्याकुल हुए सब यत्न कर करके थके॥

८—यों देख कर चिन्तित उन्हें धर ध्यान समरोत्कर्ष का,
प्रस्तुत हुआ अभिमन्यु रण को शूर षोडश वर्ष का।
वह वीर चक्रव्यूह-भेदन में सहज सज्ञान था,
निज जनक अर्जुन-तुल्य ही बलवान था, गुणवान था॥

१ बुरे चरित्रवाला। २ रण=युद्ध, रक्त=खून, पारावार=समुद्र।

९—"हे तात! तजिए सोच को, है काम ही क्या क्लेश का?
प्रकटित करूँगा व्यूह में मैं द्वार शीघ्र प्रवेश का।"
यों पाण्डवों से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ,
छवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लज्जित हुआ॥

१०—नर-देव-सम्भव[1] वीर वह रण-मध्य जाने के लिए,
बोला वचन निज सारथी से रथ सजाने के लिए।
यह विकट साहस देख उसका, सूत विस्मित हो गया,
कहने लगा इस भाँति फिर वह देख उसका वय नया॥

११—"हे शत्रुनाशन! आपने यह भार गुरुतर है लिया,
हैं द्रोण रण पण्डित, कठिन है व्यूह-भेदन की क्रिया।
रण-विज्ञ यद्यपि आप हैं, पर, सहज ही सुकुमार हैं,
सुख-सहित नित पोषित हुए निजवंश-प्राणाधार हैं॥"

१२—सुन सारथी की यह विनय बोला वचन वह वीर यों—
करता घना घन[2] गगन में निर्घोष अति गम्भीर ज्यों।
"हे सारथे! हैं द्रोण क्या, आवें स्वयं देवेन्द्र भी,
वे भी न जीतेंगे समर में आज क्या, मुझसे कभी॥

१३—श्रीराम के हयमेध से अपमान अपना मान के,
मख-अश्व जब लव और कुश ने जय किया रण ठान के।
अभिमन्यु षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं,
क्या आर्य्य-वीर विपक्ष-वैभव देख कर डरते कहीं?

१ मनुष्यरूपी देवता से उत्पन्न। २ बरसनेवाला मेघ।

१४—सुन कर गजों का घोष उसको समझ निज-अपयश-कथा,
उन पर झपटता सिंह-शिशु भी रोष कर जब सर्वथा।
फिर व्यूह-भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
क्या वीर-बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो?

१५—मैं सत्य कहता हूँ सखे! सुकुमार मत मानो मुझे,
यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा जानो मुझे।
है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
मामा[1] तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं॥

१६—ज्यों ऊनषोडश[2] वर्ष के राजीवलोचन राम ने,
मुनि-मख किया था पूर्ण वध कर राक्षसों को सामने।
कर व्यूह-भेदन आज त्यों ही वैरियों को मार के,
निज तात का मैं हित करूँगा विमल-यश विस्तार के॥"

१७—यों कह वचन निज सूत[3] से वह वीर रण में मन दिये,
पहुँचा शिविर में उत्तरा से विदा लेने के लिए।
सब हाल उसने निज प्रिया से जब कहा जा कर वहाँ,
तब क्या कहा उसने उसे अब हम सुनाते हैं यहाँ॥

१८—"मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़ें नहीं,
तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं!
मैं जानती हूँ नाथ! यह, मैं मानती भी हूँ तथा—
उपकरण[4] से क्या, शक्ति में ही सिद्धि रहती सर्वथा॥

१ श्रीकृष्ण। २ पन्द्रह। ३ सारथि। ४ सामग्री।

१९—"क्षत्राणियों के अर्थ भी सब से बड़ा गौरव यही—
सज्जित करें पति-पुत्र को रण के लिए जो आप ही।
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालती—
होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती॥

२०—"अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए,
मत जाइए इससे समर में, प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूँगी नाथ! तुमको आज मैं संग्राम में,
उठती बुरी है भावनायें हाय! मम हृद्धाम में॥

२१—"है आज कैसा दिन न जाने, देव-गण अनुकूल हों;
रक्षा करें प्रभु, मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों।
कुछ राज-पाट न चाहिये, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही,
हे उत्तरा के धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही॥"

२२—कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये,
हिम के कणों से पूर्ण मानों हो गये पङ्कज नये।
निज प्राणपति के स्कन्ध पर रख कर वदन वह सुन्दरी,
करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा भरी॥

२३—यों देख व्याकुल निज प्रिया को सान्त्वना देता हुआ,
उसका मनोहर पाणि-पल्लव हाथ में लेता हुआ।
कहने लगा अभिमन्यु उससे जो यथोचित रीति से,
सुन लीजिए, अब हे रसिकजन! वह कथन भी प्रीति से॥

२४—"जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिके, प्राणप्रिये !
कातर तुम्हें क्या चित्त में इस भाँति होना चाहिए ?
हो शान्त, सोचो तो भला, है योग्य क्या तुमको यही,
हा ! हा ! तुम्हारी विकलता जाती नहीं मुझसे सही ॥

२५—"वीर-स्नुषा[1] तुम, वीर-रमणी, वीर-गर्भा हो तथा ;
आश्चर्य्य जो मम रण-गमन से हो तुम्हें फिर भी व्यथा।
हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है ;
बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है ?

२६—"निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए,
बदला समर में वैरियों से शीघ्र लेना चाहिए ।
पापी जनों को दण्ड देना चाहिए समुचित सदा,
वर वीर क्षत्रिय-वंश का कर्तव्य है यह सर्वदा ॥

२७—"इन कौरवों ने हा ! हमें सन्ताप कैसे हैं दिये,
हैं ज्ञात क्या न तुम्हें, इन्होंने पाप जैसे हैं किये ?
फिर भी इन्हें मारे विना हम लोग यदि जीते रहें,
तो सोच लो, संसार भर के वीर हमसे क्या कहें ?

२८—"जिस पर हृदय का प्रेम होता सत्य और समग्र है,
उसके लिए चिन्तित तथा रहता सदा वह व्यग्र है।
होता इसी से है तुम्हारा चित्त चञ्चल हे प्रिये !
यह सोच कर सो अब तुम्हें, शङ्कित न होना चाहिए ॥

१ स्नुषा = बहू ।

२९—"रण में विजय पाकर प्रिये! मैं शीघ्र आऊँगा यहाँ,
चिन्ता करो मन में न तुम, होती मुझे पीड़ा महा।
देखो, भला भगवान ही जब हैं हमारे पक्ष में,
जीवित रहेगा कौन फिर आकर हमारे लक्ष[1] में?"

३०—यों धैर्य्य देकर उत्तरा को हो विदा सद्भाव से,
वीराग्रणी अभिमन्यु पहुँचा सैन्य में अति चाव से।
स्वर्गीय साहस देख उसका सौगुने उत्साह से,
भरने लगे सब सैनिकों के हृदय हर्ष-प्रवाह से॥

३१—फिर पाण्डवों के मध्य में अति भव्य निज रथ पर चढ़ा,
रणभूमि में रिपु-सैन्य-सम्मुख वह सुभद्रा-सुत बढ़ा।
पहले समय में ज्यों सुरों के मध्य में सज कर भले,
थे तारकासुर मारने गिरिनन्दिनी-नन्दन चले॥

३२—वाचक! विचारो तो ज़रा, इस समय की अद्भुत छटा,
कैसी अलौकिक घिर रही है शूरवीरों की घटा।
दुर्भेद्य चक्रव्यूह सम्मुख धार्तराष्ट्र[2] रचे खड़े,
अभिमन्यु उसके भेदने को हो रहे आतुर बड़े॥

३३—तत्काल ही दोनों दलों में घोर रण होने लगा,
प्रत्येक पल में भूमि पर वर वीर-गण सोने लगा।
रोने लगीं मानो दिशाएँ पूर्ण हो रण-घोष से,
करने लगे आघात सम्मुख शूर-सैनिक रोष से॥

१ निशाना। २ दुर्योधन आदिक धृतराष्ट्र के पुत्र।

३४—इस युद्ध में सौभद्र[1] ने जो की प्रदर्शित वीरता,
अनुमान में आती नहीं उसकी अगम गम्भीरता।
जिस धीरता से शत्रुओं का सामना उसने किया,
असमर्थ हो उसके कथन में, मौन वाणी ने लिया॥

३५—करता हुआ कर[2] निकर दुर्द्धर सृष्टि के संहार को;
कल्पान्त में सन्तत करता सूर्य ज्यों संसार को।
सब ओर त्यों ही छोड़ कर निज प्रखरतर शर-जाल को,
करने लगा वह वीर व्याकुल शत्रु-सैन्य विशाल को॥

३६—शर खींच उसने तूण[3] से कब, किधर सन्धाना उन्हें,
बस विद्ध होकर ही विपक्षी-वृन्द ने जाना उन्हें!
कोदण्ड[4] कुण्डल-तुल्य ही उसका वहाँ देखा गया,
अविराम रण करता हुआ वह राम-सम लेखा गया?

३७—कटने लगे अगणित भटों के रुण्ड मुण्ड जहाँ तहाँ,
गिरने लगे कट कर तथा कर-पद सहस्रों के वहाँ।
केवल कलाई ही कुतूहल-वश किसी की काट दी,
क्षणमात्र में ही अरि-गणों से भूमि उसने पाट दी॥

३८—करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिये,
रण-मध्य वह फिरने लगा अति दिव्य द्युति धारण किये।
उस काल मृत सुमित्र के रथ हाँकने की रीति से,
देखा गया वह एक ही दस बीस सा अति भीति से!

१ अभिमन्यु। २ कर=किरण, निकर=समूह। ३ तरकस। ४ धनुष।

३९—उस काल जिस जिस ओर वह संग्राम करने को गया,
भगते हुए अरि-वृन्द से मैदान ख़ाली हो गया।
रथ-पथ कहीं भी रुद्ध उसका दृष्टि में आया नहीं,
सम्मुख हुआ जो वीर वह मारा गया तत्क्षण वहीं ॥

४०—ज्यों भेद जाता भानु का कर अन्धकार-समूह को,
वह पार्थ-नन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को।
थे वीर लाखों पर किसी से गति न उसकी रुक सकी,
सब शत्रुओं की शक्ति उसके सामने सहसा थकी ॥

४१—पर साथ भी उसके न कोई जा सका निज शक्ति से,
था द्वार-रक्षक नृप जयद्रथ सबल शिव की भक्ति से।
अर्जुन बिना उसको न कोई जीत सकता था कहीं,
थे किन्तु उस संग्राम में भवितव्यता-वश वे नहीं ॥

४२—तब विदित कर्ण-कनिष्ठ भ्राता बाण बरसा कर बड़े,
"रे खल ! खड़ा रह" वचन यों कहने लगा उससे कड़े।
अभिमन्यु ने उनको श्रवण कर प्रथम कुछ हँस भर दिया,
फिर एक शर से शीघ्र उसका शीश खण्डित कर दिया !

४३—यों देख मरते निज अनुज को कर्ण अति क्षोभित हुआ,
सन्तप्त स्वर्ण-समान उसका वर्ण अति शोभित हुआ।
सौभद्र पर सौ बाण छोड़े जो अतीव कराल थे,
हा ! बाण थे वे या भयङ्कर पक्षधारी व्याल थे ॥

४४—अर्जुन तनय ने देख उनको वेग से आते हुए,
खण्डित किया झट बीच ही में शौर्य्य दिखलाते हुए।
फिर हस्तलाघव से उसी क्षण काट के रिपु-चाप को,
रथ, सूत, रक्षक नष्ट कर सौंपा उसे सन्ताप को॥

४५—यों कर्ण को हारा समझ कर चित्त में अति क्रुद्ध हो,
दुर्योधनात्मज वीर लक्ष्मण आगया फिर युद्ध को।
सम्मुख उसे अवलोक कर अभिमन्यु यों कहने लगा,
मानों भयङ्कर सिन्धु-नद हद तोड़ कर बहने लगा॥

४६—"तुम हो हमारे बन्धु इससे हम जताते हैं तुम्हें,
मत जानियो तुम यह कि हम निर्बल बताते हैं तुम्हें।
अब इस समय तुम निज जनों को एक बार निहार लो,
यम-धाम में ही अन्यथा होगा मिलाप, विचार लो॥

४७—उस वीर को, सुन कर वचन ये, लग गई बस आग सी,
हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोडी एक निष्ठुर-नाग सी।
अभिमन्यु ने कर विफल उसको "पाण्डवों की जय" कही,
फिर शर चढ़ाया एक जिसमें ज्योति सी थी जग रही॥

४८—उस अर्द्धचन्द्राकार शर ने छूट कर कोदण्ड से,
छेदन किया रिपु-कण्ठ तत्क्षण फलक[1]-धार प्रचण्ड से।
होता हुआ इस भाँति भासित शीश उसका गिर पड़ा,
होता प्रकाशित ज्यों गगन से टूट कर तारा बड़ा॥

१ गाँसी।

४९—तत्काल हाहाकार-युत रिपु-पक्ष में दुख छा गया,
फिर दुष्ट दुःशासन समर में शीघ्र सम्मुख आ गया।
अभिमन्यु उसको देखते ही क्रोध से जलने लगा,
निश्वास बारबार उसका उष्णतर चलने लगा॥

५०—"रे रे नराधम नारकी! तू था बता अब तक कहाँ?
मैं खोजता फिरता तुझे सब ओर कब से हूँ यहाँ।
यह देख, मेरा बाण तेरे प्राण-नाश-निमित्त है,
तैयार हो, तेरे अघों का आज प्रायश्चित्त है!

५१—"सब सैनिकों के सामने ही आज वध करके तुझे,
संसार में माता-पिता से है उऋण होना मुझे।
मेरे करों से अब तुझे कोई बचा सकता नहीं,
पर देखना, रणभूमि से तू भाग मत जाना कहीं॥"

५२—कह यों वचन अभिमन्यु ने छोड़ा धनुष से बाण को,
रिपु-भाल में वह घुस गया झट भेद शीर्ष-त्राण[1] को।
तब रक्त से भीगा हुआ वह गिर पड़ा पा कर व्यथा,
सन्ध्या समय पश्चिम-जलधि में अरुण रवि गिरता यथा।

५३—मूर्च्छित समझ उसको, समर से ले गया रथ सारथी,
लड़ने लगा तब नृप बृहद्बल उचित नाम महारथी।
कर खेल क्रीडासक्त हरि[2] ज्यों मारता करि[3] को कभी,
मारा उसे अभिमन्यु ने त्यों छिन्न करके तनु सभी॥

[1] सिर का कवच, टोप। [2] सिंह। [3] हाथी।

५४—उस एक ही अभिमन्यु से यों युद्ध जिस जिस ने किया,
मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
जिस भाँति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घन-घटा,
सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्र-च्छटा॥

५५—तब कर्ण द्रोणाचार्य्य से साश्चर्य्य यों कहने लगा,
"आचार्य ! देखो तो नया यह सिंह सोने से जगा !
रघुवर-विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थ-नंदन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है !

५६—"होना विमुख संग्राम से है पाप वीरों को महा,
यह सोच कर ही इस समय ठहरा हुआ हूँ मैं यहाँ।
जैसे बने अब मारना ही योग्य इसको है यहीं,
सच जान लीजे अन्यथा निस्तार फिर होगा नहीं॥"

५७—वीराग्रणी अभिमन्यु ! तुम हो धन्य इस संसार में,
हैं शत्रु भी यों मग्न जिसके शौर्य्य पारावार में।
होना तुम्हारे निकट निष्प्रभ तेज शशि का, सूर का,
करते विपक्षी भी सदा गुण-गान सच्चे शूर का॥

५८—तब सप्त रथियों ने वहाँ रत हो महादुष्कर्म में—
मिल कर किया आरम्भ उसको विद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि, सुत-युत द्रोण भी,
उस एक बालक को लगे वे मारने बहु विध सभी !

५९—अर्जुन-तनय अभिमन्यु तो भी अचल[1] सम अविचल रहा,
उन सप्त रथियों का वहाँ आघात सब उसने सहा।
पर एक साथ प्रहार-कर्ता हों चतुर्दश कर जहाँ,
युग कर कहो, क्या क्या यथायथ कर सकें विक्रम वहाँ?

६०—कुछ देर में जब रिपु-शरों से अश्व उसके गिर पड़े,
तब कूद कर रथ से चला वह थे जहाँ वे सब खड़े।
जब तक शरीरागार[2] में रहते जरा भी प्राण हैं,
करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं॥

६१—फिर नृत्य-सा करता हुआ धन्वा लिए निज हाथ में,
लड़ने लगा निर्भय वहाँ वह शूरता के साथ में।
था यदपि अन्तिम दृश्य यह उसके अलौकिक कर्म का,
पर मुख्य परिचय भी यही था वीर जन के धर्म का॥

६२—होता प्रविष्ट मृगेन्द्र-शावक ज्यों गजेन्द्र-समूह में;
करने लगा वह शौर्य्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में।
तब छोड़ने कोदण्ड से सब ओर चण्ड-शरावली,
मार्तण्ड-मण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली॥

६३—यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य्य रिपु खोने लगे,
उसके भयङ्कर वेग से अस्थिर सभी होने लगे।
अतएव उनको युद्ध से विचलित विशेष विचार के,
कहने लगा वह बुद्धवर वाणी विशुद्ध पुकार के॥

१ पर्वत। २ शरीररूपी घर।

६४—"मैं एक, तुम बहु सहचरों से युक्त विश्रुत सात हो,
एकत्र फिर अन्याय से करते सभी आघात हो!
होते विमुख तो भी अहो! झिलता न मेरा वार है,
तुम वीर कैसे हो, तुम्हें धिक्कार सौ सौ बार है॥"

६५—उस शूर के सुन ये वचन बोला सुयोधन आप यों—
"है काल अब तेरा निकट करता अनर्थ प्रलाप क्यों?
जैसे बने निज-वैरियों के प्राण हरना चाहिए,
निज मार्ग निष्कण्टक सदा सब भाँति करना चाहिए॥"

६६—"यह कथन तेरे योग्य ही है" प्रथम यों उत्तर दिया,
खर-तर-शरों से फिर उसे अभिमन्यु ने मूर्च्छित किया।
उस समय ही जो पार्श्व से छोड़ा गया था तान के,
उस कर्ण-शर ने चाप उसका काट डाला आन के॥

६७—तब खींच कर खर-खड्ग फिर वह रत हुआ रिपु-नाश में,
चमकीं प्रलय की बिजलियाँ घनघोर समराकाश में।
पर हाय! वह आलोक-मण्डल अल्प ही मण्डित हुआ,
वञ्चक-विपक्षी-वृन्द से वह खड्ग भी खण्डित हुआ!

६८—यों रिक्तहस्त[1] हुआ जहाँ वह वीर रिपु-सघात[2] में,
घुसने लगे सब शत्रुओं के बाण उसके गात में,
वह पाण्डु-वंश-प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में—
सुन्दर सुमन ज्यों पड़ गया हो कण्टकों के जाल में॥

१ खाली हाथ। २ शत्रुसमूह।

६९—संग्राम में निज शत्रुओं की देख कर यों नीचता,
कहने लगा वह यों वचन दृग युग करों से मीचता—
"निःशस्त्र पर तुम वीर बन कर वार करते हो अहो!
है पाप तुमको देखना भी, पामरो! सम्मुख न हो॥

७०—"दो शस्त्र पहले तुम मुझे, फिर युद्ध सब मुझसे करो,
यों स्वार्थ-साधन के लिए मत पाप-पथ में पद धरो।
कुछ प्राण-भिक्षा मैं न तुमसे माँगता हूँ भीति से,
बस, शस्त्र ही मैं चाहता हूँ धर्म-पूर्वक नीति से॥

७१—"कर में मुझे तुम शस्त्र देकर फिर दिखाओ वीरता,
देखूँ यहाँ फिर मैं तुम्हारी धीरता, गम्भीरता।
हो सात क्या, सौ भी रहो, तो भी रुलाऊँ मैं तुम्हें,
कर पूर्ण रण-लिप्सा[1] अभी क्षण में सुलाऊँ मैं तुम्हें॥

७२—"निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है,
स्वीकार करता बात यह सब शूर-जन-समुदाय है।
पर जान कर भी हा! इसे आती न तुमको लाज है!
होता कलङ्कित आज तुम से शूरवीर समाज है॥

७३—"हे नीच ये सब शूर पर आचार्य्य! तुम 'आचार्य्य' हो,
वर वीर-विद्या-विज्ञ मेरे ज्ञान-शिक्षक आर्य्य हो।
फिर आज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कर्म है,
मैं पूछता हूँ, वीर का रण में यही क्या धर्म्म है?

१ लिप्सा = इच्छा।

७४—"यह सत्य है कि अधर्म्म से मैं निहत होता हूँ अभी,
पर शीघ्र इस दुष्कर्म का तुम दण्ड पाओगे सभी।
क्रोधाग्नि ऐसी पाण्डवों की प्रज्वलित होगी यहाँ,
तुम शीघ्र जिसमें भस्म होगे तूल[१]-तुल्य जहाँ तहाँ॥

७५—"मैं तो अमर होकर यहाँ अब शीघ्र सुरपुर को चला,
पर याद रक्खो, पाप का होना नहीं है फल भला।
तुम और मेरे अन्य रिपु पामर कहावेंगे सभी,
सुन कर चरित मेरा सदा आँसू बहावेंगे सभी॥

७६—"हे तात! हे मातुल! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं,
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं।"
कहता हुआ वह वीर यों रण-भूमि में फिर गिर पड़ा,
हो भङ्ग शृङ्ग सुमेरु गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों बड़ा!

७७—इस भाँति उसको भूमि पर देखा पतित होते यदा,
दुःशील दुःशासन-तनय ने शीश में मारी गदा!
दृग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया,
हा! एक अनुपम रत्न मानों मेदिनी का खो गया॥

७८—हे वीरवर अभिमन्यु! अब तुम हो यदपि सुर-लोक में,
पर अन्त तक रोते रहेंगे हम तुम्हारे शोक में।
दिन दिन तुम्हारी कीर्ति का विस्तार होगा विश्व में,
तब शत्रुओं के नाम पर धिक्कार होगा विश्व में॥

१ रुई।

द्वितीय सर्ग

१—इस भाँति पाई वीर गति सौभद्र ने संग्राम में,
होने लगे उत्सव निहत भी शत्रुओं के धाम में।
पर शोक पाण्डव-पक्ष में सर्वत्र ऐसा छा गया,
मानों अचानक सुखद जीवन-सार सर्व विला गया॥

२—प्रिय-मृत्यु का अप्रिय महा संवाद पा कर विषभरा,
चित्रस्थ सी, निर्जीव मानों, रह गई हत उत्तरा।
संज्ञा-रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी,
उस समय मूर्च्छा भी अहो! हितकर हुई उसको बड़ी॥

३—कुछ देर तक दुर्दैव ने रहने न दी यह भी दशा,
झट दासियों से की गई जागृत वहाँ वह परवशा।
तब तपन नामक नरक से भी यातना पाकर कड़ी,
विक्षिप्त सी तत्क्षण शिविर से निकल कर वह चल पड़ी॥

४—अपने जनों द्वारा उठा कर समर से लाये हुए,
व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ और शोणित-पङ्क से छाये हुए।
प्राणेश-शव के निकट जा कर चरम दुख सहती हुई,
वह नव वधू फिर गिर पड़ी "हा नाथ! हा!" कहती हुई॥

५—इसके अनन्तर अङ्क में रक्खे हुए सुस्नेह से,
शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से—
मानों निदाघारम्भ में सन्तप्त आतप-जाल से,
छादित हुई विपिनस्थली नव पतित किंशुक-शाल से॥

६—फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई।
बहु विध विलाप प्रलाप वह करने लगी उस शोक में,
निज प्रिय-वियोग समान दुख होता न कोई लोक में॥

७—"मति,गति,सुकृति,धृति,पूज्य,पति,प्रिय,स्वजन,शोभन-सम्पदा,
हा! एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा।
यों नष्ट उसको देख कर भी बन रहा तू भार है!
हे कष्टमय जीवन! तुझे धिक्कार बारम्बार है॥

८—"था जो तुम्हारे सब सुखों का सार इस संसार में,
वह गत हुआ है अब यहाँ से श्रेष्ठ स्वर्गागार में।
हे प्राण! फिर अब किस लिए ठहरे हुए हो तुम अहो!
सुख छोड़ रहना चाहता है कौन जन दुख में कहो?"

९—"अपराध सौ सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे,
हँस कर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे।
हा! आज उस मुझ किङ्करी[1] को कौन से अपराध में—
हे नाथ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध में?

१०—"तज दो भले ही तुम मुझे, पर मैं न तज सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ प्रिय! मैं न भज सकती तुम्हें?
है विदित मुझको वह्नि-पथ[2] त्रैलोक्य में तुम हो कहीं,
हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं॥

१ दासी। २ अग्निमार्ग।

११—"जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिये प्राणेश ! तुमने ले लिया।
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझको मिला,
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥

१२—"क्या बोलने के योग्य भी अब मैं नहीं लेखी गई ?
ऐसी न पहले तो कभी प्रतिकूलता देखी गई !
वे प्रणय-सम्बन्धी तुम्हारे प्रण अनेक नये नये,
हे प्राणवल्लभ ! आज ही सहसा समस्त कहाँ गये ?

१३—"है याद ? उस दिन जो गिरा तुमने कही थी मधुमयी,
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँद कर मैं रह गई।
'यह करतल स्पर्शन प्रिये ! मुझसे न छिप सकता कहीं'
फिर इस समय क्या नाथ ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं ?

१४—"एकान्त में हँसते हुए सुन्दर रदों[1] की पाँति से,
धर चिबुक[2] मम रुचि पूछते थे नित्य तुम बहु भाँति से।
उस समय की वह छवि तुम्हारी याद आते ही वहीं,
हे आर्य्यपुत्र ! विदीर्ण होता चित्त जाने क्यों नहीं॥

१५—"परिणय-समय मण्डप तले सम्बन्ध-दृढता हित अहा !
ध्रुव देखने को वचन मुझसे नाथ ! तुमने था कहा।
पर विपुल-व्रीडा[3] वश न उसका देखना मैं कह सकी,
सङ्गति हमारी क्या इसीसे ध्रुव न हा ! हा ! रह सकी ?

१ रद=दाँत। २ ठोढ़ी। ३ व्रीड़ा=लज्जा।

१६—"बहु भाँति सुन कर सु-प्रशंसा और उसमें मन दिये—
सुरपुर गये हो नाथ! क्या तुम अप्सराओं के लिए?
पर जान पडती है मुझे यह बात मन में भ्रम-भरी,
मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी॥

१७—"हाँ अप्सराएँ आप तुम पर मर रही होंगी वहाँ,
समता तुम्हारे रूप की त्रैलोक्य में रक्खी कहाँ!
पर प्राप्ति भी उनकी वहाँ भाती नहीं होगी तुम्हें,
क्या याद हम सब की वहाँ आती नहीं होगी तुम्हें?

१८—"है यह भुवन ही इन्द्र-कानन कर्म्मवीरों के लिए,
कहते सदा तुम तो यही थे—'धन्य हूँ मैं हे प्रिये!'
यह देव-दुर्लभ, प्रेममय मुझको मिला प्रियवर्ग है,
मेरे लिए संसार ही नन्दन विपिन है, स्वर्ग है॥"

१९—"जो भूरि-भाग भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी,
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी!
जो साथिनी हो कर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी,
है अब उसी मुझ सी जगत में और कौन अनाथिनी!

२०—"हा! जब कभी अवलोक कुछ भी मौन धारे मान से,
प्रियतम! मनाते थे जिसे तुम विविध वाक्य-विधान से।
विह्वल उसी मुझको अहो! अब देखते तक हो नहीं!
यों सर्वथा ही भूल जाना है सुना न गया कहीं॥

२१—"मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थि-बन्धन साथ में,
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में।
मैं हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्धाङ्गिनी,
भूलो न मुझको नाथ! हूँ मैं अनुचरी चिरसङ्गिनी॥

२२—"जो अङ्गरागाङ्कित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसकी मैं मुदित हो मोहती।
तव मूर्ति क्षत-विक्षत वही निश्चेष्ट अब भू पर पड़ी,
बैठा तथा मैं देखती हूँ, हाय! री छाती!! कड़ी!!!

२३—"हे जीवितेश! उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है!
है क्या तुम्हारे योग्य; यह तो भूमि-सेज कठोर है!
रख शीश मेरी जाँघ पर जो लेटते थे प्रीति से,
यह लेटना अति भिन्न है उस लेटने की रीति से॥

२४—"कितनी विनय मैं कर रही हूँ क्लेश से रोते हुए,
सुनते नहीं हो किन्तु तुम बेसुध पड़े सोते हुए।
अप्रिय न मन से भी कभी मैंने तुम्हारा है किया,
हृदयेश! फिर इस भाँति क्यों निज हृदय निर्दय कर लिया?

२५—"होकर रहूँ किसकी अहो! अब कौन मेरा है यहाँ?
कह दो तुम्हीं बस न्याय से, अब ठौर है मुझको कहाँ?
माता-पिता आदिक भले ही और निज जन हों सभी,
पति के बिना पत्नी जगत में सुख न पा सकती कभी॥

२६—"रोका बहुत था ! हाय मैं ने जाइए मत युद्ध में,
माना न तुमने किन्तु कुछ भी निज विपक्ष-विरुद्ध में।
हैं देखते यद्यपि जगत में दोष अर्थी जन नहीं,
पर वीर जन निज नियम से विचलित नहीं होते कहीं॥

२७—"किसका करूँगी गर्व अब मैं भाग्य के विस्तार से ?
किसको रिझाऊँगी अहो ? अब नित्य नव शृङ्गार से ?
ज्ञाता यहाँ अब कौन है मेरे हृदय के हाल का ?
सिन्दूर-बिन्दु कहाँ चला हा ! आज मेरे भाल का ?

२८—"हा नेत्र-युत भी अन्ध हूँ, वैभव-सहित भी दीन हूँ ;
वाणी-विहित भी मूक हूँ, पद-युक्त भी गति-हीन हूँ॥
हे नाथ ! घोर विडम्बना है आज मेरी चातुरी,
जीती हुई भी तुम बिना मैं हूँ मरी से भी बुरी॥

२९—जो शरण अशरण के सदा अवलम्ब जो गति-हीन के,
जो सुख दुखी जन के, तथा जो बन्धु दुर्विध दीन के।
चिर शान्तिदायक देव हे यम ! आज तुमही हो कहाँ ?
लोगे न क्या हा ! हन्त !! तुम भी सुधि स्वयं मेरी यहाँ ?"

३०—कहती हुई बहु भाँति यों ही भारती[1] करुणामयी,
फिर भी हुई मूर्च्छित अहो ! वह दुःखिनी विधवा नई।
कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ,
हतचेत होना भी विपद में लाभदाई है महा॥

१ वाणी।

३१—उस समय ही कृष्णा, सुभद्रा आदि पाण्डव-नारियाँ,
मानों असुर-गण-पीडिता सुरलोक की सुकुमारियाँ।
करती हुईं बहु भाँति क्रन्दन आगईं सहसा वहाँ,
प्रत्यक्ष ही लक्षित हुआ तब दुःख दुस्सह सा वहाँ॥

३२—विचलित न देखा था कभी जिनको किसी ने लोक में,
वे नृप युधिष्ठिर भी प्रकट रोने लगे इस शोक में!
गाते हुए अभिमन्यु के गुण भाइयों के सङ्ग में,
होने लगे वे मग्न से आपत्ति-सिन्धु-तरङ्ग में॥

३३—"इस अति विनश्वर-विश्व में दुख-शोक कहते हैं किसे,
दुख भोग कर भी बहुत हम ने आज जाना है इसे।
निश्चय हमें जीवन हमारा आज भारी हो गया,
संसार का सब सुख हमारा आज सहसा खो गया॥

३४—"हा! क्या करें? कैसे रहें? अब तो रहा जाता नहीं;
हा! क्या कहें? किससे कहें? कुछ भी कहा जाता नहीं।
क्योंकर सहें इस शोक को? यह तो सहा जाता नहीं,
हे दैव! इस दुख-सिन्धु में अब तो बहा जाता नहीं॥

३५—"जिस राज्य के हित शत्रुओं से युद्ध है यह हो रहा,
उस राज्य को अब, इस भुवन में, कौन भोगेगा अहा!
हे वत्सवर अभिमन्यु! वह तो था तुम्हारे ही लिए,
पर हाय! उसकी प्राप्ति के ही समय में तुम चल दिये!

३६—"जितना हमारे चित्त को आनन्द था तुमने दिया,
हा ! अधिक उससे भी उसे, अब शोक से व्याकुल किया !
हे वत्स ! बोलो तो ज़रा, सम्बन्ध तोड़ कहाँ चले ?
इस शोचनीय प्रसङ्ग में तुम सङ्ग छोड़ कहाँ चले ?

३७—"सुकुमार तुमको जान कर भी युद्ध में जाने दिया,
फल योग्य ही हे पुत्र ! उसका शीघ्र हमने पा लिया।
परिणाम को सोचे बिना जो लोग करते काम हैं,
वे दुःख में पड़ कर कभी पाते नहीं विश्राम हैं ॥

३८—"तुमको बिना देखे अहो ! अब धैर्य्य हम कैसे धरें ?
कुछ जान पड़ता है नहीं हे वत्स ! अब हम क्या करें ?
है विरह यह दुस्सह तुम्हारा हम इसे कैसे सहें ?
अर्जुन, सुभद्रा, द्रौपदी से हाय ! अब हम क्या कहें ?"

३९—है ध्यान भी जिनका भयङ्कर, जो न जा सकते कहे,
यद्यपि दृढ़ व्रत पाण्डवों ने थे अनेकों दुख सहे।
पर हो गये वे हीन से इस दुःख के सम्मुख सभी,
अनुभव बिना जानी न जाती बात कोई भी कभी ॥

४०—यों जान व्याकुल पाण्डवों को व्यास मुनि आये वहाँ,
कहने लगे इस भाँति उनसे वचन मनभाये वहाँ—
"हे धर्मराज ! अधीर मत हो, योग्य यह तुमको नहीं,
करते भला क्या विधि-नियम पर मोह ज्ञानी जन कहीं ?"

४१—यों बादरायण के वचन सुन देख कर उनको तथा,
कहने लगे उनसे युधिष्ठिर और भी पाकर व्यथा—
"धीरज धरूँ हे तात! कैसे? जल रहा मेरा हिया,
क्या हो गया यह हाय! सहसा दैव ने यह क्या किया!

४२—"जो सर्वथा ही शून्य लगती आज हम सबको धरा,
जो नाथ-हीन अनाथ जग में हो गई है उत्तरा।
हूँ हेतु इसका मुख्य मैं ही, हा! मुझे धिक्कार है,
मत 'धर्मराज' कहो मुझे, यह क्रूर-जन भूभार है॥

४३—"हे पुत्र दुर्लभ सर्वथा अभिमन्यु सा संसार में,
थे सर्वगुण उस धर्मधारी धीर-वीर कुमार में।
वह बाल होकर भी मृदुल, अति प्रौढ़ था निज काम में,
बातें अलौकिक थीं सभी उस दिव्य शोभा-धाम में॥

४४—"क्या रूप में क्या शक्ति में, क्या बुद्धि में क्या ज्ञान में,
गुणवान वैसा अन्य जन आता नहीं है ध्यान में।
पर हाय! केवल रह गई है अब यहाँ उसकी कथा,
धिक्कार है संसार की निस्सारता को सर्वथा॥

४५—"प्रति दिवस जो इस समय आकर मोदयुत संग्राम से,
करता हृदय मेरा मुदित था भक्ति-युक्त प्रणाम से।
हा! आज वह अभिमन्यु मेरा मृतक भू पर है पड़ा,
होगा कहो मेरे लिए क्या कष्ट अब इससे बड़ा?

४६—"करने पड़ेंगे यदपि अब भी काम सब जग में हमें;
चलना पड़ेगा यदपि अब भी विश्व के मग में हमें।
सच जानिए, पर अब न होगा हृदय लीन उमङ्ग में,
सुख की सभी बातें गईं सौभद्र के ही सङ्ग में॥

४७—"उसके बिना अब तो हमें कुछ भी सुहाता है नहीं,
हा! क्या करें, हत हृदय दुख से शान्ति पाता है नहीं।
था लोक आलोकित उसी से अब अँधेरा है हमें,
किस दोष से दुर्दैव ने इस भाँति घेरा है हमें!

४८—"अब भी मनोरम मूर्ति उसकी फिर रही है सामने,
पर साथ ही दुख की घटा भी घिर रही है सामने।
हम देखते हैं प्रकट उसको किन्तु पाते हैं नहीं,
हा! स्वप्न के वैभव किसी के काम आते हैं नहीं॥

४९—"कैसी हुई होगी अहो! उसकी दशा उस काल में—
जब वह फँसा होगा अकेला शत्रुओं के जाल में?
बस वचन ये उसने कहे थे अन्त में दुख से भरे—
"निरुपाय तब—अभिमन्यु यह अन्याय से मरता हरे!"

५०—कह कर वचन कौन्तेय यों फिर मौन दुख से हो गये,
दृग-नीर से तत्काल युग्म कपोल उनके धो गये।
तब व्यास मुनि ने फिर उन्हें धीरज बँधाया युक्ति से,
आख्यान समयोचित सुनाये विविध उत्तम उक्ति से।

५१—उस समय ही संसप्तकों को युद्ध में संहार के,
लौटे धनञ्जय[1] विजय का आनन्द उर में धार के।
होने लगे पर मार्ग में अपशकुन बहु विधि जब उन्हें,
खलने लगी अति चित्त में चिन्ता कुशल की तब उन्हें॥

५२—कुविचार बारम्बार उनके चित्त में आने लगे,
आनन्द और प्रसन्नता के भाव सब जाने लगे।
तब व्यग्र होकर वचन वे कहने लगे भगवान से,
होगी न आतुरता किसे आपत्ति के अनुमान से?

५३—"हे मित्र! मेरा मन न जानें हो रहा क्यों व्यस्त है,
इस समय पल पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो,
भगवान! मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो॥"

५४—बहु भाँति तब सर्वज्ञ हरि ने शीघ्र समझाया उन्हें,
सुन कर मधुर उनके वचन सन्तोष कुछ आया उन्हें।
पर, स्वजन चिन्ता रज्जु-बन्धन है कदापि न टूटता,
जो भाव जम जाता हृदय में वह न सहसा छूटता॥

५५—करते हुए निज चित्त में नाना विचार नये नये,
निज भाइयों के पास आतुर आर्त अर्जुन आगये।
तप-तप्त तरुओं के सदृश तब देख कर तापित उन्हें,
व्याकुल हुए वे और भी कर कुशल विज्ञापित उन्हें॥

१ अर्जुन

५६—अवलोकते ही हरि-सहित अपने समक्ष उन्हें खड़े,
फिर धर्म्मराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो पड़े
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे,
फिर दुःख के वे दृश्य उनकी दृष्टि में फिरने लगे॥

५७—कहते हुए कारुण्य-वाणी दीन हो उस काल में,
देखे गये इस भाँति वे जलते हुए दुख-ज्वाल में।
व्याकुल हुए खग-वृन्द के चीत्कार से पूरित सभी—
दावाग्नि-कवलित[1]-वृक्ष ज्यों देता दिखाई है कभी॥

५८—"हे हे जनार्दन! आपने यह क्या दिखाया है हमें?
हे देव! किस दुर्भाग्य से यह दुःख आया है हमें?
हा! आप के रहते हुए भी आज यह क्या हो गया?
अभिमन्युरूपी रत्न जो सहसा हमारा खो गया।

५९—"निज राज्य लेने से हमें हे तात! अब क्या काम है?
होता अहो। फिर व्यर्थ ही क्यों यह महासंग्राम है?
क्या यह हमारी हानि भारी, राज्य से मिट जायगी?
त्रैलोक्य की भी सम्पदा उस रत्न को क्या पायगी?

६०—"मेरे लिए ही भेद करके व्यूह द्रोणाचार्य्य का,
मारे सहस्रों शूर उसने ध्यान धर प्रिय-कार्य्य का।
पर अन्त में अन्याय से निरुपाय हो कर के वहाँ—
हा! हन्त! वह हत हो गया, पाऊँ उसे अब मैं कहाँ?

१ दावाग्नि ने बनाया है ग्रास जिसे।

६१—"उद्योग हम सबने बहुत उसके बचाने का किया,
पर खल जयद्रथ ने हमें भीतर नहीं जाने दिया।
रहते हुए भी सो हमारे, युद्ध में वह हत हुआ;
अब क्या रहा, सर्वस्व ही हा! हा! हमारा गत हुआ॥

६२—"पापी जयद्रथ पार उससे जब न रण में पा सका,
उस वीर के जीते हुए सम्मुख न जब वह जा सका।
तब मृतक उसको देख सिर पर चरण रक्खा नीच ने,
हा! हा! न यों मनुजत्व को भी स्मरण रक्खा नीच ने॥"

६३—श्रीकृष्ण से जब जेष्ठ पाण्डव थे वचन यों कह रहे,
अर्जुन हृदय पर हाथ रक्खे थे महा-दुख सह रहे।
'हा पुत्र!' कह कर शीघ्र ही फिर वे मही पर गिर पड़े,
क्या वज्र गिरने पर बड़े भी वृक्ष रह सकते खड़े?

६४—जो शस्त्र शत शत शत्रुओं के सहन करते थे कड़े,
वे पार्थ ही इस शोक के आघात से जब गिर पड़े।
तब और साधारण जनों के दुःख की है क्या कथा?
होती अतीव अपार है सुत-शोक की दुःसह व्यथा॥

६५—यों देख भक्तों को प्रपीड़ित शोक के अति भार से,
कुछ द्रवित अच्युत भी हुए कारुण्य के सञ्चार से।
तल-मध्य अनल-स्फोट से भूकम्प होता है जहाँ,
होते विकम्पित से नहीं क्या अचल भूधर भी वहाँ?

तृतीय सर्ग

१—श्रीवत्सलाञ्छन विष्णु तब कह कर वचन प्रज्ञा[1]-पगे,
धीरज बँधा कर पाण्डवों को शीघ्र समझाने लगे।
हरने लगे सब शोक उनका ज्ञान के आलोक में,
कुछ शान्ति देती है बड़ों की सान्त्वना ही शोक में ॥

२—"हे हे परन्तप ! ताप सह कर चित्त में धीरज धरो,
हे धीर भारत ! हो न आरत, शोक को कुछ कम करो।
पड़ता समय है वीर पर ही, भीरु-कायर पर नहीं;
दृढ़ भाव अपना विपद में भी भूलते बुधवर नहीं ॥

३—"निज जन-विरह के शोक का दुख-दाह कौन न जानता ?
पर, मृत्यु का होना न जग में कौन निश्चित मानता ?
सहनी नहीं पड़ती किसे प्रिय-विरह की दुस्सह-व्यथा ?
क्या फिर हमें कहनी पड़ेगी आज गीता की कथा ?

४—"आते बुरे दिन बीतने पर मनुज के जग में जहाँ,
जाते हुए कोई न कोई दुःख दे जाते वहाँ।
अतएव अब निश्चय तुम्हारे उदय का आरम्भ है,
होगा अधिक अब दुःख क्या ? यह सब दुखों का खम्भ है ॥

५—"जिस ज्ञान के बल से अनेकों विपद-नद तरते रहे,
जिस ज्ञान के बल से सदा ही धैर्य्य तुम धरते रहे।
हे बुद्धिमानों के शिरोमणि ! ज्ञान अब वह है कहाँ ?
अवलम्ब उसका ही तुम्हें लेना उचित है फिर यहाँ ॥

१ बुद्धि।

६—"निश्चय विरह अभिमन्यु का है दुःखदायी सर्वथा,
पर सहन करनी चाहिए फिर भी किसी विध यह व्यथा।
रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,
है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा?

७—"हे वीर! देखो तो, तुम्हें यों देख कर रोते हुए,
हैं हँस रहे सब शत्रुजन मन में मुदित होते हुए।
क्या इस महा अपमान का कुछ भी न तुमको ध्यान है?
क्या ज्ञानियों को भी विपद में त्याग देता ज्ञान है?

८—"तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है?
हे अनघ! क्या यह विज्ञता भी आज तुमने दूर की?
होती परीक्षा ताप में ही स्वर्ण के सम शूर की॥

९—"जिस बात से निज वैरियों को स्वल्प सा भी हर्ष हो,
है योग्य उसका त्याग ही, बाधा न क्यों दुर्द्धर्ष हो।
वह वीर ही क्या, शत्रु का सुख-हेतु हो जो आप ही,
निज शत्रुओं का तो बढ़ाना चाहिए सन्ताप ही॥

१०—"जिन पामरों ने सर्वदा ही दुःख तुमको है दिया,
षड्यंत्र रच रच कर अनेकों विभव सारा हर लिया।
उन पापियों के देखते है योग्य क्या रोना तुम्हें?
निजशत्रु-सम्मुख तो उचित है मुदित ही होना तुम्हें॥

११—"निज सहचरों का शोक तो आजन्म रहता है बना,
पर चाहिए सब को सदा कर्त्तव्य अपना पालना।
हे विज्ञ ! सो सब सोच कर यों शोक में न रहो पड़े,
लो शीघ्र बदला वैरियों से, धैर्य्य धर कर हो खड़े ॥

१२—"मारा जिन्होंने युद्ध में अभिमन्यु को अन्याय से,
सर्वस्व मानों है हमारा हर लिया दुरुपाय से।
हे वीरवर ! इस पाप का फल क्या उन्हें दोगे नहीं ?
इस वैर का बदला कहो, क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं ?"

१३—श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
सब शोक अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे।
"संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े,"
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठ कर खड़े ॥

१४—उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा,
मानों हवा के ज़ोर से सोता हुआ सागर जगा।
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?

१५—युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से,
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार से।
निश्चय अरुणिमा-मिस अनल की जल उठी वह ज्वाल ही,
तब तो दृगों का जल गया शोकाश्रुजल तत्काल ही ॥

१६—तब निकल कर नासा-पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों,
करने लगा निश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों—
जिस भाँति हरने पर किसी के, प्राण से भी प्रिय मणी,
करके स्फुरित फिर फिर फणा फुङ्कार भरता है फणी[1] ॥

१७—करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए—
दो पद्म शुण्डों में लिये दो शुण्डवाला गज कहीं,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा वहीं !

१८—दुर्द्धर्ष, जलते से हुए, उत्ताप के उत्कर्ष से,
कहने लगे तब वे अरिन्दम वचन व्यक्त अमर्ष से।
प्रत्येक पल में चञ्चला की दीप्ति दमका कर घनी,
गम्भीर सागर सम यथा करते जलद धीरध्वनी ॥

१९—"साक्षी रहे संसार सब, करता प्रतिज्ञा पार्थ मैं,
पूरा करूँगा कार्य सब कथनानुसार यथार्थ मैं।
जो एक बालक को कपट से मार कर हँसते अभी,
वे शत्रु सत्वर शोक सागर-मग्न दीखेंगे सभी ॥"

२०—"अभिमन्यु-धन के निधन में कारण हुआ जो मूल है,
इससे हमारे हतहृदय का हो रहा जो शूल है।
उस खल-जयद्रथ को जगत में मृत्यु ही अब सार है,
उन्मुक्त बस उसके लिए रौरव नरक का द्वार है ॥"

[1] सर्प ।

२१—"तज धार्तराष्ट्रों को सवेरे दीन होकर जो कहीं,
श्रीकृष्ण और अजातरिपु के शरण वह होगा नहीं।
तो काल भी चाहे स्वयं हो जाय उसके पक्ष में,
तो भी उसे मैं वध करूँगा प्राप्त कर शर-लक्ष में ॥"

२२—"सुर, नर, असुर, गन्धर्व, किन्नर आदि कोई भी कहीं,
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकते नहीं।
चाहे चराचर विश्व भी उसके कुशल-हित हो खड़ा,
भू-लुठित कलरव[1]-तुल्य उसका शीश लोटेगा पड़ा ॥"

२३—"उपयुक्त उस खल को न यद्यपि मृत्यु का भी दण्ड है,
पर मृत्यु से बढ़ कर न जग में दण्ड और प्रचण्ड है।
अतएव कल उस नीच को रण-मध्य जो मारूँ न मैं,
तो सत्य कहता हूँ कभी शस्त्रास्त्र फिर धारूँ न मैं ॥"

२४—"हे देव अच्युत! आप के सम्मुख प्रतिज्ञा है यही,
मैं कल जयद्रथ-वध करूँगा, वचन कहता हूँ सही।
यदि मार कर कल मैं उसे यमलोक पहुँचाऊँ नहीं,
तो पुण्य-गति को मैं कभी परलोक में पाऊँ नहीं ॥"

२५—"पापी जयद्रथ! हो चुका तेरा वयो-विस्तार है,
मेरे करों से अब नहीं तेरा कहीं निस्तार है।
दुर्वृत्त! तेरा त्राण अब कोई न कर सकता कहीं,
वीर प्रतिज्ञा विश्व में होती असत्य कभी नहीं ॥"

[1] कोटन कबूतर।

२६—"विषधर बनेगा रोष मेरा खल ! तुझे पाताल में,
दावाग्नि होगा विपिन में, वाड़व जलधि जल जाल में।
जो व्योम में तू जायगा तो वज्र वह बन जायगा,
चाहे जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा ॥"

२७—"छोटे बड़े जितने जगत में पुण्य-नाशक पाप हैं,
लौकिक तथा जो पारलौकिक तीक्ष्णतर सन्ताप हैं।
हों प्राप्त वे सब सर्वदा को तो विलम्ब विना मुझे,
कल युद्ध में सन्ध्या समय तक, जो न मैं मारूँ तुझे॥"

२८—"अथवा अधिक कहना वृथा है, पार्थ का प्रण है यही,
साक्षी रहें सुन ये वचन रवि, शशि, अनल, अम्बर मही।
सूर्य्यास्त से पहले न जो मैं कल जयद्रथ-वध करूँ,
तो शपथ करता हूँ स्वयं मैं ही अनल में जल मरूँ॥"

२९— करके प्रतिज्ञा यों किरीटी क्रोध के उद्गार से,
करने लगे घोषित दिशाएँ धनुष की टङ्कार से।
उस समय उनकी दीप्ति ने वह दृश्य याद करा दिया,
जब शार्ङ्गपाणि उपेन्द्र ने था रोष असुरों पर किया॥

३०—सुन पार्थ का प्रण रौद्र रस में वीर सब बहने लगे,
कह 'साधु साधु' प्रसन्न हो श्रीकृष्ण फिर कहने लगे।
"यह भारती है वीर भारत ! योग्य ही तुमने कही,
निज वैरियों के विषय में कर्त्तव्य है समुचित यही॥"

३१—इसके अनन्तर मुदित माधव कम्बु-रव[1] करने लगे,
प्रण के विषय में पाण्डवों का सोच-सा हरने लगे।
प्रिय-पाञ्चजन्य करस्थ हो मुख-लग्न यों शोभित हुआ,
कल-हंस मानों कञ्ज-वन में आगया लोभित हुआ॥

३२—फिर भीम-अर्जुन आदि भी निज-शङ्ख-रव करने लगे,
पीछे उन्हीं के सैन्य में रण-वाद्य मन हरने लगे।
तब गूँज कर वह घोर-रव सब ओर यों भरने लगा,
मानों चराचर विश्व को ही नादमय करने लगा॥

३३—करके श्रवण उस नाद को कौरव बहुत शङ्कित हुए,
नाना-नवीन विचार उनके चित्त में अङ्कित हुए।
पार्थ-प्रतिज्ञा भी उन्होंने दूत के द्वारा सुनी,
ज्यों दैत्य-गण ने जिष्णुजय[2] जीमूत[3] के द्वारा सुनी॥

३४—ग्रीष्मान्त में घन-नाद सुन कर भीत होता हंस ज्यों,
व्याकुल हुआ यह बात सुन कर सिन्धुराज नृशंस त्यों।
प्रत्यक्ष-सा निजरूप उसको मृत्यु दिखलाने लगी,
दावाग्नि-सम बढ़ती हुई वह निकट-सी आने लगी॥

३५—कर्तव्य-मूढ़ समान वह चिन्ताग्नि में जलने लगा,
निज कृत्य बारंबार उसको चित्त में खलने लगा।
देखा न और पदार्थ कोई प्राण से प्यारा कहीं,
है वस्तु अप्रिय अन्य जग में मृत्यु से बढ़ कर नहीं॥

१ शंख का शब्द। २ जिष्णु=इन्द्र। ३ जीमूत=मेघ।

३६—संसार में आशा उसे कुछ भी न जीवन की रही,
बस दीखने उसको लगी निज मृत्युमय सारी मही।
तब वह सुयोधन के निकट आया फँसा भयजाल में,
गति है न अन्य सुहृज्जनों से भिन्न आपत्काल में॥

३७— कारण समझ कर भी उसे व्याकुल विलोका जब वहाँ,
पूछा सुयोधन ने स्वयं भय-हेतु उससे तब वहाँ।
अतएव मानो शीघ्र ही सर्वस्व से जाकर ठगा,
भय से विकृत अप्रकृत-स्वर से वचन वह कहने लगा॥

३८—"जो प्रण किया है पार्थ ने सुत-शोक के सन्ताप से,
हे कुरुकुलोत्तम! क्या अभी तक वह छिपा है आपसे?
'मारूँ जयद्रथ को न कल मैं तो अनल में जल मरूँ,'
की है यही उसने प्रतिज्ञा, अब कहो मैं क्या करूँ?"

३९—"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए॥"

४०—"मैं सत्य कहता हूँ, नहीं है मृत्यु की शङ्का मुझे;
सब दीख जीवन-दीप बुझते हैं, बुझेंगे, हैं बुझे।
है किन्तु मुझको चित्त में चिन्ता प्रबल केवल यही,
फिर देख पाऊँगा तुम्हारी मैं न निष्कण्टक मही॥"

४१—इस भाँति उसके सुन वचन कुरुराज बोला प्रेम से;
"हे वीर ! तुम निर्भय तथा निःशङ्क सोओ क्षेम से।
जब तक हमारे पक्ष का जन एक भी जीवन धरे,
है कौन ऐसा जो तुम्हारा बाल भी बाँका करे ?

४२—"यह प्रण हमारे भाग्य से ही है धनञ्जय ने किया,
होगी सहज ही में हमारी अब सफल सारी क्रिया।
कर्णादि के रहते हुए क्या वह सफलता पायगा ?
कल शाम को जल कर अनल में वह स्वयं मर जायगा॥

४३—"अर्जुन बिना जीवित रहेंगे धर्मराज नहीं कभी,
सो यों स्वयं ही रिपु हमारे नष्ट अब होंगे सभी।
कृप, कर्ण, द्रोणाचार्य्य जिसके त्राण के हित हों खड़े,
बस जान लो सब शत्रु उसके मृत्यु के मुख में पड़े॥

४४—"अन्यत्र जाने की अपेक्षा योग्य है रहना यहीं,
रक्षा तुम्हारी विश्व में अन्यत्र सम्भव है नहीं।
क्या द्रोण, कर्ण, कृपादि से बलवान कोई है कहीं ?
रक्षक जहाँ आत्मीय जन हों योग्य है रहना वहीं॥"

४५—कह कर वचन कुरुराज ने यों जब उसे धीरज दिया,
हो स्वस्थ तब उसने नृपति का बहुत अभिनन्दन किया।
कर्णादि ने भी दूर की बहु भाँति उसकी यन्त्रणा,
करने लगे फिर अन्त में सब युद्ध विषयक मन्त्रणा॥

× × × × × ×

४६— इस ओर देकर पाण्डवों को शान्तिदायी सान्त्वना,
सौभद्र-शव-संस्कार की श्रीकृष्ण ने की योजना।
कृष्णादि से वेष्टित उसे भगवान ने देखा तथा,
मुरझी लताओं के निकट सूखा प्रसून पड़ा यथा!

४७—कृष्णा, सुभद्रा आदि को अवलोक कर रोते हुए,
हरि के हृदय में भी वहाँ कुछ कुछ करुणरस-कण चुए।
आते हुए अवलोक उनको देहभान विसार के,
बोली सुभद्रा-मृतकवत्सा गो-समान-पुकार के॥

४८—"भैया, कहो मेरे दृगों का आज तारा है कहाँ?
मुझ दुःखिनी हतभागिनी का सौख्य सारा है कहाँ?
सम्पूर्ण गुण-सम्पन्न वह अनुचर तुम्हारा है कहाँ?
हा! पाण्डुवंश-प्रदीप अब अभिमन्यु प्यारा है कहाँ?

४९—"भैया! तुम्हें क्या विश्व में मुझको दिखाना था यही?
हा! जल गया यह हतहृदय, दृग-ज्योति सब जाती रही!
तव काल-गति के मार्ग में अभिमन्यु ही था क्या अहो?
करुणानिधे! करुणा तुम्हारी हाय! यह कैसी कहो?"

५०—रोने लगी यों कह सुभद्रा दुःख-वेग न सह सकी,
पर रुद्धकण्ठा द्रौपदी कुछ भी न उनसे कह सकी।
बस, अश्रु-पूर्ण विलोचनों से देखकर हरि को वहाँ,
निर्जीव सी वह रह गई बैठी जहाँ की ही तहाँ॥

५१—मानों गिरा भी कह सकी पीड़ा न उसकी हार के,
अतएव वह चुप रह गई हरि के समक्ष निहार के।
पर अश्रुजल-अवरुद्ध उसकी दृष्टि ने मानों कहा—
'अब और क्या इस दुःखिनी को देखना बाक़ी रहा?'

५२—यों जान कर सब को दुखी, लख उत्तरा-उत्ताप को,
भूले रहे भगवान भी कुछ देर अपने आपको।
फिर रोक करुणा-वेग सबको शीघ्र समझाने लगे,
उस शोकसागर से उन्हें तट ओर ले जाने लगे॥

५३—"धीरज धरो कृष्णे, अहो! भद्रे सुभद्रे! शान्त हो,
है गति यही तनुधारियों की शोक से मत भ्रान्त हो।
यह कौन कह सकता कि अब अभिमन्यु जीवित है नहीं?
जग में सदा को कीर्ति करना है भला मरना कहीं?

५४—"जब तक प्रकाश समर्थ होगा अन्धकार-विनाश में,
जब तक उदित होते रहेंगे सूर्य्य-शशि आकाश में।
अभिमन्यु का विश्रुत रहेगा नाम तब तक सब कहीं,
नश्वर जगत में जन्म लेकर वीर मरते ही नहीं॥

५५—"आजन्म तप करके कठिन मुनि भी न जा सकते जहाँ,
संसार के बन्धन कभी कोई न आ सकते जहाँ।
अक्षय्य सब सुख हैं जहाँ दुख एक भी होता नहीं,
सच मान कर मेरे वचन अभिमन्यु को जानों वहीं॥

५६—"वह वीर नश्वर देह तजकर आप तो है ही जिया,
पर, सत्य समझो, है तुम्हे भी अमर उसने कर दिया
ऐसे समर्थ सपूत का तुम शोक करती हो अहो !
उसकी सहज की मृत्यु में गौरव कहाँ था यह कहो ?"

५७—कह कर वचन भगवान ने यों ज्ञान जब उनको दिया,
कुछ शान्त जब हरि-सान्त्वना से हो गया उनका हिया।
तब युग दृगों से दुःखमय अविरल सलिल-धारा बहा,
पाकर तनिक अवलम्ब सा यों याज्ञसेनी ने कहा ॥

५८—"धिक्कार है हे तात ! ऐसी अमरता परलोक में,
जीना किसे स्वीकार है आजन्म रह कर शोक में ?
पूरे हुए हैं क्या हमारे पूर्व-पाप नहीं अभी ?
हा ! वह हमारा पुत्र प्यारा फिर मिलेगा क्या कभी ?

५९—"अभिमन्यु को मृत देख कर भी हाय ! मैं जीती रही,
हा ! क्यों न मुझ हतभागिनी के अर्थ फट जाती मही !
दुख भोगने ही के लिए क्या जन्म है मेरा हुआ ?
हा ! कब रहा जीवन न मेरा शोक से घेरा हुआ ?

६०—"मेरे हृदय के हर्ष हा ! अभिमन्यु, अब तू है कहाँ ?
दृग खोल कर बेटा, तनिक तो देख हम सबको यहाँ।
मामा खड़े हैं पास तेरे, तू मही पर है पड़ा !
निज गुरुजनों के मान का तो ध्यान था तुझको बड़ा ॥

६१—"व्याकुल तनिक भी देख कर तू धैर्य्य देता था मुझे,
पर आज मेरे पुत्र प्यारे, हो गया है क्या तुझे ?
धात्री[1] सुभद्रा को समझ कर माँ मुझे था मानता,
पर आज तू ऐसा हुआ मानों न था पहचानता !

६२—"हा ! पाँच ग्रामों की बुरी वह सन्धि जब होने लगी,
सुन कर तथा उस बात को जब मैं बहुत रोने लगी।
क्या याद है ? था पाण्डवों के सामने तू ने कहा—
'स्वीकृत नहीं यह सन्धि मुझ को, माँ ! न तू आँसू बहा' ॥

६३—"रहते हुए भी शस्त्रधारी पाण्डवों के साथ में,
हा ! तू अकेला हत हुआ पड़ पापियों के हाथ में।
कोई न कुछ भी कर सका ऐसा अनर्थ हुआ किया,
धिक् पाण्डवों की शूरता, धिक् शस्त्र धारण की क्रिया ॥"

६४—कहती हुई यों द्रौपदी का कण्ठ गद्गद हो गया,
विष-वेग के सम शोक से चैतन्य उसका खो गया।
हरि ने सजग कर तब उसे व्यजनादि के उपचार से,
दी सान्त्वना समयोपयोगी ज्ञान के विस्तार से ॥

६५—"अभिमन्यु के दर्शन विना तुमको न रोना चाहिए,
उसकी परम-पद-प्राप्ति सुन कर शान्त होना चाहिए।
ले जन्म क्षणभंगुर-जगत में कौन मरता है नहीं ?
पर है उचित मरना जहाँ पर वीर मरते हैं वहीं ॥

१ धाय।

६६—"अभिमन्यु के घातक सभी अति शीघ्र मारे जायँगे,
तुम स्वस्थ हो, इस पाप का वे दण्ड पूरा पायँगे।
करते अभी तक पार्थ थे जो युद्ध करुणाधीन हो,
बन जायँगे अब रुद्र रण में, रोष में अति लीन हो॥

६७—"होगा जयद्रथ कल निहत, प्रण कर चुके अर्जुन अभी;
धीरज धरो अतएव मन में शान्त होकर तुम सभी।
दो धैर्य्य मेरी ओर से, सब उत्तरा के चित्त को,
सुत-रूप में वह पायगी खोये हुए निज वित्त[1] को॥"

६८—श्रीकृष्ण ने इस भाँति सबको लीन करके ज्ञान में,
प्रस्तुत कराई शीघ्र ही चन्दन-चिता सु-स्थान में।
अभिमन्यु का मृत देह उस पर शान्ति से रक्खा गया,
ज्यों क्रूरता की गोद में कारुण्य का भाजन नया॥

६९—होकर ज्वलित तत्क्षण चिता की ज्वाल ने नभ को छुआ,
पर उस वियोग-विपत्ति-विधुरा उत्तरा का क्या हुआ?
उस दग्धहृदया को मरण भी हो गया दुर्लभ बड़ा,
वह गर्भिणी थी, इसलिए निज तनु उसे रखना पड़ा॥

७०—अभिमन्यु का तनु जल गया तत्काल ज्वाला-जाल से,
पर कीर्ति नष्ट न हो सकी उस वीरवर की काल से।
अच्छा-बुरा बस नाम ही रहता सदा है लोक में,
वह धन्य है जिसके लिए हों लीन सज्जन शोक में॥

---

१ धन।

चतुर्थ सर्ग

१—इसके अनन्तर कृष्ण ने सबको बहुत धीरज दिया,
फिर आर्त-अर्जुन को वहाँ इस भाँति उत्तेजित किया।
"अत्यन्त रोषावेग में तुमने किया है प्रण कड़ा,
अब यत्न क्या इसका सधे ? यह कार्य्य है दुष्कर बड़ा ॥"

२—यों सुन वचन गोविन्द के निर्भय धनञ्जय ने कहा,
(वीरत्व-करुणा-शान्ति का त्रिस्रोत गङ्गाजल बहा)
"निश्चय मरेगा कल जयद्रथ, प्राप्त होगी जय मुझे,
हे देव ! मेरे यत्न तुम हो, मत दिखाओ भय मुझे ॥"

३—कहते हुए यों पार्थ के दो बूँद आँसू गिर पड़े,
मानो हुए दो सीपियों से व्यक्त दो मोती बड़े।
फिर मौन होकर निज शिविर में वे तुरन्त चले गये,
छलने चले थे भक्त को, भगवान आप छले गये ॥

४—हर शोक पाण्डव-पक्ष का निज शिविर में हरि भी गये,
फिर शीघ्र ही भगवान ने प्रकटित किये कौतुक नये।
कर योगमाया को सजग निद्रित जगत की व्याप्ति को,
झट ले चले वे पार्थ को शिव-निकट अस्त्र-प्राप्ति को ॥

५—लख प्राकृतिक छवि मार्ग में गिरि-वन-नदी-नभ की नई,
विस्मित हुए अत्यन्त अर्जुन, आत्म विस्मृति हो गई।
उस काल उनका शोक भी चिन्ता सहित जाता रहा,
हो प्रेम से पुलकित उन्होंने यों रमापति से कहा ॥

६—"महिमा तुम्हारी दीखती सब ओर ही अद्भुत हरे !
कौशल तुम्हारे हैं सभी अत्यन्त अनुपमता भरे।
करती प्रकाशित नित्य नूतन छवि तुम्हारी सृष्टि है,
पडती जहाँ अड़ती वहीं, हटती नहीं फिर दृष्टि है॥

७—"आकाश में चलते हुए यों छवि दिखाई दे रही—
मानों जगत को गोद लेकर मोद देती है मही।
उन्नत हिमाचल से धवल यह सुरसरी यों टूटती,
मानों पयोधर से धरा के दुग्ध धारा छूटती॥

८—"निद्रित दशा में सृष्टि सारी पा रही विश्राम है,
निस्तब्ध-निश्चल-प्रकृति की शोभा परम अभिराम है।
भूषण-सदृश उडुगण हुए, मुख-चन्द्र-शोभा छा रही,
विमलाम्बरा[1] रजनी-वधू अभिसारिका सी जा रही॥

९—"खग वृन्द सोता है अतः कलकल नहीं होता जहाँ,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ।
अतएव धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा,
यों दीखते हैं वृक्ष ये हों विश्व के प्रहरी यथा॥

१०—"कर पार गिरि-वन-नद यदपि कैलास को हम जा रहे,
पर दृश्य आगे के स्वयं मानों निकट सब आ रहे।
गोविन्द ! पीछे तो अहो ! देखो तनिक दृग फेर के,
नभ कर रहा है लीन सा क्रम से जगत को घेर के॥

१ निर्मल आकाशवाली और निर्मल वस्त्रवाली।

११—मधु-गन्ध मणि-मय-मन्दिरों से फैलती सुन्दर जहाँ,
यह दीखती अलकापुरी, उपमा अहो ! इसकी कहाँ ?
गाते प्रियाओं के सहित रस-राग यक्ष जहाँ तहाँ,
प्रत्यक्ष सी उत्तर दिशा की दीखती लक्ष्मी यहाँ ॥"

१२—कहते हुए यों पार्थ पर सहसा उदासी छा गई,
'उत्तर' दिशा से 'उत्तरा' की याद उनको आ गई।
हा ! निज जनों का शोक सबको स्वप्न में भी सालता,
मृत-बन्धुओं का ध्यान ही मन को विकल कर डालता ॥

१३—बोले वचन भगवान तब उनसे प्रचुर-प्रियता-पगे,
"हे वीर-भारत ! व्यर्थ को फिर व्यग्र तुम होने लगे।
अब तक तुम्हारा शोक क्या यह पूर्ववत् अनिवार्य्य है ?
दुर्बल बना कर मोह मन को नष्ट करता कार्य्य है ॥"

१४—श्रीकृष्ण के सुन वचन कुछ उत्तर न अर्जुन ने दिया,
अतएव उनके स्कन्ध पर हरि ने करारोपण किया।
तब पड़ गये अवसन्न वे वैचित्र्य की-सी वृष्टि में,
था वह नितान्त नवीन जो कुछ दृश्य आया दृष्टि में ॥

१५—देखा उन्होंने तब कि मानों वे बहुत ऊपर गये,
रवि-चन्द्र लोकों के मिले बहु दिव्य, दृश्य नये नये।
चलते हुए यों अन्त में वैकुण्ठ दीख पड़ा उन्हें,
अवलोक उसकी छवि हुआ आश्चर्य्य-हर्ष बड़ा उन्हें ॥

१६—उज्ज्वल-मनोरम थी वहाँ की भूमि सारी स्वर्ण की,
थीं जड़ रहीं जिसमें विपुल-मणियाँ अनेकों वर्ण की।
प्रत्येक पथ के पार्श्व में फूले हुए बहु फूल थे,
उड़ते हुए जिनके रजःकण दिव्य-शोभा-मूल थे॥

१७—जिनके सुधामय विमल-जल कोमल-सुगन्धि-सने हुए,
कुण्डादि सलिलाशय रुचिर थे ठौर ठौर बने हुए।
जोड़े मिलिन्दों के मुदित जिनसे मनोज्ञ मिले हुए,
नलिनी-नलिन आदिक जलज थे एक साथ खिले हुए॥

१८—जिन पर कहीं मणि की शिलाएँ, तृण-वितान कहीं कहीं,
छोटे बड़े क्रीड़ाद्रि[1] थे शोभायमान कहीं कहीं।
थे नाचते केकी[2] कहीं, थे हंस-पुञ्ज कहीं कहीं;
निर्झर कहीं थे झर रहे, थे रम्य कुञ्ज कहीं कहीं॥

१६—सब लोग अजरामर वहाँ के रूपवान विशेष थे,
बलवान, शिष्ट, वरिष्ठ, जिनके दृग सदा अनिमेष थे।
सब अङ्ग सुगठित श्रेष्ठ सबके, स्वर्ण-वर्ण अशेष थे;
वर्णन किये जाते नहीं, जैसे मनोहर वेश थे॥

२०—हाँ देख कर लज्जित जिन्हें काश्मीर-कुंकुम-क्यारियाँ,
थीं ठौर ठौर विहार करतीं सुन्दरी सुर-नारियाँ।
सबके मुखों पर छा रही थी हर्ष की दिव्य-प्रभा,
मानों असंख्य-सुधाकरों की थी वहाँ शोभित सभा॥

१ क्रीड़ा के पर्वत। २ मोर।

२१—सुरगण कहीं वीणा बजा कर हरि-चरित थे गा रहे,
कोई कहीं थे आ रहे, कोई कहीं थे जा रहे।
सर्वत्र क्रीड़ाएँ रुचिर बहु भाँति की थीं हो रहीं,
थी भद्र-भावों की हुई पूरी पराकाष्ठा वहीं ॥

२२—दुख, शोक, आधिव्याधि, चिन्ता ये न कोई थीं वहाँ,
आनन्द, उत्सव, प्रेम के ही साज थे देखो जहाँ।
मद-मोह-राग-द्वेष के थे चिन्ह भी मिलते नहीं,
सर्वत्र शान्ति, पवित्रता थी, पाप-ताप न थे कहीं ॥

२३—इस जन्म में वैकुण्ठ था देखा न अर्जुन ने कभी,
प्रच्छन्न[1] भित्ति, कपाट आदिक, रत्न-विरचित थे सभी।
बहु वर्ण-किरणों का रुचिर आलोक अति उद्दण्ड था,
देखा हुआ मार्तण्ड मानों एक उसका खण्ड था ॥

२४—जाती जहाँ तक दृष्टि थी मिलता न उसका छोर था,
मन्दार कल्पादिक द्रुमों का दृश्य चारों ओर था।
अद्भुत-अनेकों रङ्ग के स्वच्छन्द खग थे गा रहे,
शीतल-सुगन्ध-समीर के थे मन्द झोंके आ रहे ॥

२५—फिर आप से ही आप वे हरि-धाम में खिँच-से गये,
देखा वहाँ का दृश्य जब युग नेत्र तब भिँच-से गये।
सिंहासनस्थ रमा सहित शोभित वहाँ भगवान थे,
घन-दामिनी जिनके यथा-छाया-प्रकाश-समान थे ॥

१ झरोखा।

२६—थी चञ्चला[1] अचला[2] जहाँ, सर्वेश शोभित थे जहाँ;
वैभव वहाँ का सा भला त्रैलोक्य में होगा कहाँ ?
अवलोक आभूषण-छटा होती अनल की भ्रान्ति थी,
करती अतिक्रम किन्तु उसको दिव्य उनकी कान्ति थी॥

२७—सानन्द सिंहासन निकट थीं सिद्धियाँ सारी खड़ीं,
थीं व्यक्त रति, मति, धृति, क्षमादिक शान्तियुत प्यारी बड़ीं।
शिव, विधि, सुरप, रवि, शशि, यमादिक भक्ति से थे भर रहे,
करते हुए मुसकान हरि सब पर कृपा थे कर रहे॥

२८—इसके अनन्तर पार्थ ने परिपूर्ण प्रेम उमङ्ग में,
आता हुआ अभिमन्यु देखा जय-विजय के सङ्ग में।
अवलोक उसको सुध उन्हें कुछ भी रही न शरीर की,
शोभा सहस्र गुनी प्रथम से थी अधिक उस वीर की॥

२९—कर जोड़ कर अभिमन्यु ने प्रभु को प्रणाम किया वहाँ,
फिर सब सुरों को सिर झुकाकर स्वस्तिवाद लिया वहाँ।
सब देव उसके कर्म्म का सम्मान अति करने लगे,
उस काल मानो पार्थ सुख के सिन्धु में तरने लगे॥

३०—था जो अशेष-अभीष्ट-दायक, नित्य रहता था खिला;
वात्सल्य-युत अभिमन्यु को वह पद्म पद्मा[3] से मिला।
तब दिव्य-दशनों से प्रभा की वृष्टि-सी करते हुए,
बोले स्वयं भगवान यों सबके हृदय हरते हुए॥

१ लक्ष्मी। २ स्थिर। ३ लक्ष्मी।

३१—"सन्तुष्ट तूने है किया निज धर्म्मपालन से मुझे,
सौभद्र ! निज सामीप्य में देता सदा को हूँ तुझे।
पर और भी कुछ माँग तू, वर वृत्त तेरा गेय[1] है;
अपने जनों के अर्थ मुझ को कौन वस्तु अदेय है ?"

३२—अति मुग्ध होकर पार्थ ने तब मूँद आँखों को लिया,
पर खोलने पर फिर न वैसा दृश्य दिखलाई दिया।
सुस्मितवदन श्रीकृष्ण को ही सामने देखा खड़ा,
चित्रस्थ से वे रह गये करते हुए विस्मय बड़ा॥

३३—थी जिस समय उस दृश्य से सुध-बुध न अर्जुन को रही,
राजा युधिष्ठिर आदि ने भी स्वप्न में देखा वही।
उस लोक-नाटक-सूत्रधर का ठाठ अति अभिराम है,
वह एक होकर भी सदा करता अनेकों काम है॥

३४—तत्काल अर्जुन से वचन कहने लगे भगवान यों,
"हे वीर, तुम निश्चेष्ट-से क्या कर रहे हो ध्यान यों ?
अब भी तुम्हारा दुःखदायी मोह क्या छूटा नहीं ?
अब भी प्रबल-परतन्त्रता का जाल क्या टूटा नहीं ?

३५—"अभिमन्यु-विषयक शोक जो अब भी तुम्हें हो तो कहो!
गुरु-पुत्र-सम ला दूँ उसे मैं[2] स्वस्थ जिसमें तुम रहो।
पर याद रक्खो बात यह, रहता तनु स्थायी नहीं,
बन्धन विनश्वर-विश्व का है सत्य-सुखदायी नहीं॥

१ गाने के योग्य। २ श्रीकृष्ण भगवान की शिक्षा समाप्त होने पर शिक्षक सान्दीपन मुनि ने उन से गुरुदक्षिणा में अपना मृत पुत्र मांगा था और भगवान ने तत्काल यमपुरी में जाकर उसे ला दिया था।

३६—"सबके अभीष्टस्थान का बस मार्ग ही संसार है,
साफल्य-पूर्वक कर चुका अभिमन्यु उसको पार है।
क्या शोक करना चाहिए उसके लिए मन में तुम्हें ?
वह पुण्य-पद क्या दीखता है विश्व-बन्धन में तुम्हें ?

—"जो धर्म्म-पालन से विमुख, जिसको विषय ही भोग्य है,
संसार में मरना उसी का सोचने के योग्य है।
जो इंद्रियों को जीत कर धर्म्माचरण में लीन है,
उसके मरण का सोच क्या ? वह मुक्त बन्धनहीन है॥

३८—"संसार में सब प्राणियों का देह तक सम्बन्ध है,
पड मोह-बन्धन में मनुज बनता स्वयं ही अन्ध है।
तनु धारियों का बस यहाँ पर चार दिन का मेल है,
इस मेल के ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है॥

३९—"सम्पूर्ण दुःखों का जगत में मोह ही बस मूल है,
भावी विषय पर व्यर्थ मन में शोक करना भूल है।
निज इष्ट-साधन के लिए संसार-धारा में बहे,
पर नीर से नीरज-सदृश उससे अलिप्त बना रहे॥

४०—"उत्पत्ति होती है जहाँ पर नाश भी होता वहाँ,
होता विकाश जहाँ सखे ! है ह्रास भी होता वहाँ।
होता जहाँ पर सौख्य है दुख भी वहाँ अनिवार्य्य है,
करती प्रकृति अविराम अपना नियमपूर्वक कार्य्य है॥

४१—"सुख-दुख-विचार-विहीन तुमको कर्म्म का अधिकार है,
संसार में रहना नहीं, पाना अचल-उद्धार है।
माना न तुमने एक भी, सौ सौ तरह हमने कहा;
अब भी तुम्हारा चित्त क्या व्याकुल विमोहित हो रहा?"

४२—गद्गद हृदय से पार्थ तब बोले वचन श्रद्धा भरे,
"लीला तुम्हारी है विलक्षण हे अखिल-लोचन हरे!
इस आपदा से त्राण मेरा कौन करता तुम बिना?
प्रत्यक्ष दिखला कर सभी दुख कौन हरता तुम बिना?

४३—"जो कुछ दिखाया आज तुमने वह न भूलेगा कभी,
क्या दृष्टि में फिर और ऐसा दृश्य झूलेगा कभी?"
कहते हुए यों पार्थ फिर हरि के पदों में गिर गये,
प्रभु ने किये तब प्रकट उन पर प्रेम-भाव नये नये॥

४४—इसके अनन्तर पार्थ-युत कैलास पर हरि आगये,
मानों सुयश के पुञ्ज पर युग कञ्ज छवि से छा गये।
थी यों शिवा-सेवित वहाँ ध्यानस्थ शंकर की छटा,
मानों सुधांशु-कला-निकट निश्चल शरद की सित घटा॥

४५—अर्जुन समेत रमेश ने गौरीश का वन्दन किया,
उठ शम्भु ने उनका बहुत सानन्द अभिनन्दन किया।
आशीष देकर पार्थ को वन्दन किया भगवान का,
रखते बड़े जन ध्यान हैं सबके उचित-सम्मान का॥

४६—कर पुण्य दर्शन भक्त-युत भगवान का निज गेह में,
कृतकृत्यता मानी गिरिश ने मग्न हो सुस्नेह में।
फिर नम्रता से आगमन का हेतु जब पूछा अहा!
हरि ने कथा कह पार्थ-प्रण की पाशुपत के हित कहा॥

४७—भगवान के उस कथन ने गौरीश को गद्गद किया,
"हे देव! क्या दुर्लभ तुम्हें, बस यह मुझे गौरव दिया।"
कह कर वचन यों तब उन्होंने सोच कर धर्म्मार्थ को,
निज पाशुपत नामक अलौकिक अस्त्र सौंपा पार्थ को॥

४८—वह अस्त्र पाकर पार्थ के औदास्य का उपशम हुआ,
अति तेज उनका वज्रधारी इन्द्र के ही सम हुआ।
समझा मरा ही सा उन्होंने शत्रुवर अपना वहीं,
प्रभु का प्रसाद विशेष करता है कृतार्थ किसे नहीं?

४६—होने लगे फिर हरि विदा सानन्द जब श्रीकण्ठ से,
कर प्रार्थना तब पार्थ बोले प्रेम-गद्गद-कण्ठ से।
"हे भक्त-वत्सल ईश! तुमको बार बार प्रणाम है,
सर्वेश! मंगल कीजियो, 'शंकर' तुम्हारा नाम है॥"

५०—रख हाथ सिर पर शम्भु ने जय-दान अर्जुन को दिया,
प्रस्थान अपने स्थान को हरियुत उन्होंने तब किया,
पहुँचे शिविर में जिस समय वे हो रही थी गत निशा,
कुछ देर में दर्शित हुई द्युति-दृश्य से प्राची दिशा॥

५१—नूतन पवन के मिस प्रकृति ने सांस ली जी खोल के,
गाने लगी श्यामा सुरीले कण्ठ से रस घोल के।
क्या लोक-निद्रा-भङ्ग कर यह वाक्य कुक्कुट ने कहा—
"जागो, उठो, देखो कि नभ मुक्तावली बरसा रहा!"

५२—तमचर उलूकादिक छिपे, जो गर्जते थे रात में;
पाकर अँधेरा ही अधम जन घूमते हैं घात में।
सूखे कुसुम-सम झड़ गये तारागणों के गुच्छ क्या!
निज सत्व रख सकते भला पर-राज्य में हैं तुच्छ क्या!

५३—जब तक हुआ आकाश में दिनकर न आप प्रकाश था,
उसके प्रथम ही हो गया सम्पूर्ण तम का नाश था।
सब कार्य्य कर देता बड़ों का पुण्य-पूर्ण प्रताप ही,
तेजस्वियों के विघ्न सारे दूर होते आप ही॥

५४—विधि-युक्त सूतों ने वहाँ आकर जगाया तब उन्हें,
बातें विमोहित कर रही थीं स्वप्न की वे सब उन्हें।
वे शीघ्र शय्या से उठे गुणगान कर भगवान के;
कर नित्य कृत्य समाप्त फिर पहुँचे सभा में आन के॥

५५—सम्पूर्ण स्वजनों के सहित देखा युधिष्ठिर को वहाँ,
विरुदावली वन्दीजनादिक गान करते थे जहाँ।
सुर गुरु-सहित होती सुशोभित ज्यों सुरेश्वर की सभा,
हरि-युत युधिष्ठिर की सभा त्यों पा रही थी सुप्रभा॥

५६—सबसे मिले अर्जुन वहाँ सानन्द समुचित रीति से,
पूछी कुशल रख हाथ सिर पर धर्म्मसुत ने प्रीति से।
वर्णन धनञ्जय ने किया सब हाल उनसे रात का,
आदेश माँगा अन्त में रण में विपक्ष-विघात का॥

५७—वृत्तान्त उनका श्रवण कर श्रीकृष्ण ओर निहार के,
पुलकित युधिष्ठिर हो गये सुध-बुध समस्त विसार के।
प्रेमाश्रु दीर्घविलोचनों से निकल कर बहने लगे,
फिर भक्ति-विह्वल-कण्ठ से वे यों वचन कहने लगे॥

५८—"कब क्या करोगे तुम जनार्दन ! जानते हो सो तुम्हीं,
हैं ठाठ ये जितने जगत के ठानते हो सो तुम्हीं।
केशव ! तुम्हारे कार्य्य सारे सब प्रकार विचित्र हैं,
सब नेति नेति पुकार कर गाते पवित्र-चरित्र हैं॥

५९—"जैसे सुरों को वज्रधारी शक्र का आधार है,
हे चक्रपाणि हरे ! हमारा सब तुम्हीं पर भार है।
संसार में सब विधि हमारे सर्व-साधन हो तुम्हीं,
तन हो तुम्हीं, मन हो तुम्हीं, धन हो तुम्हीं, जन हो तुम्हीं॥

६०—"मैं बहुत कहना चाहता हूँ, पर कहा जाता नहीं;
आश्चर्य है चुप चाप भी मुझसे रहा जाता नहीं।
भगवान ! भक्तों की भयङ्कर-भूरि-भीति भगाइयो,
इस विपद-पारावार से प्रभु, शीघ्र पार लगाइयो॥

६१—"अब सौंपता अर्जुन अनुज को मैं तुम्हारे हाथ में,
जो योग्य समझो कीजियो, प्रभुवर ! हमारे साथ में।
बस अन्त में विनती यही है छोड कर बातें सभी,
हैं हम तुम्हारे ही सदा, मत भूलियो हमको कभी ॥"

६२—यों कह युधिष्ठिर ने वचन जब मौन धारण कर लिया,
निश्चिन्त कर भगवान ने तब अभयदान उन्हें दिया।
तत्काल ही फिर युद्ध के बाजे वहाँ बजने लगे,
सोत्साह जयजयकार कर सब शूरगण सजने लगे ॥

६३—तब भीम-सात्यकि आदि को रक्षक युधिष्ठिर का बना,
गाण्डीवधारी पार्थ ने समझी सफल निज कामना।
कर वन्दना श्रीकृष्ण की वे शीघ्र ही रथ पर चढ़े,
बलवान वृत्रासुर-निधन को मेघवाहन[1]-सम बढ़े ॥

६४—करते हुए गर्जन गगन में दौड़ते हैं घन यथा,
हय-गज-रथादिक शब्द करते चल पड़े अगणित तथा।
उड़ने लगी सब-ओर रज, होने लगी कम्पित धरा;
मानों न सह कर भार वह ऊपर चली करके त्वरा ॥

६५—पीछे युधिष्ठिर को किये आगे चले अर्जुन बली,
लचने लगे फण शेष के, मचने लगी अति खलबली।
अन्यत्र अनुगामी बडों के सुजन होते सर्वदा,
पर आपदा में दीखते वे अग्रगामी ही सदा ॥

१ मेघवाहन=इन्द्र।

पंचम सर्ग

१—था विकट शकट-व्यूह सम्मुख द्रोण का कोसों अड़ा,
घनकण्टकितवन-तुल्य जिसका भेदना दुष्कर बड़ा।
पीछे जयद्रथ को छिपा है नायकों के साथ में,
आचार्य्य ही थे द्वाररक्षक शस्त्र लेकर हाथ में ॥

२—अवलोक सम्मुख पार्थ ने गुरु को प्रणाम किया अहा,
आशीष दे आचार्य्य ने उनसे प्लुत-स्वर में कहा—
"देकर परीक्षा आज अर्जुन ! तुष्ट तुम मुझको करो,
आओ, दिखाओ हस्त-कौशल, यह समर-सागर तरो ॥"

३—सुत-घातकों को देखते ही पार्थ मानों जल उठे,
मुख-मार्ग से क्या त्वेष ही तो वे वहां न उगल उठे।
"आचार्य ! मेरा हस्त-कौशल देखलेना फिर कभी,
अभिमन्यु का बदला तुम्हें लेकर दिखाना है अभी ॥"

४—इस भाँति बातों में समर का 'श्रीगणेश' हुआ जहाँ,
होने लगा तत्काल ही अति-तुमुल-कोलाहल वहाँ।
ज्यों नीर बरसाते जलद करते हुए गुरु-गर्जना,
लड़ने लगे दोनों प्रबल-दल कर परस्पर तर्जना ॥

५—उस ओर द्रोणाचार्य्य थे, इस ओर अर्जुन वीर थे;
गुरु-शिष्य दोनों छोड़ते तीखे हज़ारों तीर थे।
हैं घोर वाद-विवाद करते दो प्रबल पण्डित यथा,
करने लगे दोनों परस्पर शस्त्र वे खण्डित तथा ॥

६—दोनों रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोड़ते,
जाना न जाता था कि वे कब थे धनुष पर जोड़ते।
थे बाण दोनों के गगन में इस तरह फहरा रहे—
ज्यों ऊर्म्मिमाली में अनेकों उरग-वर लहरा रहे ॥

७—करने लगे दोनों दलों को दलित यों दोनों बली,
कुछ देर ही में रक्त की धारा धरा पर बह चली।
लड़ने लगे सब शूर सैनिक, भीति से कायर भगे;
सानन्द गृद्ध्र, शृगाल आदिक घूमने रण में लगे।

८—आगे न अर्जुन बढ़ सके आचार्य्य-बल वातूल[1] से,
कल्लोल[2] लोल-पयोधि के ज्यों बढ़ न सकते कूल से।
बोले वचन तब पार्थ से हरि "व्यर्थ यह संग्राम है—
है काल थोड़ा और करना बहुत भारी काम है ॥"

९—यों कह वचन श्रीकृष्ण ने रथ अन्य ओर बढ़ा दिया,
चेष्टा बहुत की द्रोण ने, पर क्या हुआ उनका किया?
प्रबल-प्रभञ्जन-वेग-गति रोकी न जा सकी कहीं,
लाचार तब करने लगे वे व्यूह की रक्षा वहीं ॥

१०—रथ देख बढ़ता पार्थ का सम्पूर्ण शत्रु दुखी हुए,
सब शूर पाण्डव पक्ष के कर हर्षनाद सुखी हुए।

१ आँधी, बवंडर । तरङ्ग ।

लड़ने युधिष्ठिर से लगे तब द्रोण बढ़ कर सामने,
संग्राम जैसे था किया गाङ्गेय से भृगुराम ने[१] ॥

११—जिस ओर सेना थी गजों की पर्वतों के सम अड़ी,
उस ओर ही रथ ले गये हरि शीघ्रता करके बड़ी।
तब पार्थ-बाणों से मतङ्गज यों पतन पाने लगे—
घन रवि-करों से विद्ध मानों भूमि पर आने लगे ॥

१२—जाज्वल्यज्वालामय अनल की फैलती जो कान्ति है,
कर याद अर्जुन की छटा होती उसी की भ्रान्ति है।
इस युद्ध में जैसा पराक्रम पार्थ का देखा गया,
इतिहास के आलोक में है सर्वथा ही वह नया ॥

१३—करता पयोदों को प्रभञ्जन शीघ्र अस्तव्यस्त ज्यों,
करने लगे तब ध्वस्त अर्जुन शत्रु-सैन्य समस्त त्यों।
वे रिपु-शिरों को काट कर रण-भूमि यों भरने लगे—
रण चण्डिका-पूजन सरोजों से यथा करने लगे ॥

१—भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य्य के विवाह के लिए काशिराज की तीन कन्याओं का बलपूर्वक हरण किया था। इनमें से अम्बा नाम की कन्या पहले ही शाल्वराज को वरने का प्रण कर चुकी थी। इससे इन्होंने इसे छोड़ दिया। परन्तु फिर शाल्वराज ने इसके साथ विवाह करना स्वीकार न किया। तब यह भीष्म से बदला लेने की इच्छा से परशुराम की शरण में गई। इसी के सम्बन्ध में गुरु और शिष्य अर्थात् परशुराम और भीष्म में भयङ्कर युद्ध हुआ था।

१४—ज्यों ज्यों शरों से शत्रुओं को थे धनञ्जय मारते,
श्रीकृष्ण थे रथ को बढ़ाते कुशलता विस्तारते।
उस काल रथ के हय तथा गाण्डीव के शर जगमगे,
करते हुए स्पर्धा परस्पर साथ ही चलने लगे॥

१५—शर-रूप रसना[1] को पसारे रिपु रुधिर पीती हुई!
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई।
अर्जुन कराग्रोत्साहिता[2] प्रत्यक्ष कृत्या[3]-मूर्ति सी,
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी[4] प्रलयकाण्ड-स्फूर्ति सी॥

१६—खरबाण-धारा-रूप जिसकी प्रज्वलित ज्वाला हुई,
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई।
श्रीकृष्ण-रूपी वायु से प्रेरित धनञ्जय[5] ने वहाँ,
कौरव-चमू[6]-वन कर दिया तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ॥

१७—टूटे हुए रथ थे कहीं थे मृत गजाश्व[7] अड़े कहीं,
थे रुण्ड-मुण्ड-करादि रण में छिन्न भिन्न पड़े कहीं।
इस भाँति अस्तव्यस्त फैले दीखते थे वे सभी—
मानों हुई नभ से रुधिरमय वृष्टि यह अद्भुत अभी॥

१८—गति रोकने को पार्थ की जो वीर रण करते गये,
क्षणमात्र में उनके शरों से वे सभी मरते गये।

१ जीभ। २ अर्जुन के हाथ के अग्रभाग से उत्साहित की हुई। ३ संहारकारिणी शक्ति। ४ अर्जुन के धनुष की डोरी। ५ अर्जुन, पक्ष में अग्नि। ६ फौज। ७ हाथी, घोड़े॥

जानें उन्होंने शत्रुगण कितने वहाँ मारे नहीं,
जाते किसी से हैं गिने आकाश के तारे नहीं ॥

१६—इस भाँति अपने वैरियों को युद्ध में संहारते,
बढ़ने लगे आगे धनञ्जय वीरता विस्तारते।
पर देख दिन को गमन करते वे बहुत क्षोभित हुए,
अतएव दिनकर-तुल्य ही चलते हुए शोभित हुए ॥

२०—मारी श्रुतायुध ने गदा श्रीकृष्ण को उस काल में,
पर वह उचट कर जा लगी उलटी उसी के भाल[1] में!
सिर फट गया उसका वहीं, मानों अरुण रँग का घड़ा;
हाँ, विधि-विरुद्धाचार से किसको नहीं मरना पड़ा?

२१—अत्यन्त दुर्गम भूमि में अविराम चलने से थके,
होकर तृषित रथ-अश्व उनके जब न सत्वर चल सके।
वरुणास्त्र-द्वारा पार्थ ने क्षिति से निकाला जल वहीं,
भगवान की जिस पर कृपा हो कुछ कठिन उसको नहीं ॥

२२—रचते हुए सर सा वहाँ निज त्राण भी करते हुए,
त्यों युद्ध कर निज शत्रुओं के प्राण भी हरते हुए।
उत्पत्ति-पालन-प्रलय के से कृत्य अर्जुन ने किये,
विधि-विष्णु हर के से अकेले दिव्यबल दिखला दिये।

१ श्रुतायुध की वह गदा जो उन्होंने श्रीकृष्ण को मारी थी, अमोघ थी। पर साथ ही यह वर भी था कि यदि युद्ध न करनेवाले पुरुष पर छोड़ी जायगी तो पलट कर मारनेवाले को ही मार डालेगी। श्रीकृष्ण युद्ध नहीं करते थे, पर क्रोध में आकर श्रुतायुध ने उन पर उसका प्रहार कर दिया। अतएव, फल उलटा हुआ—स्वयं श्रुतायुध ही मारे गये।

२३—हय-गज-रथादिक थे जहाँ पाषाणखण्ड बड़े बड़े,
सिर-कच-चरण-कर आदि ही जल-जीव जिसमें थे पड़े।
ऐसे रुधिर-नद में वहाँ रथ-रूप नौका पर चढ़े,
श्रीकृष्ण नाविकयुक्त अर्जुन पार पाने को बढ़े॥

२४—यों देख बढ़ते पार्थ को कुरुराज अति विह्वल हुआ,
चेष्टा बहुत की रोकने की पर न कुछ भी फल हुआ।
तब वह निरा निस्तेज होकर घोर चिन्ता से घिरा;
जाकर निकट यों द्रोण के कहने लगा कर्कश गिरा—

२५—"आचार्य्य! देखो, आप के रहते हुए भी आज यों,
दल नष्ट करता पार्थ है मृग-झुण्ड को मृगराज ज्यों।
है शूर मेरे पक्ष के यों कह रहे मुझ से सभी—
'जो चाहते आचार्य्य तो अर्जुन न बढ़ सकते कभी'॥

२६—"निज शक्ति भर मैं आप की सेवा सदा करता रहा,
त्रुटि हो न कोई भी कभी, इस बात से डरता रहा।
सम्मान्य! मैंने आप का अपराध ऐसा क्या किया—
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया?

२७—"पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं,
वे हैं प्रतिज्ञा-घातकारी निन्दनीय सभी कहीं।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आती नहीं तो यह कभी वेला विकट सन्ताप की॥

२८—"निज सेवकों के अर्थ मन में सोच कर धर्म्मार्थ को,
घुसने न देते व्यूह में जो आप मध्यम-पार्थ को।
होती सहज ही में सफल तो आज मेरी कामना,
है कौन ऐसा, आप का रण में करे जो सामना?

२९—"जो हो चुका सो हो चुका, अब सोच करना व्यर्थ है,
गत-काल के लौटालने को कौन शूर समर्थ है?
है किन्तु अब भी समय यदि कुछ आप को स्वीकार हो,
भय-पूर्ण-पारावार भी पुरुषार्थ हो तो पार हो॥

३०—"पूर्वानुकम्पा का मुझे परिचय पुनः देते हुए,
अन्तःकरण से कौरवों की तरणि को खेते हुए।
अब भी जयद्रथ को बचा कर अनुचरों का दुख हरो,
गुरुदेव! जाता है समय, रक्षा करो, रक्षा करो॥"

३१—इस भाँति निज निन्दा श्रवण कर प्रार्थना के व्याज[1] से,
हो क्षुब्ध द्रोणाचार्य्य तब कहने लगे कुरुराज से—
"है यह तुम्हारे योग्य ही जैसी गिरा तुमने कही,
तुम जो कहो, या जो करो, है सर्वदा थोड़ा वही॥

३२—"जो लोग अनुचित काम कर जय चाहते परिणाम में,
हैं योग्य उनकी ही तुम्हारी यह दशा संग्राम में।
विष बीज बोने से कभी जग में सुफल फलता नहीं,
विधिलेख की विधि पर किसी का वश कभी चलता नहीं॥

१ मिस।

३३—"यह रण उपस्थित कर स्वयं अब दोष देते हो मुझे !
कह जानते हैं बस कुटिल-जन वचन ही विष के बुझे ।
दुष्कर्म्म तो दुर्बुद्धि-जन हठ-युक्त करते आप हैं,
पर दोष देते और को होते प्रकट जब पाप हैं ॥

३४—"सब काल निस्सन्देह मेरी पाण्डवों पर प्रीति है,
पर इस विषय में व्यर्थ ही होती तुम्हें यह भीति है ।
मैं पाण्डवों को प्यार कर लड़ता तुम्हारी ओर से,
विचलित मुझे क्या जानते हो आत्म-धर्म्म कठोर से ?

३५—"प्रेमादि जितने भाव हैं, वे देह के न विकार हैं,
सब मानवों के चित्त ही उनके पवित्रागार हैं ।
अतएव यद्यपि चित्त में हैं पाण्डवों ने घर किये;
पर देह के व्यापार सारे हैं तुम्हारे ही लिए ॥

३६—"गुण पर न रीझे वह मनुज है, तो भला पशु कौन है ?
निज शत्रु के गुणगान में भी योग्य किसको मौन है ?
तुमने सजा यों पाण्डवों से शत्रुता का साज है,
पर क्या न उनके शील पर आती तुम्हें कुछ लाज है ?

३७—"मैंने तुम्हारे हित स्वयं ही क्या उठा रक्खा कहो ?
अभिमन्यु के वध के सदृश मुझसे हुआ है अघ अहो !
जब तक न प्रायश्चित्त उसका मृत्यु से हो जायगा,
तब तक कभी क्या चित्त मेरा शान्ति कुछ भी पायगा !

३८—"तुम पुत्र-सम प्यारे मुझे हो, फिर तुम्हीं सोचो भला;
क्या मैं तुम्हारे हित समर की शेष रक्खूँगा कला ?
है बात यह, मुझसे विमुख हो पार्थ अपना रथ हटा,
दक्षिण तरफ़ से व्यूह में पहुँचा जहाँ थी गज घटा ॥

३६—"रुकता वहाँ किससे कहो, वह अद्वितीय महारथी ?
तिस पर उसे है मिल गया श्रीकृष्ण जैसा सारथी !
पर त्याग कर तुम व्यग्रता धीरज तनिक धारण करो,
कर्णादिकों के साथ उसका यत्न से वारण करो ॥

४०—"मेरा यहीं रहना उचित है व्यूह-रक्षा के लिए,
तिस पर युधिष्ठिर पर विजय की मैं प्रतिज्ञा हूँ किये।
तुम कौन कम हो पार्थ से, उत्साह को छोड़ो नहीं;
होता जहाँ उत्साह है होती सफलता है वहीं ॥

४१—"यद्यपि नहीं होते सभी के एक से पुरुषार्थ हैं,
तुम भी उसी कुल में हुए जिसमें हुए ये पार्थ हैं।
यह खेल पाँसों का नहीं है, प्राण का पण[1] आज है;
जो आज जीतेगा उसी का जीतना कुरुराज ! है ॥

४२—"जिसको पहन कर इन्द्र ने वृत्रासुरायुध सह लिये,
जिसके लिए मैंने बहुत से व्रत तथा तप हैं किये।
है वज्र की भी चोट जिससे सहज जा सकती सही,
आओ, तुम्हें मैं दिव्य अपना कवच पहना दूँ वही ॥

१ पण = शर्त।

४३—आचार्य्य ने तब वह कवच कुरुराज को पहना दिया,
उस काल सचमुच शक्र सा ही तेज उसने पा लिया।
कर वन्दना गुरु की मुदित वह पार्थ से लड़ने चला,
विख्यात विन्ध्याचल यथा आकाश से अड़ने चला॥

४४—चिन्तित युधिष्ठिर भी हुए इस ओर अर्जुन के लिये,
निज भाव सात्यकि पर उन्होंने शीघ्र यों प्रकटित किये—
"हे वीर! अर्जुन का न अब तक वृत्त कुछ विश्रुत हुआ,
जगदीश जानें, क्यों हमारा चित्त चिन्ता-युत हुआ॥

४५—"हा! वह कपिध्वज की ध्वजा भी दृष्टि में आती नहीं,
उनकी रथ-ध्वनि भी यहाँ अब है सुनी जाती नहीं।
जब से हुए हैं ओट वे अब तक न दीख पड़े मुझे,
हे दैव! बतला तो सही, स्वीकार है अब क्या तुझे?

४६—"हैं व्यग्र सुनने को श्रवण पर श्रव्य सुन पाते नहीं,
दृग दीन हैं पर दृश्य फिर भी दृष्टि में आते नहीं।
है चाहती खिलना तदपि मन की कली खिलती नहीं,
मैं शान्ति पाना चाहता हूँ पर मुझे मिलती नहीं॥

४७—"होंगे न जानें किस दशा में हरि तथा अर्जुन कहाँ,
हा! आज पल पल में विकलता बढ़ रही मेरी यहाँ।
कुछ बात ऐसी है कि, जिस से चित्त चंचल हो रहा,
विश्वास है, पर त्रास मेरे धैर्य्य को है खो रहा॥

४८—"हे सात्यके ! अब शीघ्र मुझको शान्ति देने के लिए,
जाओ मुकुन्दार्जुन-निकट संवाद लेने के लिए।
बस अब विलम्ब करो न तुम, करता विनय मैं क्लेश से,
अनुचित लगे यदि विनय तो जाओ अभी आदेश से ॥

४९—"इस कार्य्य-साधन के लिए मैंने तुम्हीं को है चुना,
हो अनुभवी तुम वीर, तुमने बहुत कुछ देखा सुना।
सप्रेम अर्जुन ने तुम्हें दी युद्ध की शिक्षा सभी,
अतएव अनुगामी बनो तुम आप निजगुरु के अभी ॥

५० —"चिन्ता करो मेरी न तुम, रक्षक त्रिलोकीनाथ हैं,
सहदेव धृष्टद्युम्न आदिक शूर अगणित साथ हैं।
अवसर नहीं है देर का, अब शीघ्र तुम तैयार हो;
आशीष देता हूँ—तुम्हारा पथ सहज में पार हो ॥"

५१—यों सुन युधिष्ठिर के वचन सप्रेम सात्यकि ने कहा—
"हे मान्य मुझको आर्य्य का आदेश जो कुछ हो रहा।
पर कृष्ण सहचर के लिए कुछ सोच करना है वृथा,
हरि के कृपाभाजन-जनों के कुशल की है क्या कथा!

५२—"त्रैलोक्य में ऐसा बली आता नहीं है दृष्टि में,
जीवित खड़ा जो रह सके गाण्डीव की शर-वृष्टि में।
कैसे टलेगा पार्थ का प्रण जो न अब तक है टला!
हो ही न सकती बात जो वह किस तरह होगी भला?

५३—"आदेश पाकर आपका जाता अभी मैं हूँ वहाँ,
पर आप द्रोणाचार्य्य से अति सजग रहिएगा यहाँ।
हो क्षुब्ध, मर्य्यादारहित-जलनिधि-सदृश वे हो रहे,
उनके सुबल-कल्लोल में सब आज फिरते हैं बहे॥"

५४—कह कर वचन यों वृष्णिनन्दन सात्यकी प्रस्तुत हुआ,
इस कार्य्य में उसका पराक्रम पार्थ-सा ही श्रुत हुआ।
वह शत्रुओं को मारता सम्मुख पहुँच आचार्य्य के,
लड़ने लगा कौशल प्रकटकर विविध विध रण-कार्य्य के॥

५५—पड़ मार्ग में ज्यों रोक लेता शैल जल की धार को,
त्यों देख रुकना द्रोण से अपनी प्रगति के द्वार को।
झट सात्यकी भी पार्थ की ही रीति से हँस कर चला,
जो कार्य्य गुरु ने है किया वह शिष्य क्यों न करे भला॥

५६—हो कर प्रविष्ट व्यूह में तब पार्थ की ही नीति से,
सात्यकि गमन करने लगा कर युद्ध अद्भुत रीति से।
दावाग्नि से मचती विपिन में ज्यों भयङ्कर खलबली,
करने लगा निज वैरियों को व्यस्त त्यों ही वह बली॥

५७—सात्यकि गया, पर, स्वस्थ तो भी धर्मराज हुए नहीं,
भेजा उन्होंने भीम को भी अनुज की सुधि को वहीं।
रखते न अपनी आप उतनी चित्त में चिन्ता कभी,
निज प्रिय जनों का ध्यान जितना श्रेष्ठ जन रखते सभी॥

५८—अर्जुन तथा सात्यकि-गमन से द्रोण थे क्षोभित बड़े,
अतएव पहुँचे भीम जब बोले वचन वे यों कड़े—
"अर्जुन-सदृश क्या भीम! तू भी व्यूह में घुसने चला?
क्या छल तुझे भी प्रिय हुआ जब से शकुनि ने है छला!"

५९—सुन कर वचन आचार्य्य के हँस भीम ने उत्तर दिया—
"गुरु से धनञ्जय ने न लड़ कर तात! क्या छल है किया?
छल-छद्म करने में सदा हम सब निरे अनभिज्ञ हैं,
इस काम में तो बस हमारे बन्धु ही वर-विज्ञ हैं!

६०—"हाँ, कार्य्य अर्जुन का यही समुचित न जा सकता गिना,
रिपु मारने जो वे गये गुरु-दक्षिणा सौंपे बिना।
हे आर्य्य! वह ऋण ब्याज-युत अब मैं चुकाता आपको,
तैयार होकर लीजिए, तजिए हृदय के ताप को॥"

६१—कह कर वचन यों भीम उन पर बाण बरसाने लगे,
अद्भुत, अपूर्व, असीम अपनी शक्ति दरसाने लगे।
पर काट कर सब बाण उनके, तोड़ कर रथ भी अहा!
"गुरु-ऋण अभी न चुका वृकोदर!" द्रोण ने हँसकर कहा॥

६२—घायल हुआ मृगराज ज्यों हतबुद्धि होता क्रोध से,
क्रोधित हुए त्यों भीम भी आचार्य्य के इस बोध से।
करते हुए त्यों ओष्ठ-दंशन अरुण हो अपमान से,
शोभित हुए वे दौड़ते निज बन्धु-वर हनुमान-से।

६३—ज्यों द्रोणगिरि वज्राङ्ग ने था हाथ पर धारण किया,
　　त्यों द्रोण-रथ को झट उन्होंने एक साथ उठा लिया।
कन्दुक-सदृश फिर दूर नभ में शीघ्र फेंक दिया उसे,
　　कर सिंहनाद सवेग तब वे व्यूह के भीतर घुसे॥

६४—होने लगी अति घोर-ध्वनि सब ओर हाहाकार की,
　　आशा रही न किसी किसी को द्रोण के उद्धार की।
पर बीच ही में कूद रथ से वृद्ध-गुरु आगे बढ़े,
　　फिर युद्ध करने के लिए वे दूसरे रथ पर चढ़े॥

६५—रथ-युक्त फिर भी भीम ने फेंका उन्हें अति रोष से,
　　पूरित किया फिर व्योम को घन-तुल्य अपने घोष से।
कर युद्ध बारंबार यों ही द्रोण को 'गुरु-ऋण' चुका,
　　वह वीर पहुँचा व्यूह में, न कराल शस्त्रों से रुका॥

६६—जब वायु-विक्रम भीम पर बस द्रोण का न वहाँ चला,
　　हो क्रुद्ध उन कुल-दीप ने तब पाण्डवों का दल मला।
फिर धर्मभीरु अजातरिपु को युद्ध से विचलित किया,
　　इस भाँति निज अपमान का अभिमान-युत बदला लिया॥

६७—दैत्यारि ने ज्यों भूमि-हित था सिन्धु को विदलित किया,
　　उस ओर त्योंही भीम ने भी व्यूह को विचलित किया।
होने लगे रिपु नष्ट यों उनके प्रबल-भुजदण्ड से—
　　होते तृणादिक खण्ड ज्यों वातूल-जाल-प्रचण्ड से॥

६८—मिल दुष्ट दुर्योधन-अनुज तब भीम से लड़ने लगे,
पर शीघ्र मर मर कर सभी वे भूमि पर पड़ने लगे।
अम्भोज-वन को मत्त-गज करता यथा मर्दित स्वतः,
मारा वृकोदर ने उन्हें झट झपट झूम इतस्ततः ॥

६९—होकर पराजित, भीत, कातर, शीघ्र उस बलधाम से,
सब सैन्य हाहाकार कर भगने लगी संग्राम से।
तब वीर कर्ण समक्ष सत्वर उग्र-साहस-युत हुआ,
उस काल दोनों में वहाँ पर युद्ध अति अद्भुत हुआ ॥

७०—बहु बाण सह कर कर्ण के मारी वृकोदर ने गदा,
सम्मुख चली इस भाँति वह प्रत्यक्ष मानों आपदा।
पर वज्रसम जब तक गिरे रथ पर गदा वह भीम की,
रथ छोडने में शीघ्रता राधेय ने निस्सीम की ॥

७१—वह तो किसी विध बच गया झट कूद रथ के द्वार से,
पर सूत, हय, रथ नष्ट होने से बचे न प्रहार से।
हो अति-कुपित वह वीर तब झट दूसरे रथ पर चढा,
मध्याह्न का मार्तण्ड मानों था महा-द्युति से मढा ॥

७२—शर मार तत्क्षण भीम को व्रणपूर्ण उसने कर दिया,
बलवन्त-वीर वसन्त ने किंशुक यथा विकसित किया।
करते हुए तब देह-रक्षा मृत गजों की ढाल से,
हटने पिछाड़ी ही लगे वे शीघ्र तिरछी चाल से ॥

७३—पर, अर्जुनाधिक पाण्डवों का वध न करने के लिए;
करुणार्द्र होकर कर्ण ने थे वचन कुन्ती को दिये[1]।
पाकर सुअवसर भी इसी से सोच कर उस बात को,
निर्जीव मात्र किया नहीं उसने वृकोदर-गात को ॥

७४—हँसता हुआ तब भीम का उपहास वह करने लगा,
"रे खल! खड़ा रह, क्यों समर से दूर फिरता है भगा?
तुझसे बनेगा क्या भला जो पेट ही भर जानता!
रे मूढ़! अपने को वृथा ही वीर है तू मानता ॥"

७५—प्रण था धनञ्जय ने किया राधेय के भी घात का,
उत्तर दिया कुछ भीम ने इससे न उसकी बात का।
अति रोप तो आया उन्हें तो भी उसे मारा नहीं,
सम्मान से भी धर्म्म-बन्धन हो किसे प्यारा नहीं?

---

१ कर्ण वास्तव में कुन्ती के पुत्र थे। भारतीय युद्ध होने के पहले कुन्ती ने एक दिन कर्ण से यह बात कही और प्रार्थना की कि वे दुर्योधन का पक्ष छोड कर युधिष्ठिर के पक्ष में हो जायँ। पर दृढ़-प्रतिज्ञ कर्ण ने ऐसे समय में दुर्योधन का साथ छोड़ देना धर्म्म-विरुद्ध समझा, तथापि त समझ कर उन्होंने कुन्ती को यह वचन दिया कि अर्जुन के सिवा और पाण्डव को वे युद्ध में न मारेंगे। इसी से अवसर पाकर भी उन्होंने भीमसेन को नहीं मारा।

षष्ठ सर्ग

१—उस ओर था भूरिश्रवा से वीर सात्यकि लड़ रहा,
झंझानिल-प्रेरित जलद ज्यों हो जलद से अड़ रहा।
बहु युद्ध करने से प्रथम ही था यदपि सात्यकि थका,
पर देख अर्जुन को निकट उत्साह से वह था छका॥

२—उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ,
है योग्य कहना बस यही—अद्भुत वही वैसा हुआ।
सब वीर लडना छोड़ क्षण भर देखने उसको लगे,
कह धन्य धन्य पुकार कर सब रह गये गुण पर ठगे॥

३—रथ-अश्व दोनों के शरों से साथ दोनों के मरे,
व्रण-पूर्ण दोनों हो गये तो भी न वे मन में डरे।
करने लगे फिर क्रुद्ध दोनों बाहुयुद्ध विशुद्ध यों—
युग गिरि सपक्ष समक्ष हो लड़ते विपक्ष-विरुद्ध ज्यों॥

४—लड़ते हुए सात्यकि हुआ जब श्रमित शोणित से सना,
तब खड्ग से भूरिश्रवा ने शीश चाहा काटना।
पर वार ज्योंही कर उठा कर वेग से उसने किया,
त्योंही धनञ्जय के विशिख ने काट उसका कर दिया॥

५—करवाल-युत जब केतुसम भूरिश्रवा का कर गिरा,
सब शत्रु तब कहने लगे इस कार्य्य को अनुचित निरा।
वृषसेन, कर्ण, कृपादि ने धिक्कार अर्जुन को दिया—
"धिक् धिक् धनञ्जय! पापमय दुष्कर्म यह तुमने किया॥"

६—बोले वचन तब पार्थ उनसे लीन हो कर रोष में—
"क्या निज जनों का त्राण करना सम्मिलित है दोष में ?
मेरा नियम यह है जहाँ तक बाण मेरा जायगा,
अपने जनों को आपदा से वह अवश्य बचायगा ॥

७—"नास्तिक मनुज भी विपद में करते विनय भगवान से,
देते दुहाई धर्म की त्यों आज तुम भी ज्ञान से ।
लज्जा नहीं आती तुम्हें उपदेश देते धर्म का ?
आती हँसी तुम पापियों से नाम सुन सत्कर्म का ॥

८—"देखे बिना निज कर्म पहले बोध देना व्यर्थ है,
होता नहीं सद्धर्म कुछ उपदेश के ही अर्थ है ।
तुम सात ने जब वध किया था एक बालक का यहाँ,
रे पामरो ! तब यह तुम्हारा धर्म सारा था कहाँ ?

९—"पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम निकालते !
देखो भयङ्कर भेड़िये भी आज आँसू डालते !!
आजन्म नीच अधर्म्मियों के जो रहे अधिराज हैं—
देते अहो ! सद्धर्म की वे भी दुहाई आज हैं !!!"

१०—सुन कर वचन यों पार्थ के चुप रह गये वैरी सभी,
दोषी किसी के सामने क्या सिर उठा सकते कभी ?
भूरिश्रवा का वध किया ले खड्ग सात्यकि ने वहीं,
'जिसकी सिरोही सिर उसी का' उक्ति यह कर दी सही ॥

११—उत्साह-संयुत उस समय ही भीम आ पहुँचे वहाँ,
मिलकर चले फिर शीघ्र सब था सिन्धुराज छिपा जहाँ।
पहुँचे तथा जब वे वहाँ निज मार्ग निष्कण्टक बना,
कृप, कर्ण, शल्य, द्रौणि से करना पडा तब सामना ॥

१२—खल शकुनि-दुःशासन-सहित जो जानता छल-कर्म को,
पहुँचा वहीं कुरुराज भी पहने अलौकिक वर्म को।
पीछे जयद्रथ को किये दृढ-व्यूह सा आगे बना,
करने लगे संग्राम वे कर के विजय की कामना॥

१३—लडते वरुण-यक्षेश-युत देवेन्द्र दैत्यों से यथा,
लडने लगे अर्जुन वहाँ पर भीम-सात्यकि-युत तथा।
दोनों तरफ़ से छूटते थे बाण विद्युत्खण्ड ज्यों,
अति घोर मारुत तुल्य रव थे कर रहे कोदण्ड त्यों॥

१४—रथ-अश्व भी मिल कर परस्पर सामने बढ़ने चले,
थे एक पर वे एक मानों चोट कर चढ़ने चले।
थे वीर यों शोभित सभी रँग कर रुधिर की धार से,
होते सुशोभित शैल ज्यों गैरिक छटा-विस्तार से॥

१५—इस ओर थे ये तीन ही, उस ओर वे छै सात थे,
तिस पर असंख्यक शूर उनके कर रहे आघात थे।
पर कर रहे वर वीर ये वीरत्व व्यक्त विशेष थे,
मानों प्रबल तीनों बली विधि, विष्णु और महेश थे॥

१६—तब कर्ण ने दस दस शरों से विद्ध कर हरि-पार्थ को,
दर्शित किया मानों वहाँ दुगुने प्रबल पुरुषार्थ को।
पर सूत, हय, रथ और उसका नष्ट करके चाप भी,
कर चौगुना विक्रम हुए शोभित धनञ्जय आप भी॥

१७—तत्काल ही फिर लक्ष्य करके कर्ण के वर वक्ष को,
छोड़ा कपिध्वज ने कुपित हो एक बाण समक्ष को।
पर बीच ही में द्रोण-सुत ने काट उसको बाण से,
जाते हुए लौटा लिये उस वीर वर के प्राण-से॥

१८—फिर एक साथ असंख्य शर सब शत्रुओं ने मार के,
नरसिंह अर्जुन को किया ज्यों पञ्जरस्थ प्रचार के।
पर भस्म होता है यथा इन्धन कराल कृशानु से,
ऐन्द्रास्त्र से कर नष्ट वे शर पार्थ प्रकटे भानु-से॥

१९—टङ्कार ही निर्घोष था, शर-वृष्टि ही जल-वृष्टि थी,
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्दृष्टि थी।
गाण्डीव रोहित[1]-रूप था, रथ ही सशक्त समीर था,
उस काल अर्जुन वीर-वर अद्भुत जलद गम्भीर था॥

२०—थे दिव्य-वर पाये हुए सब शत्रु भी पूरे बली,
अतएव वे भी स्थित रहे सह पार्थ शर-धारावली।
इस ओर यों ही हो रहा जब युद्ध यह उद्दण्ड था,
उस ओर अस्ताचल निकट तब जा चुका मार्तण्ड था॥

१ इन्द्रधनुष।

२१—फिर देखते ही देखते वह अस्त भी क्रम से हुआ,
कब तक रहेगा वह अटल जो क्षीण-बल श्रम से हुआ ?
प्रण पूर्ण पार्थ न कर सके, रवि प्रथम ही घर को गया,
सम्भावना ही थी न जिसकी हाय! यह क्या होगया!

२२—उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा,
होने लगी कुछ कुछ प्रकट सी यामिनी की कालिमा!
सब कोक-गण शोकित हुए विरहाग्नि से डरते हुए,
आने लगे निज निज गृहों को विहग रव करते हुए॥

२३—यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानों हत हुए,
मुँदते कमल के साथ वे भी विमुद, गौरव गत हुए।
लेकर उन्होंने श्वास ऊँचा वदन नीचा कर लिया,
सग्राम करना छोड़ कर गाण्डीव रथ में रख दिया॥

२४—'पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की' इससे सुखी,
पर चिह्न पा कर कुछ न उसके व्यग्र चिन्तायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ़ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद-सम शोभित हुए॥

२५—इस ओर आना ज्ञान निशि का थे मुदित निशिचर बड़े,
उस ओर प्रमुदित शत्रुओं के हाथ मूँछों पर पड़े।
दुर्योधनादिक कौरवों के हर्ष का क्या पार था—
मानों उन्होंने पा लिया त्रैलोक्य का अधिकार था॥

२६—बोला जयद्रथ से वचन कुरुराज तब सानन्द यों—
"हे वीर! रण में अब नहीं तुम घूमते स्वच्छन्द क्यों?
अब सूर्य्य के सम पार्थ को भी अस्त होने देख लो,
चल कर समस्त विपत्तियों को व्यस्त होने देख लो॥"

२७—कह कर वचन कुरुराज ने यों हाथ उसका धर लिया,
कर्णादि के आगे तथा उसको खड़ा फिर कर दिया।
उस काल निर्मल-मुकुर-सम उसका वदन दर्शित हुआ,
पा कर यथा अमरत्व वह निज हृदय में हर्षित हुआ॥

२८—खल शत्रु भी विश्वास जिनके सत्य का यों कर रहे,
निश्चिन्त, निर्भय, सामने ही मोद-नद में तर रहे।
है धन्य अर्जुन के चरित को, धन्य उनका धर्म्म है,
क्या और हो सकता अहो! इससे अधिक सत्कर्म्म है?

२९—वाचक! विलोको तो जरा, है दृश्य क्या मार्मिक अहो!
देखा कहीं अन्यत्र भी क्या शील यों धार्मिक कहो?
कुछ देख कर ही मत रहो, सोचो विचारो चित्त में,
बस तत्त्व है अमरत्व का वर-वृत्तरूपी वित्त में॥

३०—यह देख लो, निज धर्म्म का सन्मान ऐसा चाहिए;
सोचो हृदय में सत्यता का ध्यान जैसा चाहिए।
सहृदय जिसे सुन कर द्रवित हों चरित वैसा चाहिए,
अति-भव्य भावों का नमूना और कैसा चाहिए!

३१—क्या पाप की ही जीत होती, हारता है पुण्य ही ?
इस दृश्य को अवलोक कर तो जान पडता है यही।
धर्म्मार्थ दुःख सहे जिन्होंने, पार्थ मरणासन्न[1] हैं,
दुष्कर्म ही प्रिय है जिन्हे वे धार्तराष्ट्र प्रसन्न हैं !

३२—परिणाम सोच न भीम-सात्यकि रह सके क्षण भर खड़े,
'हा कृष्ण !' कह हरि के निकट बेहोश होकर गिर पड़े।
यों देख कर उनकी दशा दृग बन्द कर अरविन्द-से—
कहने लगे अर्जुन वचन इस भाँति फिर गोविन्द से ॥

३३—"रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं !
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल में दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी,
अच्युत ! युधिष्ठिर आदि का अब भार है तुम पर सभी ॥

३४—"सन्देश कह दीजो यही सब से विशेष विनय भरा—
खुद ही तुम्हारा जन धनञ्जय धर्म के हित है मरा।
तुम भी कभी निज प्राण रहते धर्म को मत छोड़ियो,
वैरी न जब तक नष्ट हों मत युद्ध से मुँह मोड़ियो ॥

३५—"थे पाण्डु के सुत चार ही यह सोच धीरज धारियो,
हाँ जो तुम्हारे प्रण-नियम उनको कभी न विसारियो।
हैं इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य मैंने हों किये,
तो जन्म पाऊँ दूसरा मैं वैर-शोधन के लिए ॥

१ मरने के समीप।

३६—"कुछ कामना मुझको नहीं है इस दशा में स्वर्ग की,
इच्छा नहीं रखता अभी मैं अल्प भी अपवर्ग की।
हा! हा! कहाँ पूरी हुई मेरी अभी आराधना?
अभिमन्यु विषयक वैर की है शेष अब भी साधना!

३७—"कहना किसी से और मुझको अब न कुछ सन्देश है,
पर शेष दो जन हैं अभी जिनका बड़ा ही क्लेश है।
कृष्णा सुभद्रा से कहूँ क्या? यह न होता ज्ञात है,
मैं सोचता हूँ किन्तु हा! मिलती न कोई बात है॥

३८—"जैसे बने समझा बुझा कर, धैर्य्य सबको दीजियो;
कह दीजियो, मेरे लिए मन शोक कोई कीजियो।
अपराध जो मुझ से हुये हों वे क्षमा करके सभी,
कृपया मुझे तुम याद करियो स्वजन जान कभी कभी॥

३९—"हा धर्म्मधीर अजातशत्रो! आर्य्य भीम! हरे! हरे!
हा! प्रिय नकुल! सहदेवभ्रातः! उत्तरे! हा उत्तरे!
हा देवि कृष्णे! हा सुभद्रे! अब अधम अर्जुन चला;
धिक है,-क्षमा करना मुझे-मुझसे हुआ रिपु का भला!

४०—"जैसा किया होगा प्रथम वैसा हुआ परिणाम है,
माधव! विदा दो बस मुझे, अब बार बार प्रणाम है।
इस भाँति मरने के लिए यद्यपि नहीं तय्यार हूँ,
पर धर्म-बन्धन-बद्ध हूँ, मैं क्या करूँ? लाचार हूँ॥"

४१—इस भाँति अर्जुन के वचन श्रीकृष्ण थे जब सुन रहे,
हँस कर जयद्रथ ने तभी ये विष-वचन उनसे कहे—
"गोविन्द ! अब क्या देर है? प्रण का समय जाता टला !
शुभ कार्य्य जितना शीघ्र हो है नित्य उतना ही भला ॥"

४२—सुन कर जयद्रथ का कथन हरि को हँसी कुछ आ गई,
गम्भीर-श्यामल-मेघ में विद्युच्छटा सी छा गई।
कहते हुए यों— वह न उनका भूल सकता वेश है—
"हे पार्थ ! प्रण-पालन करो, देखो, अभी दिन शेष है ॥"

४३—हो पूर्ण जब तक पार्थ-प्रति प्रभु का कथन ऊपर कहा,
तब तक महाअद्भुत हुआ यह एक कौतुक सा अहा !
मार्तण्ड अस्ताचल-निकट घन-मुक्त सा देखा गया !
है जान सकता कौन हरि का कृत्य नित्य नया नया !

४४—था पार्थ के हित के लिए यह खेल नटवर ने किया,
दिन शेष रहते सूर्य्य को था अस्त सा दिखला दिया।
अनुकूल अवसर पर उसे फिर कर दिया यों व्यक्त है,
वह भक्तवत्सल भक्त पर रहता न कब अनुरक्त है !

४५—तत्काल अर्जुन की अचानक नींद मानों हट गई,
सब हो गई उनकी विदित माया-महा-विस्मयमयी।
अवलोक तब हरि को उन्होंने एक बार विनोद से,
निषङ्गस्थ शीघ्र उठा लिया गाण्डीव अति आमोद से ॥

४६—इस स्वप्न के से दृश्य से सब शत्रु विस्मित रह गये,
कर्तव्यमूढ-समान वे नैराश्य-नद में बह गये।
उस काल उनका तेज मानों पार्थ को ही मिल गया,
तब तो सदा से सौगुना मुख शीघ्र उनका खिल गया॥

४७—हो भीम-सात्यकि भी सजग आनन्द-रव करने लगे,
निज यत्न निष्फल देख कर वैरी सभी डरने लगे।
तब सम्मुखस्थित जाल-गत जो था हरिण सा हो रहा,
उस खल जयद्रथ से कुपित हो यों धनञ्जय ने कहा—

४८—"रे नीच! अब तैयार हो तू शीघ्र मरने के लिए,
मेरा यही अवसर समझ प्रण पूर्ण करने के लिए।
है व्यर्थ चेष्टा भागने की, मृत्यु का तू ग्रास है;
भज 'रामनाम' नृशंस! अब तो, काल पहुँचा पास है॥"

४६—गति देख अन्य न एक भी निज कर्म के दुर्दोष से,
करने लगा तत्क्षण जयद्रथ शस्त्र वर्षा रोष से।
आशा नहीं रहती जगत में प्राण रहने की जिसे,
उसका भयङ्कर-वेग सहसा सह्य हो सकता किसे?

५०—पर पार्थ ने सह-ली व्यथा सब शत्रु के आघात की,
आनन्द के उत्थान में रहती नहीं सुध गात की।
गाण्डीव से तत्काल वे भी बाण बरसाने लगे,
जो उग्र उल्का-खण्ड से चण्डच्छटा छाने लगे॥

५१—कर्णादि ने की व्यक्त फिर भी युद्ध कौशल की कला,
पर हो गई चेष्टा विफल सब, बस न कुछ उनका चला।
विचलित-दलित करता द्रुमों को प्रबल-झंझानिल यथा,
सब शत्रुओं को पार्थ ने पल में किया विह्वल तथा॥

५२—फिर पुष्पमाला-युक्त-मन्त्रित दिव्यद्युति के ओघ[1]-सा,
रक्खा धनञ्जय ने धनुष पर बाण एक अमोघ-सा।
क्षण भर उसे सन्धानने में वे यथा शोभित हुए—
हों भाल-नेत्र-ज्वाल हर ज्यों छोड़ते क्षोभित हुए॥

५३—वह शर इधर गाण्डीव-गुण[2] से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।
रक्ताक्त वह सिर व्योम में उड़ता हुआ कुछ दूर सा,
दीखा अरुणतम उस समय के अस्त होते सूर-सा॥

५४—अर्जुन-विशिख तो लौट आया पर न रिपु का सिर फिरा,
अपने पिता की गोद में ही वह अचानक जा गिरा।
रण से अलग उसका पिता तप कर रहा था रत हुआ,
भगवान की इच्छा, तनय के साथ वह भी हत हुआ[3]।

१ समूह। २ गुण = प्रत्यञ्चा। ३ जयद्रथ के पिता वृद्धक्षत्र ने घोर तपस्या करके यह वर प्राप्त किया था कि जिसके द्वारा मेरे पुत्र का सिर पृथ्वी पर गिरे उसका सिर भी उसी समय सौ टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। इस समय अर्जुन का छोड़ा हुआ पाशुपत अस्त्र जयद्रथ के सिर को

५५—श्रीकृष्ण, अर्जुन, भीम, सात्यकि शङ्ख रव करने लगे,
हर्षित हुए सबके वदन, मन मोद से भरने लगे।
प्रत्यक्ष कौरव-पक्ष की तब नासिका सी कट गई,
मानों विकल कुरुराज की शोकार्त छाती फट गई ॥



लेकर पड़ा उस समय वृद्धक्षत्र समन्त पञ्चक तीर्थ में सायं-सन्ध्या कर रहे थे। पाशुपत के प्रभाव से जयद्रथ का सिर वहीं उनकी गोदी में गिरा। वे घबरा कर सहसा उठ खड़े हुए। उनके उठते ही वह सिर उनकी गोदी से पृथ्वी पर गिर पड़ा। साथ ही उनका सिर भी सौ टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा!

सप्तम सर्ग

१—इस विध जयद्रथ-वध हुआ, पूरा हुआ प्रण पार्थ का;
अब धर्मराजार्जुन-मिलन है मिलन ज्यों धर्म्मार्थ का।
वर्णन अतः उसका यहाँ पर है उचित ही सर्वथा,
सर्वत्र ही कथनीय है सुख-सम्मिलन की शुभ-कथा॥

२—सूर्यास्त होना जान कर फिर जब लड़ाई रुक गई,
निष्प्रभ पराजित कौरवों की रण-पताका झुक गई।
तब नृप युधिष्ठिर के निकट आनन्द से जाते हुए,
बोले वचन हरि पार्थ से रणभूमि दिखलाते हुए॥

३—"हे वीर! देखो, आज तुम संग्राम में कैसे लडे,
मर कर तुम्हारे हाथ से ये शत्रु कितने हैं पड़े!
ज्यों कञ्ज-वन की दुर्दशा कर डालता गजराज है,
शोभित तुम्हारे शौर्य्य से त्यों यह रणस्थल आज है॥

४—"जो तुच्छ अपने सामने थे इन्द्र को भी मानते—
जो कुछ कहो बस है हमीं जो थे सदा यह जानते।
वे शत्रु, देखो, आज भू पर सर्वदा को सो रहे;
हैं मर चुके लाखों तथा घायल हज़ारों हो रहे॥

५—"झुकते किसी को थे न जो नृप-मुकुट रत्नों से जडे,
वे अब शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े।
पेशी[1] समझ माणिक्य को वह विहग देखो ले चला,
पड़ भोग की ही भ्रान्ति में संसार जाता है छला॥

१ बोटी।

६—"हो मुग्ध गृद्ध किसी किसी के लोचनों को खींचते,
यह देख कर घायल मनुज अपने दृगों को मींचते।
मानों न अब भी वैरियों का मोह पृथ्वी से हटा,
लिपटे हुए उससे पड़े, दिखला रहे अन्तिम छटा!

७—"यद्यपि हमारे रथ-हयों को श्रम हुआ सविशेष है,
पर भूल सा उनको गया इस समय सारा क्लेश है।
पश्वादि[1] भी निज स्वामियों के भाव को पहचानते,
सब निज जनों के दुःख में दुख, सौख्य में सुख मानते॥

८—"इस ओर देखो, रक्त की यह कीच कैसी मच रही!
है पट रही खण्डित हुए बहु रुण्ड-मुण्डों से मही।
कर-पद असंख्य कटे पड़े शस्त्रादि फैले हैं तथा,
रङ्गस्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा!

९—"दुर्योधनानुज हैं पड़े ये भीम के मारे हुए,
काम्बोज-नृप वे सात्यकी के हाथ से हारे हुए।
मृत अच्युतायु-श्रुतायु हैं ये, वह अलम्बु है मरा;
यह सोमदत्तात्मज पड़ा है, रक्त-रञ्जित है धरा॥

१०—"यद्यपि निहत होकर पड़े ये वीर अब निःशक्त हैं,
पर कौरवों का तेज अब भी कर रहे ये व्यक्त हैं।
बल विभव में कुरुराज सच मुच दूसरा सुरराज है,
पाई विजय प्रारब्ध से ही पार्थ! तुमने आज है॥"

१ पशु आदिक।

११—श्रीकृष्ण के प्रति वचन तब बोले धनञ्जय भक्ति से,
"क्या कार्य्य कर सकता हरे! मैं आप अपनी शक्ति से?
है सब तुम्हारी ही कृपा, हूँ नाम का ही वीर मैं;
भूला नहीं अब तक तुम्हारा वह विराट-शरीर मैं॥

१२—"है काल-चक्र सदा तुम्हारा चल रहा संसार में,
सर्वत्र तेजःपुञ्ज सा है जल रहा संसार में।
पर देखने में चर्म्म के ये चक्षु अति असमर्थ हैं,
तब तो मनुज कर्तृत्व का अभिमान करते व्यर्थ हैं॥

१३—"किस की महत्ता थी कि जिसने आज प्रण की पूर्ति की?
हिल जाय पत्ता तो कहीं सत्ता विना इस मूर्ति की!
चलता 'सुदर्शन' यदि न तो दिन ढल गया होता तभी,
अर्जुन चितानल में कभी का जल गया होता अभी!

१४—"होते तुम्हारे कार्य्य सारे गूढ भेदों से भरे,
हृदयस्थ तुम जो कुछ कराते मैं वही करता हरे!
अनुचित-उचित के ज्ञान को कुछ भी नहीं मैं जानता,
जो प्रेरणा करता विमल मन में उसी को मानता॥

१५—"हाँ, एक बात अवश्य है"—रुक कर धनञ्जय ने कहा,
"यद्यपि तुम्हारा ही किया है जो जगत में हो रहा।
करते नहीं हो किन्तु उसके तुम स्वयं कारण कहीं,
क्या ही चतुर हो, दोष-गुण करते स्वयं धारण नहीं!"

१६—हँसते हुए फिर पार्थ बोले अन्य विध वचनावली—
"गोविन्द ! हो तो तुम बड़े ही क्रूर, मायावी छली।
रवि को छिपाने के प्रथम मुझको सचेत किया नहीं,
आजाय मरने की दशा, ऐसी हँसी होती कहीं ?"

१७—हँसने लगे तब हरि अहा ! पूर्णेन्दु सा मुख खिल गया,
हँसना उसी में भीम, अर्जुन, सात्यकी का मिल गया।
थे मोद और विनोद के सब सरस झोंके झेलते,
भगवान भक्तों से न जाने खेल क्या क्या खेलते !

१८—उन्मत्त विजयोल्लास से सब लोग मत्त-गयन्द-से,
राजा युधिष्ठिर के निकट पहुँचे बड़े आनन्द से।
देखा युधिष्ठिर ने उन्हें जब जान ली निज जय तभी,
मुख-चिह्न से ही चित्त की बुध जान लेते हैं सभी॥

१९—तब अर्जुनादिक ने उन्हें बढ़ कर प्रणाम किया वहाँ,
सिर पर उन्हों ने हाथ रख सुख दिया और लिया वहाँ।
सब लोग उनको घेर कर थे उस समय उत्सुक खड़े,
बोले युधिष्ठिर से खभू[1] सुन्दर सुमन मानों झड़े॥

२०—"हे तात ! जीत हुई तुम्हारे पुण्य-पूर्ण प्रताप से,
रण में जयद्रथ-वध हुआ, छूटे धनञ्जय ताप से।
तुमने इन्हें सौंपा सवेरे था हमारे हाथ में,
सो लीजिए अपनी धरोहर सुख-सुयश के साथ में॥"

१ श्रीकृष्ण।

२१—सुन कर मधुर घन-शब्द को पाते प्रमोद मयूर ज्यों,
श्रीकृष्ण के सुन वचन सबको सुख हुआ भरपूर त्यों।
राजा युधिष्ठिर हर्ष से सहसा न कुछ भी कह सके,
थे भक्ति के गुरु-भार से मानों वचन उनके थके ॥

२२—"साक्षात् चराचरनाथ तुम रखते स्वयं जब हो दया,
आश्चर्य्य क्या फिर जो जयद्रथ युद्ध में मारा गया ?
तो भी इसे सुन कर हृदय में सुख समाता है नहीं,
साधन-सफलता-सुख-सदृश सुख दृष्टि आता है नहीं ॥

२३—"बहु विज्ञ तत्वज्ञानियों ने बात यह मुझसे कही—
माधव ! तुम्हें जो इष्ट होता सर्वदा होता वही।
अज्ञानता से मूर्ख जन मानव तुम्हें हैं मानते,
ज्ञानी, विवेकी, विज्ञवर विश्वेश तुमको जानते ॥

२४—"जो कुछ किया तुमने स्वयं हे देवदेव ! हुआ वही,
जो कुछ करोगे तुम स्वयं आगे वही होगा सही।
जो कुछ स्वयं तुम कर रहे हो हो रहा अब है तथा,
हैं हेतुमात्र सदैव हम, कर्ता तुम्हीं हो सर्वथा ॥

२५—"हो निर्विकार तथापि तुम हो भक्तवत्सल सर्वदा,
हो तुम निरीह तथापि अद्भुत सृष्टि रचते हो सदा।
आकार-हीन तथापि तुम साकार सन्तत सिद्ध हो;
सर्वेश होकर भी सदा तुम प्रेम-वश्य प्रसिद्ध हो ॥

२६—"करते तुम्हारा ही मनन मुनि, रत तुम्हीं में ऋषि सभी,
सन्तत तुम्हीं को देखते हैं ध्यान में योगीन्द्र भी।
विख्यात वेदों में विभो ! सब के तुम्हीं आराध्य हो,
कोई न तुमसे है बड़ा, तुम एक सबके साध्य हो॥

२७—"पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है;
पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है।
जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते,
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते॥

२८—"हे सच्चिदानन्द प्रभो ! तुम नित्य, सर्व सशक्त हो,
अनुपम, अगोचर, शुभ, परात्पर, ईश-वर, अव्यक्त हो।
तुम ध्येय, गेय, अजेय हो, निज भक्त पर अनुरक्त हो,
तुम भवविमोचन, पद्मलोचन, पुण्य, पद्मासक्त हो॥

२९—"तुम एक होकर भी अहो ! रखते अनेकों वेश हो,
आद्यन्त-हीन, अचिन्त्य, अद्भुत, आत्मभू, अखिलेश हो।
कर्त्ता तुम्हीं, भर्ता तुम्हीं, हर्ता तुम्हीं हो सृष्टि के;
चारों पदार्थ दयानिधे ! फल हैं तुम्हारी दृष्टि के॥

३०—"हे ईश ! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,
उपहार प्रत्युपकार में क्या दें तुम्हें इसके लिये ?
है क्या हमारा सृष्टि में ? यह सब तुम्हीं से है बनी,
सन्तत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी॥

३१—"जय दीनबन्धो, सौख्य-सिन्धो, देव-देव, दयानिधे,
जय जन्म-मृत्यु-विहीन शाश्वत, विश्व-वन्द्य, महाविधे !
जय पूर्ण, पुरुषोत्तम, जनार्दन, जगन्नाथ, जगद्गते,
जय जय विभो, अच्युत हरे, मङ्गलमते, मायापते !"

३२—कहते हुए यों नृप युधिष्ठिर मुग्ध होकर रुक गये,
तत्क्षण अचेत-समान फिर प्रभु के पदों में झुक गये।
बढ़ कर उन्हें हरि ने हृदय से हर्षयुक्त लगा लिया—
आनन्द ने सत्प्रेम का मानों शुभालिङ्गन किया ॥

३३—वह भक्त से भगवान का मिलना नितान्त पवित्र था,
प्रत्यक्ष ईश्वर-जीव का सङ्गम अतीव विचित्र था।
मानों सुकृत आकर स्वयं ही शील से थे मिल रहे,
युग श्याम-गोर सरोज मानों साथ ही थे खिल रहे ॥

३४—करने लगे सब लोग तब आनन्द से जय-नाद यों—
त्रैलोक्य को हाँ दे रहे निर्भय विजय-संवाद ज्यों।
अन्यत्र दुर्लभ है भुवन में बात यों उत्कर्ष की,
सच मुच कहीं समता नहीं है भव्य भारतवर्ष की ॥

३५—दुख दुःशलादिक का अभी कहना यदपि अवशिष्ट है;
पर पाठकों का जी दुखाना अब न हमको इष्ट है।
कर बार बार क्षमार्थना होते विदा अब हम यहीं,
सुख के समय दुख की कथा अच्छी नहीं लगती कहीं ॥

—०:—

साहित्य-मणि-माला

इस माला में हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रन्थ रत्न गुथे जायगे। स्थायी ग्राहकों को माला की पुस्तकों पर २०) सैकडा कमीशन दिया जायगा। प्रवेश फ़ी ॥) भज कर स्थायी ग्राहक बनिए और मातृभाषा की पूजा के इस शुभ आयोजन में हमारे सहायक हूजिए।

निम्नलिखित पुस्तकें माला में प्रकाशित हो चुकी है :--

पत्रावली—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त। महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कविता पुस्तक। मूल्य ।-)

वैतालिक—भारत की जागृति पर कोमलकान्त पदावली, लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त। मूल्य ।)

निम्नलिखित पुस्तकें भी शीघ्र प्रकाशित होंगी —

लीला—नया गीत नाट्य। नया ढंग। लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त। मूल्य लगभग ॥)

पलासी का युद्ध—नवीन बाबू के प्रसिद्ध और उच्च प्रशंसा प्राप्त "पलाशिर युद्ध" काव्य का सरस पद्यानुवाद। हिन्दी के लिए नई चीज़। मूल्य लगभग १।)

वीराङ्गना—माईकेल मधुसूदनदत्त के बँगला "वीराङ्गना" नामक काव्य का पद्यानुवाद। मूल्य लगभग ॥)

मञ्जरी—मनोहर और हृदयग्राही छोटी छोटी गल्पो का सङ्ग्रह। मूल्य लगभग ॥।)

इनके अतिरिक्त महाकवि भास की अनुपम नाटकावली का अनुवाद, बंगला महाकाव्य "मेघनाद-वध" का मार्जित भाषा में पद्यानुवाद, श्री मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत, स्वर्गीय सङ्गीत और उद्धार नाटक, बाबू वृन्दावन लाल वर्म्मा बी ए, एल एल बी. रचित राजनीति का इतिहास तथा दुर्योधन-दमन आदि ग्रन्थ रत्न भी इस माला में ग्रथित किये जायगे।

पता :- प्रबन्धक,

साहित्य-सदन, चिरगाँव, (झाँसी)